महेन्द्र प्रताप सिंह

भगवंतराय खीची और उनके मंडल के कवि

भगवंतराय खीची
और
उनके मंडल के कवि

डॉ० महेन्द्रप्रताप सिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०
देशबन्धु कालिज (दिल्ली विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली

दिल्ली
रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

दान गयो हुनी से गुमान पुरवासिन को
गुनिन की गाँठिन सों मानिक छूटिगो
जूझे भगवंत जू के धरम धरा सों गयो
सूर्य के सिंगारन ते नेन ऐनो फूटिगो

—भूधर

●

'मल्ल' कहैं आजु सब मंगन अनाथ भये
आजु ही अनाथन को करम सब फूटिगो
भूप भगवंत सुरलोक को पयान कियौ
आजु कवि गनन को कलातरु टूटिगो

—मल्ल

●

ह्वै गयो फकीर कमरुद्दीखान सो उजीर
गरे डारि डोरा अपकीरति की सैल्ही को
थाह लै लै थकिगो मलाह लौं दिली को कंत
पावत न अंत भगवंत की दलेली को

—अज्ञात

●

महाबली भगवंत कंठ कवि कहै याते
तोही पै रही है आज लाज हिन्दू पद की

—कंठ

हिन्दू के हृदय की हवस हटाय डारों,
देश ते मिटाय डारों बैरी भगवान को।
भनैं भगवन्त जो पै पाऊँ तोरि कृपाकोरि,
टोरि डारों गोरिन के बाढ़े अभिमान को।
फारि डारों मदमाती छाती गऊघातिन की,
फेरि फहराऊँ देश शाको हिन्दुस्रान को।
एती जो न करों तन न परान राखौं,
भाखौं नहीं मिथ्या साखौं मान चहुआन को।

●

सुत पितु मातु की सनेह ग्रन्थि कहियतु है,
आनि को बहोरि शिवशक्ति को मिलाय दे।
लाइ दे इकट्ठे तन गट्ठे मरहट्ठे और,
बुन्देलन के पट्ठे अरि दल दहलाइ दे।
भनै भगवन्त अन्त करूँ भेद अन्तर को,
चन्द्र चौहान एक ठौर ही बुलाय दे।
उड़ जाँय मुगुल न देखें फिर मुड़ के,
पवनपूत तोन तू बवण्डर चलाय दे।

●

श्री रामसिंह चौहान को श्री शिवशरन शर्मा से मिले दो छन्द

प्राक्कथन

सम्प्रति साहित्य-जगत में यह अनुभव किया जा रहा है कि प्राचीन सामग्री का विनाश उसको सुरक्षित रखने वाले युग के साथ बहुत शीघ्रता से हो रहा है। अतः विद्वत् जगत के समक्ष मूल्यांकन सहित उसको सामने लाने का उत्तरदायित्व शोध की अपेक्षा रखता है। ऐसे प्रयासों में इतिहास के लिए तथ्यों का संकलन तो अनिवार्य रूप से होता ही है, प्रायः इनके माध्यम से उनकी मूल चेतना-धारा को हृदयंगम करने के सुस्पष्ट संकेत अथवा प्रकट प्रमाण भी मिलते हैं, जो इतिहास को स्फीति और सजीवता प्रदान करते हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध इसी दिशा में किये गये एक लघु प्रयास का परिणाम है, जो भगवंतराय के राजनीतिक और साहित्यिक कृतित्व एवं उनके आश्रयकाल तथा व्यक्तित्व से प्रभावित रचनाओं को मूल्यांकन सहित प्रकाश में लाता है।

उत्तर मुगलकालीन भारत के इतिहास में भगवंतराय का विशिष्ट स्थान है। साधारण हैसियत के परिवार में पैदा होकर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत योग्यता के बल पर अन्तर्वेद के एक बड़े भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, जिसमें फतेहपुर, इलाहाबाद, कानपुर, रायबरेली प्रतापगढ़ और बुंदेलखंड के कुछ क्षेत्र सम्मिलित थे। इनकी वीरगति संवत् १७९२ विक्रमी में हुई। इनके व्यक्तिगत गुण एवं आदर्श लोकरंजक थे एवं इसी की साधना में इन्होंने अपनी सारी प्रतिभा और शक्ति लगा दी। फलस्वरूप जन-मानस पर उनका प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि उनकी स्मृति लोकचेतना में स्थायी छाप छोड़ गई। आज भी इन क्षेत्रों में ऐसे लोग मिल जायेंगे जो श्रद्धा-सिक्त वाणी से भगवंतराय की कीर्ति का स्मरण करते हैं। भगवंतराय न केवल कुशल राजनीतिज्ञ और वीर थे वरन् सिद्धहस्त कवि और मँजे हुए संगीतज्ञ भी थे। इन गुणों ने उनकी प्रतिष्ठा और पद को लोकनायक के पद पर समासीन किया। उनके समकालीन और परवर्ती अनेक कवियों की रचनाओं में उनका यह पक्ष उभर कर सामने आया है। एक ओर शुद्ध हृदय के राग से प्रेरित होने के कारण जहाँ ये रचनायें उत्कृष्ट काव्य बन सकी हैं वहीं लोकचेतना का संवहन करने के कारण अपना ऐतिहासिक महत्व भी प्रतिपादित करती हैं। प्रस्तुत प्रबंध की सामग्री का संकलन करते समय मेरे

मस्तिष्क में आलोच्य रचनाओं की यह विशेषता बार-बार कौंध जाती थी—पता नहीं अपने प्रतिपादन में इसका निरूपण करने में मुझे किस सीमा तक सफलता मिली है ?

यह भी एक सुखद संयोग है कि बचपन में पिताजी से जिस भगवंतराय की कहानियाँ सुनकर मैंने श्रद्धा और जिज्ञासा का अनुभव किया था, बाद में उसी भगवंतराय के राजनीतिक और साहित्यिक कृतित्व का लेखा-जोखा इस प्रबन्ध-रूप में प्रस्तुत करने का अवसर भी प्राप्त किया। इस विषय के लिए विरासत में मिली रागात्मक अनुकूलता का पोषण करने में फतेहपुर जिले के भूतपूर्व नियोजक अधिकारी कैप्टेन शूरवीरसिंह का सम्पर्क बहुत अधिक सहायक हुआ। कैप्टन साहब ने अपनी शक्ति भर फ़तेहपुर जिले के ऐतिहासिक स्रोतों का दोहन कर प्राप्त सामग्री को मेरे हाथ में रखने की परम उदारता प्रदर्शित की है। कभी उनके साथ और कभी अकेले ही मैं अन्तर्वेद, विशेषरूप से असोथर क्षेत्र के गाँव-गाँव में गया जहाँ एक-एक पंक्ति और छंद के लिए मैंने कितने ही अपरिचित द्वार खटखटाए; लिखित अलिखित, स्पष्ट और उलझी हुई, संबद्ध, असंबद्ध सामग्री जुटायी। इन सूत्रों का प्रबंध में यथा-स्थान उल्लेख है।

इस प्रबंध की सामग्री के तीन स्रोत हैं : इतिहासों में उपलब्ध सामग्री, भगवंतराय तथा उनके आश्रित कवियों की रचनायें, तथा अन्तर्वेद में प्रचलित अनुश्रुतियाँ। इन तीनों स्रोतों से प्राप्त सामग्री का वैज्ञानिक विवेचन कर प्रबंध में ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये है जो मौलिक होने के साथ ही इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। भगवंतराय के बारे में जो रचनायें कवियों ने कीं वे विशेष महत्व की हैं। साधारणत: राजाओं के आश्रित कवियों ने आश्रयदाताओं के मनोरंजन और उनकी मुँह देखी प्रशस्ति में आसमान के कुलावे मिलाये हैं, जिनमें तथ्यों पर कम, प्रशस्ति पर अधिक ध्यान दिया गया है। इन कारणों से रचनाओं की ऐतिहासिकता संदिग्ध हो गयी है, काव्य-सम्बन्धी-न्यूनताओं की बात तो अलग है। इसके विपरीत अनुमान यह लगता है कि भगवंतराय ने अपने जीवन-काल में अपनी प्रशस्ति में रचना करने के लिए कवियों को प्रोत्साहित नहीं किया। उनके बारे में अधिकांश रचनायें उनकी मृत्यु के बाद की गयीं। इससे इन काव्यों में रागात्मकता के साथ ही तथ्यों के प्रति निरपेक्ष स्पृहणीयता बनी रही। यह बात महत्व की है क्योंकि इसमें जहाँ काव्य विशुद्ध अन्त:प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखा गया वहीं उसमें तथ्यों के प्रति भी अन्याय नहीं हुआ। भगवंतराय के जीवन और कार्यो के बारे में इनसे बड़ी भरोसे की सामग्री मिली है। हिन्दी कवियों की इतिहास-निष्ठा का यह ज्वलंत उदाहरण है।

इस प्रबंध के लिए जहाँ तक पूर्व प्रकाशित सामग्री का प्रश्न है वह नहीं के बराबर थी। शिवसिंह सेंगर, सर जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबंधु और शुक्लजी ने अपने इतिहासों में भगवंतराय का नाम आदर के साथ उल्लिखित किया है। सामग्री के अभाव में इन विद्वानों से उल्लेख से अधिक की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इसी प्रकार इन इतिहासकारों ने भगवंतराय के आश्रित कवियों में नेवाज, भूधर सारंग, शंभुनाथ, श्यामलाल, नाथ, मल्ल, कवीन्द्र, सदानन्द और सुखदेव मिश्र के नाम तो अवश्य गिनाये परन्तु सदानन्द की 'रासा भगवंतसिंह का' नामक रचना को छोड़कर शेष किसी कवि की भगवंतराय के लिए लिखी गई एक-एक दो-दो छंदों से बड़ी रचना नहीं देखी थी। इनमें से जो प्रसिद्ध कवि थे उनके भी किसी ऐसे ग्रन्थ का पता नहीं चलता जो इनके आश्रय-काल में लिखा गया हो।

इस प्रकार इन विद्वानों की सामग्री एक संकेत मात्र थी जिसका अनुसरण करके हमने कवि भगवंतराय की रचनाओं को अलंकार रत्नाकर, शृङ्गार संग्रह, दिग्विजय भूषण और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों से ढूँढ कर निकाला है। इसके अतिरिक्त लखनऊ के सादतगंज निवासी कवि श्री विमलेशजी और बड़ौदा के ध्रुपद गायक श्री भरत व्यास से भी कुछ छंद प्राप्त किये हैं। देव के अतिरिक्त भगवंतराय के आश्रय में अन्य अनेक कवियों ने रचनाएँ कीं। इनमें से गोपाल, मुहम्मद, चतुरेश, इन्द्र, कण्ठ और हेम नामक छह कवि उनके आश्रय में ऐसे थे जिन्हें इस प्रबन्ध के द्वारा सर्वप्रथम प्रकाश में लाया जा रहा है। इनको लेकर भगवंतराय के आश्रित कवियों की संख्या सत्रह हो जाती है। उपर्युक्त छह कवियों में से मुहम्मद कवि का 'भगवंतराय खीची का जंगनामा' और गोपाल कवि की 'भगवंत विरुदावली' का अभी तक हिन्दी जगत के सम्मुख उल्लेख नहीं हुआ था। इस सामग्री के अतिरिक्त रीतिकाल के संग्रह ग्रन्थों में भगवंतराय के प्रति लिखे गये कुछ छंद प्राप्त हुए हैं, जिनमें कवि नाम की छाप न होने से उन्हें 'अज्ञात' कवियों का दाय माना गया है।

भगवंतराय के मंडल के कवियों का अध्ययन करते समय उन कवियों की उपलब्ध चर्चित रचनाओं की परीक्षा करने का भी प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार पूर्वोल्लेखों की भी परीक्षा हो गयी है। इस कार्य में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ देखने पड़े हैं। सुखदेव नामक (कवि?) कवियों के फाजिलअली प्रकाश, अध्यात्म प्रकाश, गुरु महिमा, ज्ञान प्रकाश, रसदीपक, छंदोविचार पिंगल और मर्दन रसार्णव के अतिरिक्त शंभुनाथ त्रिपाठी की बैताल पचीसी, दलपतिराय वंशीधर कृत अलंकार रत्नाकर, शम्भुनाथ मिश्र कृत अलंकार दीपक और उदयनाथ कवीन्द्र कृत रति-विनोद-चंद्रिका उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। कई ग्रंथ जो पुस्तकालयों में या ग्रंथ

स्वामियों (खोज मे उल्लिखित पते के अनुसार) के पास नही मिल सके उनके लिए खोज-रिर्पोटो के विवरण तक ही सीमित रहना पड़ा है। कवियों की जीवनी लिखते समय और उनकी रचनाओं को निश्चित करने मे नए स्रोतों की खोज करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इस दिशा के कार्य मे भूधर कवि की 'ध्यान बत्तीसी' नामक एक अज्ञात रचना देखने को मिली है।

लेखक को भगवंतराय के मंडल के अज्ञात कवियों एवं उनकी रचनाओं की खोज में असोथर के श्री शिवनारायणसिंह ने बहुत अधिक सहायता की हे। हस्तलिखित ग्रंथों के लिए नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, सरस्वती पुस्तकालय रामनगर वाराणसी, ब्रजराज पुस्तकालय गंधौली, जिला सीतापुर, मौरावाँ पुस्तकालय, जिला उन्नाव तथा गायकवाड रिसर्च इंस्टिट्यूट, बड़ौदा का आश्रय लेना पड़ा है।

भगवंतराय की जीवनी और उनके प्रति लिखी गई रचनाओं के ऐतिहासिक महत्व के विवेचन के लिए तत्कालीन इतिहास का अध्ययन अनिवार्य था। डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने अपने ग्रथ 'फर्स्ट टू नवाब्स आफ अवध' मे भगवंतराय के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। परन्तु इतिहास के मूल स्रोतों को स्वयं आलोडित करना ही अधिक समीचीन था। अतः इलियट और डाउसन के 'भारत इतिहास' के ८वे भाग मे उद्धृत तारीखे हिन्दी और सादत जावेद, गुलाम मुहम्मद कृत सेरे मुताखरीन के अंग्रेजी अनुवाद और वारिदकृत मूल फारसी ग्रंथ मीरातुल वारिदात के अतिरिक्त पेशवा को भेजे गए मराठा कर्मचारियों के मराठी मे लिखे पत्रों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मीरातुल वारिदात की हस्तलिखित प्रति रघुवीर पुस्तकालय, सीतामऊ मे प्राप्त थी अतः इसकी प्रतिलिपि के लिए लेखक को वही जाना पड़ा।

उपर्युक्त सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध मे दो खडो मे प्रस्तुत किया गया है। प्रथम खड के तीन अध्यायों का विवेचन भगवतराय पर केन्द्रित है और दूसरे खड के चार अध्याय उनके मंडल के कवियों पर। आठवाँ अध्याय उपसंहार रूप मे प्रबन्ध की उपलब्धियों को प्रस्तुत करता है। प्रबन्ध के अन्त में दो परिशिष्टो मे अध्ययनार्थ खोजी गई कुछ अप्रकाशित और अज्ञात रचनाओं को संकलित किया गया हे। परिशिष्ट १ मे केवल भगवंतराय की रचनाएँ है। परिशिष्ट २ मे सहायक ग्रंथो की सूची दी गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय (पृष्ठभूमि) मे भगवन्तराय के साहित्यिक और राजनैतिक मंडल की स्थापना का प्रयास पहली बार किया जा रहा है। इस संदर्भ मे ग्रंथों से प्राप्त सूचनाओं और उनके सम्यक् विवेचन के पश्चात्

भगवंतराय के राजनैतिक मंडल की उदात्त सांस्कृतिक परम्पराओं पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त आलोच्य विषय से उनका स्पष्टतर सम्बन्ध निर्धारण करने में भी पूरी सतर्कता रखी गई है। भगवंतराय के इतिहास और उसकी साहित्यिक रचनाओं के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन की दृष्टि से इसकी उपादेयता स्पष्ट और महत्व-पूर्ण है। इसके साथ ही इस अध्याय में उस काल की राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का भी विवेचन कर विषय को व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित किया गया है।

द्वितीय अध्याय—**भगवन्तराय का वंश और जीवनी**—में मनुभाई मेहता कृत 'हिन्द राजस्थान', देसाई कृत 'चौहान कुल कल्पद्रुम' मुहणोत नैणसी की ख्यात, देव कृत 'जयसिंह विनोद' एवं असोथर के सजरे का उपयोग वंश-परिचय के लिए तथा फारसी के मूल एवं अनुवाद इतिहास-ग्रंथों, पेशवा दफ्तर के पत्रों, कवियों की रचनाओं एवं स्थानीय अनुश्रुतियों के माध्यम से भगवंतराय की जीवनी को पहली बार प्रामाणिक रीति से प्रस्तुत किया जा रहा है।

तीसरा अध्याय—**भगवंतराय का कृतित्व**—मे भगवंतराय की दबी-छिपी रचनाओं की खोज कर उनका अध्ययन व मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। स्तोत्र-साहित्य की परम्परा और मध्यकालीन हिन्दी कविता में उनके स्वरूप पर नवीन सिरे से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। काव्य-विवेचन मे कवि के जीवन और कृतित्व में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का निर्धारण अपनी विशेषता रखता है। थोड़ी-सी रचनाओं के माध्यम से कवि की सामर्थ्य व उसके काव्य के दिशा-निर्देशन का पूरा प्रयत्न किया गया है, जो पहली बार विवेचन का विषय बनने के अतिरिक्त नवीनता का भी परिचय देता है।

खण्ड दो

चतुर्थ अध्याय—**मडल के कवियों का वृत्त**—मे कवियो से सम्बन्धित सूचना के लिए मूल स्रोतों का अध्ययन और परीक्षण किया गया है। जहा कोई आधार नही मिल सका है केवल वही इतिहासकारो की दी हुई सूचना तक अपने को सीमित रखना पड़ा है। इस प्रसंग मे देव के नव प्राप्त ग्रंथ 'जयसिह विनोद' के आधार पर उनकी देशव्यापी यात्रा की बात का खंडन एवं उनके स्वभाव एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है।

सुखदेव नाम के कवियों (कवि ?) की समस्त उपलब्ध रचनाओ एवं उनके आश्रयदाताओं के समय तथा काल-क्रम की परीक्षा करके, इतिहास-ग्रंथों की भ्रमपूर्ण मान्यता का खंडन करते हुए इस नाम के तीन या कम-से-कम दो कवियों

की स्थापना की गई है। इसी प्रकार भूधर नाम के दो या तीन समकालीन जैन कवियों से अलग करके आलोच्य भूधर कवि को सामने लाया गया है। नेवाज नाम के चार कवियों में शकुन्तला नाटक के कर्ता नेवाज को एक और शेष तीन नेवाज नामक कवियों को एक ही व्यक्ति होने का अनुमान भी कवि की अन्तःप्रकृति के आधार पर स्थिर किया गया है। मुहम्मद, चतुरेश और गोपाल इन तीन कवियों का परिचय इस प्रबंध के पूर्व कहीं भी नहीं मिलता। अतः कह सकते हैं कि इन नामों की चर्चा पहली बार की जा रही है।

पंचम अध्याय— **रचनाओं का वर्ण्य-विषय**— में आलोच्य रचनाओं, जयसिंह विनोद, भगवन्तराय खीची का जंगनामा, रासा भगवंतसिंह एवं भगवंत बिरुदावली का विस्तार से परिचय दिया गया है। रासा भगवंतसिंह को छोड़कर अभी तक इनमें से कोई भी रचना प्रकाश में नहीं आई है, इसलिए यह अंश भी नवीन है। इन आलोच्य रचनाओं के अतिरिक्त, मंडल के कवियों की उन रचनाओं का परिचय भी संक्षेप में निबद्ध कर दिया गया है जो अप्रकाशित हैं एवं इतिहास-ग्रंथों में जिनका उल्लेख मात्र ही हुआ है।

छठे अध्याय —**काव्य-रूप एवं काव्य-सौष्ठव**—में विनोद, जंगनामा, बिरुद, रासा एव मुक्तक के काव्य-रूपों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें जंगनामा और बिरुदावली के काव्य-रूपों पर प्रकाश डालने के लिए नई सामग्री का उपयोग किया गया है। 'सामान्य विरुद लक्षणम्' के लक्षणों की सापेक्षता में हिन्दी की हिम्मत बहादुर बिरुदावली एवं भगवंत बिरुदावली को लोक-प्रचलित बिरुदों की परम्परा से ही अनुप्राणित होने की सम्भावना भी व्यवस्थित रीति से उपस्थित की गई है। इसी अध्याय में शृंगार और वीर—इन दो प्रमुख रसों की दृष्टि से उनका साहित्यिक सौंदर्य उद्‌घाटित किया गया है। शृंगार सम्बन्धी देव का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण चूँकि सामने था इसलिए उसी को विवेचन का आधार बनाया गया है।

सप्तम अध्याय —**इतिहास-निरूपण**—में कवियों की रचनाओं को आधार बनाकर इतिहास और अनुश्रुतियों के साथ इन्हें समन्वित किया गया है। यह अंश इतिहास की दृष्टि से नवीन और मौलिक है। प्रबन्ध के इस अध्याय से हिन्दी कवियों की इतिहास-निष्ठा पर प्रकाश पड़ता है, एवं इतिहास-लेखकों के लिए इनका महत्व प्रतिपादित होता है।

यह तो हुआ प्रबन्ध के विषय में। इसके लिखने के लिए हमें कई सूत्रों से सामग्री मिली, अनेक विद्वानों से पथप्रदर्शन मिला। उनके प्रति विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता ज्ञापन कर्तव्य हो जाता है। सर्वप्रथम मैं श्रद्धेय प्रो० डॉ० चन्द्रभानसिंह के समक्ष विनयावनत हूँ जिन्होंने इस विषय पर शोधकार्य करने की स्वीकृति देने

आगामी शोधकर्ताओं के हाथ से ही पूरा हो सकेगा। अन्त में यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि भगवन्तराय के कवि-मंडल के कुछ कवि रीतिकालीन कवियों में शीर्षस्थ हैं। इतना ही नहीं रीतिकाल की कवि-भारती में भगवन्तराय का व्यक्तित्व कुछ नवीन जिज्ञासाओं की दिशा दिखाने के कारण एक विशिष्ट स्थान रखता है। यदि सुधियों ने रीतिकाल की सीमा में इस प्रबन्ध का, किंचित योगदान भी स्वीकार किया तो अपने प्रयास को सार्थक समझेगा। यह भी कहना है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के आधार-स्वरूप खोजी गई, जिन रचनाओं को मूल प्रबन्ध के अन्त में पाँच परिशिष्टों में संकलित किया गया था उन्हें भी प्रकाशन की सुविधा होने पर अलग से प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया जाएगा।

— महेन्द्रप्रताप सिंह

संकेत-सूची

अक० और	फ्रामं अकबर टु औरंगजेब
अलबेरूनी०	अलबेरूनी का भारत
ऑपेलो फरा०	हिन्दी भाषाओमा आपेलोफरा
आदिकाल०	हिन्दी साहित्य का आदिकाल
आईन०	आईने अकबरी
औरंग०	औरंगजेब
एनसियेंट इंडिया	स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एनसियेंट इंडिया
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० मी०	काव्य-मीमांसा
कानपुर०	डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ कानपुर
कैम्ब्रिज०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया
क० र०	कवित्त रत्नाकर
खोज०	नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित १९०० से १९४० तक की खोज-रिपोर्ट
ग्रियर्सन०	ग्रियर्सन कृत हिन्दी साहित्य
गुजरात	गुजरात एंड इट्स लिटरेचर
चौ० कु० क०	चौहान कुल कल्पद्रुम
जंगनामा०	भगवन्तराय खीची का जंगनामा
तासी०	गार्सा द तासी कृत हिन्दुई साहित्य
ता० हि० इ०	तारीखे हिंदी इलियट और डाउसन द्वारा उद्धृत
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
दे० कविता०	देव और उनकी कविता
० प्र०	नागरी प्रचारिणी सभा
नैषध०	नैषधीय चरितम्
नैणसी०	मुहणोत नैणसी की ख्यात
पेशवा दफ्तर	सलेक्शन्स फ्राम पेशवाज दफ्तर

पृ० विजय०	पृथ्वीराज विजय
प्र० का०	प्रकृति और काव्य
प्रा० भा०	प्राचीन भारत
प्रा० पं०	प्राचीन पंडित और कवि
फ० जं०	फरुखसियर का जंगनामा
फ० नवा०	फर्स्ट टु नवाब्स आफ अवध
फतेहपुर०	डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ फतेहपुर
फ्लावर्स०	आल्टर फ्लावर्स
बंगश	बंगश नवाब्स आफ फरुखाबाद
बराहो०	बराहोपनिषद्
बाँदा	डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ बाँदा
बा० रा०	बालरामायण
ब्रिग्ज फरिश्ता	ब्रिग्ज द्वारा फरिश्ता का अनुवाद
भा० का० शास्त्र०	भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका
भा० सं०	भारतीय संगीत
भा० विलास	भामिनी विलास
म०	महाभारत
मानस०	रामचरितमानस
मिश्र०	मिश्रबंधु विनोद
मुस्लिम रूल०	ए हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया
मु० भा०	मुगलकालीन भारत
मु० एड०	मुगल एडमिनिस्ट्रेशन
मीरातुल०	मीरातुल वारिदात
रघु०	रघुवंश
रामानन्द सम्प्रदाय०	रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव
रासा०	रासा भगवंतसिंह का
ले० मु०	लेटर मुगल्स
वाल्मीक	वाल्मीकि कृत रामायण
विनय०	विनयपत्रिका
विरुदावली०	भगवंत विरुदावली
विष्णु०	विष्णुपुराण

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

विषय-प्रवेश

१७वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत की राजनीतिक और साहित्यिक चेतना को भगवंतराय खीची के व्यक्तित्व ने प्रभावित किया है, यद्यपि उनका जन्म गंगा-यमुना के अन्तर्वेद के निवासी एक निर्धन ग्रामीण पिता के घर में हुआ था, परन्तु उनकी प्रतिभा, योग्यता तथा चारित्रिक विशेषताओं ने उन्हें बहुत ही ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित किया।

उस युग के जन सामान्य की दृष्टि में वीरत्व, धर्म और कवित्व गुणों का विशेष सम्मान था। जनता की श्रद्धा और उसके विश्वास को जीतने के लिए इन गुणों के ही परिप्रेक्ष्य में सफलता मिल सकती थी। भगवंतराय के व्यक्तित्व में इन गुणों की त्रिवेणी थी, अतः उनके लिए जन-नायक बन सकना अत्यन्त स्वाभाविक था।

धर्म उनकी व्यक्तिगत साधना और आचार का नियामक था, जिसकी पृष्ठभूमि ने उनके वीरत्व और कवित्व को विशेष रूप से श्रद्धास्पद बना दिया। भगवंतराय ने योग्यतापूर्वक इस श्रद्धा के द्वारा जनता को संगठित करके उसमें स्वातंत्र्य-भावना का उन्नयन कर उसे विजातीय शासन के अन्यायो के विरोध में सन्नद्ध किया। उनका वीरत्व जहाँ राजनीतिक नेतृत्व में सक्रिय हुआ वहीं उनकी काव्य-प्रतिभा स्वयं सृजनशील होने के अतिरिक्त कवियों के लिए कल्पवृक्ष बनी। उनकी इस सदाशयता से अनेक तत्कालीन कवि लाभान्वित और हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने की ओर प्रवृत्त हुए।

मंडल शब्द का अर्थ और प्रबंध में इसकी सार्थकता

भगवंतराय के व्यक्तित्व की राजनीतिक एवं साहित्यिक क्षमताओं ने अपने युग के इतिहास का एक केंद्र-बिन्दु बन कर उसे दूर तक प्रभावित किया है। इस प्रकार उनके प्रभाव-क्षेत्र की परिधि मान कर उसके लिए मडल शब्द का प्रयोग सार्थक और समीचीन होगा। प्राचीन राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में हमें यह शब्द इसी अर्थ मे मिलता भी है; साथ ही लोक मे मंडल शब्द इसी अर्थ में बहु

प्रचलित है। एक ही प्रकार के लोगों को मिल-जुलकर बैठते-उठते देखकर लोक उन सबको मंडल के वाच्यार्थ में समेट लेता है। मित्र-मंडल, खल-मंडल, भक्त-मंडल, आदि प्रयोग लोक-वाणी मे मिलते हैं। 'मंडल' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस अर्थ की पुष्टि करती है। मडिमंड का अर्थ है शोभा, जिसमें ल प्रत्यय के लगने से मंडल शब्द बनता है, अर्थात् मंडलातीतिमंडलंशोभा को देने वाला। जैसे सूर्य और चन्द्र के चारों ओर प्रकाश-परिधि शोभाकारक होती है और मंडल की संज्ञा पाती है, उसी प्रकार भगवंतराय के केन्द्रस्थ व्यक्तित्व के चारों ओर काव्य और राजनीतिक कार्य-कलापों की संश्लिष्टि उनकी कीर्ति-श्री में वृद्धिकर सिद्ध हुई है।

इस बात के अनेक प्रमाण तत्कालीन इतिहास मे मिलते हैं कि भगवंतराय वास्तविक अर्थ में मंडलाधीश थे। राजनीतिक क्षेत्र में उनके अनेक आश्रित सामन्त ही नही वरन् अनेक ऐसे राजा भी थे जो उनकी नीति से नियंत्रित एवं उनके सहायक थे। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में कवियों को संरक्षित और प्रोत्साहित करने में इनका बहुत बड़ा योग है। अपने व्यक्तित्व के नायकत्व गुण के कारण ही ये राजनीति और साहित्य के क्षेत्र मे नेतृत्व कर सके हैं। इस प्रकार इनके राजनीतिक और साहित्यिक दोनों ही मंडलों की उपलब्धि, इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान निर्दिष्ट करती है। अतः विषया-वगाहन के पूर्व साहित्यिक और राजनीतिक मंडलों का स्वरूप यही समझ लेना आवश्यक होगा।

साहित्यिक मंडल

भगवंतराय के ही आश्रित कवियों के वचन हैं :

लै कविराजन की मति शंभु
सरस्वति फैलि रही सुख देनी

—शंभुनाथ मिश्र

गुनिन को गाहक जहान सों उचटिगो—भूधर

'कविराजन' और 'गुनिन' शब्द बहुवचन हैं। इनके प्रयोग से निष्कर्ष यह निकलता है कि इनके आश्रय में अनेक कवि सम्मान पाते थे। सामयिक कवियों की उपलब्ध रचनाओं मे इसकी पुष्टि के प्रभूत प्रमाण विद्यमान हैं। प्राप्त रचनाओं के अन्तर्साक्ष्य एवं अन्य बाह्य आधारों के अनुसार भगवंतराय के मंडल के कवियों में इन्द्र, कंठ, उदयनाथ, कवीन्द्र, गोपाल, चतुरेश, महाकवि देव, नेवाज, भूधर, नाथ, मल्ल, मुहम्मद, मिश्र सुखदेव, सदानन्द, सारंग, हेम,

शंभुनाथ मिश्र और श्यामलाल के अतिरिक्त भी कुछ कवि रहे होंगे जिनका नाम-पता नहीं मिलता। संभव है इनमें से कुछ की रचनाएं अज्ञात कवियों की रचनाओं में हों भी। इन कवियों का परिचय एक अध्याय में अलग से दिया गया है।

राजनीतिक मंडल

भगवंतराय के राजनीतिक क्षेत्र में किए गए कार्य-विस्तार को भी मंडल शब्द में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। राजनीतिशास्त्र में मंडल शब्द का अर्थ जनपद होता है। मांडलिक अथवा मंडलाधीश शब्द इसी आधार पर प्रचलित हुए हैं। शब्द कल्पद्रुम में उद्धृत श्लोक इस कथन को स्पष्ट करने में यहाँ सहायक सिद्ध होगा :

उपेतः कोष दण्डाभ्यां सामात्यः सः मंत्रिभिः
दुर्गस्थश्चिन्तयेत्सातु मंडलं मण्डलाधिपः।

(कवि) साहित्यकारों की ही भाँति आस-पास के स्वातंत्र्यकामी राजपूत ठिकानेदारों के भगवंतराय संगठक और नेता बन गए थे। प्रमाण भी है......

जिन गोल बाँधि अडोल अचल हरौल दिल्ली को हन्यौ
—'विरुदावली'

हुए हमराह सब रानें कि आए गोल भारा है
—'जंगनामा'

'गोल' और 'मंडल' समानार्थी शब्द हैं। इस प्रसंग में मंडल शब्द का प्रयोग समीचीन है। तत्कालीन इतिहास से भी पुष्ट होता है कि भगवंतराय के नेतृत्व में आस-पास की प्रमुख हिन्दू शक्तियाँ संगठित हो गई थीं।[1] इतिहासकार रुस्तमअली द्वारा इनके सैनिकों के लिए 'बेशावाइस' शब्द के प्रयोग में भी यही ध्वनि है।[2] घृणात्मक भाव के कारण ही उसने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है। ये तथ्य भगवंतराय की नेतृत्व शक्ति के समर्थन में दृढ़ प्रमाण हैं। विरुदावली के कवि गोपाल ने उन ठिकानेदारों के नाम भी गिनाए हैं जो अंतिम युद्ध में उनके नेतृत्व में लड़े थे।[3] जंगनामा के कवि मुहम्मद ने उन

1. पेशवा दफ्तर० १४-पत्र सं० ६
2. ता० हि० इ०, भाग ८ पृष्ठ ५०
3. कैसु बीर कदम्म तुरकी, फत्ते जंग न कबहुँ मुरकी
गोलकंनी उमर सजे, कमध सिर पर बाँधि बाजे
पैंड़ करत पँवार ... ... बिजित गौर रहुर धाइ
चढ़ि सिर चौहान कोपे, भवत दल परिहार ओपे
करनि सीची मो आगे दुरी औ दल नेर लागे,
—विरुदावली

राजपूतों के नाम दिए है जो विरोधी पक्ष की ओर से खड़े हुए थे ।[१] इनसे तुलना करके वस्तुस्थिति को समझने में विशेष सहायता मिलती है । इस पद्धति से अवलोकन करने पर निष्कर्ष की प्रामाणिकता में कोई सदेह नही रह जाता, इसलिए राजनैतिक नेतृत्व को अभिव्यक्ति देने में मंडल शब्द से ही प्रयोजन सिद्ध किया गया है ।

भगवंतराय के मंडल के कई कवियों ने इस राजनीतिक चेतना एवं उसके नायक तथा सैनिकों के बलिदानों को अपनी रचनाओं से इतिहास की निधि बना दिया है । कवियों का यह सत्प्रयत्न इस मंडल की एक ऐसी अक्षुण्ण ऐतिहासिक परम्परा को मूर्तिमान करता है जो इस क्षेत्र के कण-कण मे व्याप्त होकर कई सहस्र वर्षों से निरन्तर यहाँ के जन-मानस को अनुप्राणित करती आई है । अतः स्पष्ट है कि काव्य मे वर्णित इतिहास को उसकी परम्परा की धरोहर के साथ समझने मे ही उसके साथ न्याय हो सकेगा ।

राजनैतिक मंडल का विस्तार

भगवंतराय के जन्मकाल (सन् १६८० के आसपास) के समय उनके पिता के पास कोई सम्पत्ति नही थी । भगवंतराय के जन्म की घड़ी में मिले धन से उन्होंने तीन परगनों की जमीदारी खरीद ली थी ।[२] इसके अतिरिक्त निज पुरुषार्थ से वे इसका विस्तार सम्भवतः न कर सके होगे । स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार भगवंतराय ने ही इसकी सीमा का विस्तार किया था ।[३] गाजीपुर के प्रसिद्ध पैनागढ़[४] पर अधिकार करके उन्होने १७३२ ई० तक कोड़े की फौजदारी पर अपना झण्डा गाड़ दिया था । इसके पहले वे पूर्व में इलाहाबाद की ओर बढे चुके थे ।[५] १७३३ में सरकार कोड़ा से ८ महाल[६] (४ फतेहपुर तथा ४

---

१. चन्देले चौध बख्तरिया, बिसने बैस कनपुरिया
अछे कछवाह कलचुरिया चुने से सद सवारा है —जंगनामा

२. फतेहपुर० पृष्ठ १०२

३. कहा जाता है कि असोथर से दक्षिण-पूर्व जमुना के किनारे भसरौल ग्राम के कोकलितराय से उनकी गढी भगवतराय ने सबसे पहले छीनी थी ।

४. ई० १७२२ के पूर्व ही इस स्थान को उन्होंने जीता होगा, क्योंकि देव ने 'जयसिह विनोद' मे इस घटना का उल्लेख किया है ।

५. वंगश० पृष्ठ ३०५

६. कानपुर० पृष्ठ १६६ में कोडा-सरकार मे ८ महाल बताये गए है । उनमें से ४ फतेहपुर जिले मे तथा ४ कानपुर जिले के अन्तर्गत है । कोडा के फौजदार को मारकर भगवंत राय ने १७३३ ई० में उन पर अपना अधिकार कर लिया था । देखिए, मीरातुल० पृष्ठ १७१

कानपुर जिले के) एवं कन्नौज सरकार के कई महालों को अधिकार में कर लिया था।[1] इस प्रकार आज के फतेहपुर-कानपुर के पूरे जिले तथा इलाहाबाद जिले का पश्चिमी भाग उनके अधिकार में था। इसके अतिरिक्त गंगा के उत्तर-पूर्व एवं यमुना पार के दक्षिण-पूर्व प्रदेशों में भी उनकी प्रभुता मान्य थी। अन्तर्वेद के पूर्ण शासित प्रदेश के अतिरिक्त प्रतापगढ़ के सोमवंशी, उन्नाव और राय-बरेली के बैस, फर्रुखाबाद के राठौर, मैनपुरी-कानपुर के चौहान, इटावा-कानपुर के गौड़, हमीरपुर के परिहार, चित्रकूट के सोलंकी, बघेलखण्ड के बघेल उनके झंडे के नीचे आवश्यकतानुसार एकत्र होते थे।[2] बुन्देलखण्ड में पन्ना और अजयगढ़ के बुन्देले भी उनके सहयोगी और मित्र-राज्य थे।[3] उनकी शक्ति के पीछे खड़ी होनेवाली स्थानीय शक्तियों के ठिकाने राजनीतिक मंडल की सीमा निर्धारित करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

बुन्देलखंड-सीमा

मोटे तौर से उत्तर में यमुना से लेकर दक्षिण में नर्मदा के अंचल तक और पश्चिम में पचनदा (इटावा से ४८ मील दक्षिण-पूर्व कुवाँरी, चम्बल और धसान के संगमस्थल) से पूर्व में टोंस तक है।

बुन्देलखंड का भौगोलिक परिचय

यहाँ की प्रमुख मिट्टी मार अथवा मरवा कही जाती है। यह गहरे काले रंग की और सूखने पर भुरभुरी हो जाती है।[4] इसकी समानता बहुत अंशों में दक्षिण की कपास-भूमि के साथ होती है।

वर्षा की नमी को सुरक्षित रखने और खनिज सम्पन्न होने के कारण यह भूमि बड़ी उपजाऊ है। इसके अतिरिक्त काबर पड़ुवा और राकड़ भूमियाँ भी हैं। काबर चिकने महीन कणों से निर्मित होने के कारण वर्षा में गीली तथा सूखने पर अत्यन्त कठोर होकर दर्रे फाड़ देती है। यह दोनों ही अवस्थाओं में हल के लिए कठिन रहती है। इसीलिए इसे बुन्देलखण्ड की अत्यन्त अव्यावहारिक

---

१. कानपुर, पृष्ठ २०१ के अनुसार रसूलाबाद कन्नौज सरकार के अन्तर्गत था पर रसूलाबाद की मालगुजारी के प्रश्न को लेकर भगवतराय और सादत खाँ का युद्ध हुआ था। देखिए रासा०

२. बिरुदावली में जिन सहायक राजपूतों के नाम आये हैं, उनके ठिकाने इन्हीं जिलों के अन्तर्गत मिलते है।

३. पेशवा दफ्तर० १४, पत्र-संख्या ६

४. बांदा० पृष्ठ ६-७

भूमि कहा गया है। पड़ुवा बालू की चट्टानों के टूटने से बनती है, इसलिए यह पहाड़ियों की तलहटी में पाई जाती है। राकड़ का अर्थ है पहाड़ी भूमि। आमतौर से बड़े-बड़े कंकड़ोंवाली भूमि के लिए यह शब्द व्यवहृत होता है। ढालू भूमि, कन्दराओं, खोहों और नदी-नालों के बसाव के तट पर पाई जाती है।

इस प्रदेश में बहनेवाली पहूज, बेतवा, धसान, केन, वाग्मती, पयस्विनी, तथा टोंस का अपना सम्मोहक व्यक्तित्व मण्डल के दूसरे भाग की नदियों से बिलकुल भिन्न है। इनकी गति का संगीत पानी का दृश्यमान चटकीला रंग, निवासियों के जीवन में ओत-प्रोत हो गया है। इनके प्रवाह की वक्रता और जल के खारेपन ने यहाँ के पुरुषार्थ को सँवारा एवं उस पर शान का पानी चढ़ाया है। लोक-काव्य आल्हा से प्रकट हो जाता है कि यहाँ का निवासी उस पानी के प्रति कितना जागरूक रहता आया है।[२]

विन्ध्याचल की गणना सात कुल पर्वतों में की जाती है।[३] इसकी उत्तरी श्रेणियाँ इस अर्द्धमण्डल में फैली हुई हैं। मध्य युग में सुरक्षा की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व था। आध्यात्मिक उत्कर्ष में भी इस पर्वत पर लगनेवाले संत मेलों से व्यापक प्रेरणा मिलती आई है।

यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। साल में दो फसलें होती हैं। खेती के अलावा यहाँ फल और जंगली वनस्पतियों से अनेक लाभदायक वस्तुएं प्राप्त होती हैं। इनकी भी उपज विशेष रूप से पर्वतीय घाटियों में ही होती है। मैदानों में तो तरह-तरह की घासों तथा झाड़-झंखाड़ की ही बहुलता रहती है। घने छायादार वृक्षों की छाया रास्तों में कठिनाई से मिल पाती है। बाणभट्ट ने इस प्रदेश की बड़ी ही सजीव झाँकी प्रस्तुत की है। "...उसमें प्रवेश करते ही उन्होंने वन-बस्ती के चारों ओर के वन-प्रदेश पर दृष्टिपात किया जो उसका दूर से ही परिचय दे रहे थे।...किसान पेट पालने की चिन्ता में व्याकुल रहते थे...कुदाली से गोड़कर परती जमीन तोड़ते और खेत के टुकड़े निकालते।

१. बांदा० पृष्ठ ६-७

२. 'कड़वा पानी है महुवे का' जिसे मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्रकार कहा है :
'पानी नहीं मानो मान पीते वहाँ मानी हैं'—सिद्धराज, सर्ग-५

३. महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान ऋक्षपर्वतः
विन्ध्यश्चपारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः
—म० भीष्मपर्व-९-११

भूमि काश से भरी हुई थी। काली मिट्टी लोहे के तवे के समान कड़ी थी। आने-जानेवाले कम थे इसलिए पगडंडियाँ साफ न दिखाई पड़ती थीं।"[1]

दोआब (अंतर्वेद) का भौगोलिक परिचय

यमुना के वायें तट से सरयू के समीप तक फैले हुए प्रदेश की मिट्टी एक-सी है। मण्डल के इस खण्ड की भूमि हिमालय के उछंग से निकली हुई नदियों द्वारा लायी हुई मिट्टी से वनी है। यह मिट्टी चिकनी, दोमट और इसमें नमी सुरक्षित रहती है। यहाँ की भूमि वड़ी उपजाऊ है। कहीं-कहीं ऊसर और अउपजाऊ भूमि भी मिलती है।

इस अर्द्ध-मण्डल की सीमाओं पर यमुना और सरयू जैसी महान नदियों के प्रवाह हैं। मध्य में देश की धर्मप्राण गंगा है जिसमें यमुना अपने को समर्पित करके उसके महत्व को और अधिक वड़ा कर देती है। इन तीनों[2] सरिताओं के प्रति श्रद्धा और प्रीति से हमारा जातीय हृदय भरा हुआ है। इनके अतिरिक्त रिंद, सई, गोमती और वरना इत्यादि सरिताएं अन्य छोटी सहायक नदियों के साथ यहाँ के जन-जीवन को सरस और सप्राण किए हुए हैं। अधिकांश नदियाँ नावों से यातायात और व्यापार का मार्ग रह चुकी हैं। इसलिए यहाँ के निवासियों का सम्पर्क विस्तृत एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहा है।

यहाँ की भूमि में खरीफ़ और रवी—दो फसलें होती है। गेहूँ, जौ, चना, धान, तेलहन, ज्वार, वाजरा, मक्का, गन्ना आदि की कृषि प्रधान रूप से की जाती है। इस क्षेत्र में आम, अमरूद और महुवे खूव फलते हैं। आम के तो जंगल ही थे। अव भी आम्र-वागों की विपुलता है। फसलों के कारण यहाँ के खेतों में लगभग सभी ऋतुओं में हरियाली वनी रहती है जिससे जीवन में उत्साह तथा आशा का संचार रहता है। मृदुल और सरस खान-पान के कारण बुन्देलखण्ड का ग्रामीण इस खण्ड को राजभूमि और अपने खण्ड को तपोभूमि कहता है।[3] राजभूमि से आशय है राजाओं के भोजन योग्य पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली धरती तथा तपोभूमि से आशय होता है तपस्वियों के से व्यवहार में आनेवाले रूक्ष पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला प्रदेश।[4]

---

१. हर्ष० सप्तम उच्छ्वास

२. समुद्र पत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात,
तत्वाववोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरवधः —रघु० १३।५८

३. 'ईंधन पात किरात मिताई' से तुलना कीजिये, तुलसी ने ऐसी ही व्यंजना की है।

४. बुन्देलखंड के अन्न वहुत रूखे होते हैं। यहाँ का कठिया गेहूँ भी ज्वार की वरावरी करता था। अव उसकी पैदावार कम हो गई है।

जलवायु की दृष्टि से समस्त मंडल अभिन्न है। इसकी स्थिति शीतोष्ण कटिबंध में है। वर्षा भी थोड़े बहुत स्थानीय अन्तर के अतिरिक्त समान रहती है। बुन्देलखंड भूमि-गुण एवं वृक्षों की कमी के कारण अपेक्षाकृत शुष्क रहता है इसलिए वहाँ शीत और ताप में थोड़ी-सी तीव्रता रहती है। इसके अतिरिक्त कोई भी अन्तर नहीं है। गर्मी, वर्षा और जाड़ा—तीन मौसम तथा छः ऋतुओं (वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरद, हेमंत और शिशिर) का चक्र चलता है।[1] जलवायु आर्द्र और मध्यम है। ऋतुओं की यह परिवर्तनशीलता मानव जीवन के लिए वरदान है क्योंकि इनके कारण नीरसता और उदासीनता का निवारण और उत्फुल्लता का संचार होता है। मनुष्य की कार्यक्षमता से इसका सीधा सम्बन्ध है। हमारे लोक-जीवन के खान-पान, रहन-सहन, उत्सव-पर्व, ब्याह, युद्ध और शान्ति पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

निवासी

यह मंडल विन्ध्य-शृंखला के उत्तरी भाग में आता है, अतः यहाँ आर्य-रक्त की प्रधानता है। यत्किंचित् सम्मिश्रण भी स्पष्ट है। निरंतर सम्पर्क के कारण इतर जातियों में भी आर्य-रक्त का प्रवेश हुआ है।

सवर्ण जातियों के अलावा असवर्ण जाति के लोगों का यहाँ की जनसंख्या में महत्वपूर्ण स्थान है। असवर्ण जायियों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है (१) जो कृषि कर्म में उच्च वर्णों की सहायता करती है और उन्हीं के साथ वस्तियों में ही रहती आई है; (२) जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और स्वच्छन्द रहने की अभ्यस्त रही है। गाँवों से दूर हटकर शिकार अथवा जंगल मे लकड़ी इत्यादि के उद्यम की ओर इनकी विशेष प्रवृत्ति रही है। शूद्र अथवा अवर्ण कही जानेवाली अनेक जातियाँ पहली श्रेणी में तथा दूसरी में शबर, किरात, कोल एवं बहेलिया इत्यादि है।

आर्य और आर्येतर आदिम जातियों मे संघर्ष और सम्मिश्रण तथा सहयोग होता रहा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में निकट सहयोग के प्रमाण मिलते है। [illegible] के वन गमन पर निपादराज का आत्मसमर्पण, चित्रकूट में व[illegible] ।तयों [illegible] ६-७ [illegible]-सत्कार, लंका-विजय में राम की सहायता, कर्ण की निपाद द्वारा परिचर्या[illegible] सहुवे का [illegible]-प्रेषण, घटोत्कच और पांडवों का सहयोग आदि प्रसंग इस अन्तर्जा[illegible] सहयोग की पुष्टि करते है। वाण ने हर्ष-चरित

१. वृहत इति० भाग १, पृ० १[illegible]

में विन्ध्यप्रदेश के राजकुमार व्याघ्रकेतु के साथ ही शबर सामंत की चर्चा की है।[1]

गुप्तकाल में ये जातियाँ राजाओं की शक्ति की स्तम्भ थीं। कठिनतर कार्यों को सम्पादित करने की इनमें अद्भुत योग्यता और क्षमता थी।[2] इस मंडल में अहीर, लोध[3], पासी[4] और बहेलियों[5] की अच्छी आबादी है। भगवंतराय के सम्बन्ध इन साहसी जातियों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ थे।

मंडल की बोलियाँ

इस मंडल में भौगोलिक विविधता के साथ-साथ विभिन्न बोलियों के समूह भी शामिल थे। कन्नौजी, बैसवाड़ी, अवधी और बुन्देली बोलियों के क्षेत्रों के विभाजन की दृष्टि से भी गाजीपुर-असोथर (मंडल का केन्द्र) की स्थिति संगम-स्थल पर है। कई बोलियों की सीमायें वहाँ आकर टूटती मिलती हैं। कन्नौज से लेकर कानपुर को पार करते हुए कन्नौजी का क्षेत्र लगभग वहीं तक पहुँच

---

१. हर्ष० अष्टम उच्छ्वास

२. "अशोक के फूल" संग्रह पृष्ठ ३४ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"मुझे श्री भगवतशरण उपाध्याय ने बताया है कि गुप्त नरपतिय के लेख में दुःसाध्य साधन करनेवाली जिस जाति का उल्लेख है उन्हीं का वर्तमान रूप यह दुसाध जाति है।"
उसी लेख में अहीरों को भी उत्तर भारत की अत्यन्त लड़ाकू जाति की संज्ञा दी है। वही, पृष्ठ ३४

३. असोथर के आसपास लोध लोग की अच्छी आबादी है। यह बड़ी वीर जाति है। भगवंतराय के साथ इनके बड़े ही घनिष्ठ सम्बन्ध थे। छत्रसाल के साथ भी इन लोगों के निकट सम्बन्ध थे। उन्होंने तो इन्हें राजपूत के समकक्ष मान लिया था। संभव है भगवंतराय ने भी इनको ऐसा ही कुछ सम्मान दिया हो क्योंकि फतेहपुर के लोध भी अपने को सिंह लिखते हैं। "हिन्दू कास्ट एण्ड ट्राइब्स" के पृष्ठ ५० में इन्हें बड़ा ही प्रतिरोधी और उग्र बताया गया है।

४. कागा कुरकुच मारिये, माठा खोदि सियार
अहिर मॅहूला मारिए, पासी मार बॅवार
असोथर गांव में किले के पास ही इनकी अच्छी आबादी थी। ये पहलवान का काम अधिक करते थे। शारीरिक शक्ति-साहस के लिए इनसे सम्बन्धित कई कहानियाँ अब तक याद की जाती हैं।

५. बहेलिया तीरन्दाजी के लिए विख्यात थे। गाजीपुर के किले के नीचे ही इनका छोटा सा गाँव था, जो अब भी बहेलिवन का पुरवा नाम से विख्यात है परन्तु अब वहाँ केवल एक ही घर बहेलिया है।

गया है। इस क्षेत्र के वाहर (उत्तर पश्चिम) ब्रजी का विस्तार है। उन्नाव और रायबरेली से फैलता हुआ बैंसवाड़ी का प्रभुत्व भी हमारे मंडल के केन्द्र-विन्दु तक अपना प्रभाव छोड़ता है। इसके उत्तर-पूर्व की बाहरी सीमा में अवधी का साम्राज्य है। दक्षिण-पूर्व (बघेलखंड) की ओर बघेली से निकट सम्पर्क तथा दक्षिण-पश्चिम में बुन्देली से मैत्री है। यमुना के किनारे-किनारे इन सब भाषाओं के संघात से तिरहारी का अपना निराला अस्तित्व बन गया है।

मंडल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अतीत काल से राजनीतिक चेतना का प्रवाह—वैदिक काल में ही आर्य कई ग्रामों को 'विश' और कई विशों को जन में संगठित कर चुके थे।[1] बुद्ध के समय तक इन जनों की सीमा का भी प्रस्तार होकर शक्तिशाली जनपदों (राज्यों) की स्थापना हो चुकी थी। इस युग में हमारे मंडल की धरती पर अत्यन्त शक्तिशाली जनपदों के उल्लेख मिलते हैं। बुद्ध युग के इतिहास के मानचित्र में यदि हम इस मंडल की सीमा को अलग करना चाहें तो वह वत्स, काशी, कोशल, पांचाल तथा चेदि के प्रस्तारों के भीतर से निकालनी पड़ेगी। तत्कालीन इतिहास के प्रमुख जनपदों की सीमा में होने से यहाँ की गौरवशाली ऐतिहासिक परम्परा का एक निश्चित निदर्शन होता है। यहाँ के लोक-हृदय में जन्मभूमि के लिए अतुलित प्रेम उद्‌भूत हुआ जिसकी अभिव्यक्ति 'जननी जंन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' में निबद्ध हुई है। जनता ने इस अनुभूति से प्रेरित होकर जन्मभूमि के लिए अपने बलिदानों से भारी मूल्य चुकाया होगा (जिनके अधिकृत प्रमाण न होने पर भी स्वीकृति के लिए सूचनाएँ अवश्य उपलब्ध हैं। तदनुसार निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि देश अथवा राष्ट्र का प्रेम अतीत काल से ही जनपद-जीवन में गहरा उतर चुका था।[2]) जिस जन्मभूमि के लिए जनता ने शताब्दियों तक संघर्ष किया, अपना रक्त बहाया और अपने सर्वस्व की बाजी लगाई। वह एक रागात्मक[3] सम्बन्ध की

---

१. एनसियेंट इंडि० पृष्ठ ३५

२. 'दुर्भाग्य से हमारे पास शक, पल्लव और कुशान लो के प्रतिरोध में किए गये संघर्षों के विवरण नहीं हैं, परन्तु यौधेय तथा मालवों द्वारा अपनी स्वतंत्रता के लिए दशक तक जो संग्राम लड़े गए हैं, उनके स्फुट विवरण अवश्य प्राप्त हैं।'

—एनसियेंट इण्डि० पृष्ठ ७१-७२

३. गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे,
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्। —विष्णु० २।३।२४

गहरी नींव डाल गया। काल-गति के साथ यह गरिमामय परम्परा निरंतर समृद्धि को प्राप्त होती रही।

मौर्य राज्य के विस्तार होने पर ये जनपद उसके गर्भ में समा गए। तत्पश्चात् चौथी शताब्दी के मध्य में इन प्रदेशों की शक्तियाँ हमारा ध्यान तब आकर्षित करती हैं जब समुद्रगुप्त ने बुन्देलखंड के प्रथम वाकाटक रुद्रदेव[1] से तथा अन्तर्वेद प्रदेश के अच्युत[2] से संघर्ष करके उन्हें पराजित किया। वाकाटकों की शक्ति गुप्त-काल में दबी नहीं अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती गई। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने[3] इनके साथ संधि की थी। वाकाटकों के उपरान्त चन्देलों के उदय (९वीं शताब्दी) के पूर्व का बुंदेलखंड का इतिहास प्रकाश में नहीं आया है। बहुधा वह प्रदेश पड़ोस के बलिष्ठ प्रदेशों के अधीनस्थ रहा है। चन्देल ही इस प्रदेश के अन्तिम हिन्दू शासक थे, जो बारहवीं शताब्दी के अन्त में टूट गए। अपने दीर्घकालीन शासन में उन्होंने"'बुन्देलखंड को मंदिरों तथा पक्की झीलों से प्रभूत सुन्दर किया[4] दूसरी ओर कन्नौज में मौखरियों (५वीं-६वीं शताब्दी) के साथ ही एक प्रबल शक्ति का अभ्युदय हुआ। हर्ष के समय का ऐश्वर्य डा० रामशंकर त्रिपाठी के शब्दों में प्रकट करना अनुपयुक्त न होगा। "कन्नौज की महत्ता और समृद्धि जो मौखरियों के समय में बढ़ी थी, हर्ष के शासनकाल में आकाश चूमने लगी। अब उत्तर भारत का प्रमुख नगर कन्नौज था और वह उस पाटलिपुत्र का गौरव और शक्ति में स्थानापन्न हो गया था जिससे होकर बुद्ध के ही समय से राजनैतिक जीवन का स्रोत बहा करता था"।[5] तदुपरान्त यशोवर्मन (७२५-५२) और उसके अनन्तर यहाँ आयुध कुल प्रतिहार और राष्ट्रकूटों (राठौर) के राज्य स्थापित हुए। राठौरों के अन्तिम राजा जयचन्द की पराजय से यहाँ की सुगठित शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। परिणामस्वरूप इस मंडल की समस्त भूमि दिल्ली में मुसलमान शासन के स्थापित होते ही सुल्तानों के हाथों में चली गई।

इतिहास के आदिकाल से जनपदों की गौरवशाली परम्परा की स्थापना के फलस्वरूप यहाँ का नागरिक प्रकृतरूप से देश-प्रेम में दीक्षित हुआ है। फल-

---

१. प्रा० भा० पृष्ठ १८३

२. अच्युत'''संभवतः वह अचु है जिसका नाम बरेली के अहिच्छत्र (रामनगर) से मिले सिक्के पर खुदा है।
—प्रा० भा० पृष्ठ १४८

३. प्रा० भा० पृष्ठ १९०

४. प्रा० भा० पृष्ठ २८२

५. प्रा० भा० पृष्ठ २२९

स्वरूप अवसर आने पर यहाँ का निवासी अपने को देश के लिए बलिदान करने में कभी कृपण नहीं हुआ। अनंगपाल के आमंत्रण पर महमूद गज़नी के विरुद्ध कन्नौज और कालिंजर दोनों ही केन्द्रों से सेनायें भेजी गई थीं।[1] कालिंजर के राजा विद्याधर ने कन्नौज के राज्यपाल के ऊपर इसीलिए आक्रमण करके उसका वध किया कि उसने विदेशी महमूद की दासता स्वीकार करने का अपराध किया था।[2] लोक-काव्य आल्हा के 'आल्हा मनौआ खंड' के एक कथानक से स्पष्ट हो जाता है कि जन्मभूमि के लिए यहाँ का निवासी अपने व्यक्तिगत मानापमान अथवा व्यक्तिगत प्रश्नों को किस प्रकार अलग रखकर आचरण, करता था। आल्हा और ऊदल को महोबे के चन्देल राजा परमाल ने देश से अपमानित करके निकाल दिया है। वे कन्नौज के राजा जयचन्द पर आजीविका के लिए निर्भर हैं। पृथ्वीराज इसी अवसर पर महोबे पर आक्रमण कर देता है। कोई अन्य रास्ता न देख रानी मल्हना के कहने से जगनिक को भेज कर परमाल आल्हा-ऊदल को सहायता के लिए बुलाते हैं। अपनी सारी कटुता को भूलकर उन्हें महोबे की पवित्र भूमि पर पड़े संकट का स्मरण हो आता है।[3] उस भूमि के लिए अपने समस्त व्यक्तिगत प्रश्नों को भुलाकर, जीवन तक को होम देने के दृढ़ निश्चय के साथ दोनों सामन्त पृथ्वीराज चौहान से युद्ध करते हैं। आल्हा की ऐतिहासिकता चाहे जो कुछ हो किन्तु देश-प्रेम की यह अनुभूति लोक-हृदय ने अवश्य की होगी। इतिहास की परवर्ती घटनाएँ इसकी पुष्टि के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान करती है। मुस्लिम शासन की आधीनता ने यहाँ की शक्ति को तोड़कर छितरा अवश्य दिया किन्तु वह यहाँ की जनता की आत्म-चेतना को नहीं कुचल सकी। ऐतिहासिक अन्तश्चेतना ने जनता को बार-बार विद्रोहों तथा बलिदानों के लिए सन्नद्ध किया और साम्राज्य के अस्तित्व को चुनौती दिलवाई। शताब्दियों के मुस्लिम शासन में आए दिन इसके परिणाम-स्वरूप भीषण संघर्ष खड़े हुए हैं। स्वयं बलबन जैसे प्रभावशाली सम्राट् को १२ वर्ष के भीतर बार-बार[4] यहाँ के विद्रोहों से लोहा लेना पड़ा था। बलबन के समय से ही अन्तर्वेद (दोआब) साम्राज्य का सबसे अधिक अवशीभूत प्रदेश

---

१. मुस्लिम रूल० पृष्ठ ४७-४८

२. मुस्लिम रूल० पृष्ठ ५०

३. चढ़्यो पिथौरा है दिल्ली से सब मुहबे को लीन घिराय।
जौना जइबे हम महुबे को पिरथी लेहै सबै लुटाय॥
—आल्हा० मनौआ खंड

४. कैम्ब्रिज० भाग-३, पृष्ठ ६७-६८

रहा है। इटावा के जमींदार, कटेहर के राठौर एवं कन्नौज और बदायूँ के लोग राज्य-कर रोककर केन्द्रीय सत्ता की अवहेलना करते थे। उनके विरोध इतनी दृढ़ता के साथ होते थे कि दमन और दंड के लिए बार-बार अभियान करने पड़ते थे।[1] अपनी इस स्वाभाविक क्रान्तिप्रियता के लिए निवासियों को कितने भारी मूल्य चुकाने पड़ते थे, यह भी इतिहास में देखने को मिल जाता है। फिरोज़जंग के समय की घटना है। "सन् १३७७ ई० में फिरोज़जंग इटावा ज़िले की क्रान्ति के दमन में व्यस्त था। इस प्रदेश में राज्य-कर कठिनाई से वसूल हो पाता था। वह भी सशस्त्र सेना की सहायता से।...उसी वर्ष साधारण रूप से शान्त प्रकृति का वह व्यक्ति कटेहर के राजा खड़कू से प्रतिशोध लेने की ज्वाला में उबल पड़ा। राजा ने बदायूँ के सैयद गवर्नर को उसके दो भाइयों सहित अपने यहाँ आमंत्रित करके निर्दयतापूर्वक उनका वध कर दिया।...मार्च, १३८० में फिरोज़जंग ने कटेहर की ओर प्रस्थान किया जहाँ उसने हिन्दुओं के सामूहिक संहार की आज्ञा दे दी। यह नरसंहार इतना भीषण था कि एक इतिहासकार ने यहाँ तक लिखा है कि स्वयं उन सैयदों की आत्माओं ने आकर संहारितों की ओर से प्रार्थना की। खड़कू कुमायूँ की ओर भाग गया जिसका शाही सेना ने पीछा किया। पता लगाने में विफल वह सेना उन अभागों के लिए लौट आई जिनकी एक बहुत बड़ी संख्या मारी जा चुकी थी और जिनमें से २३,००० बन्दी बनाकर दास बना लिये गये थे। वर्षा ऋतु के आगमन के कारण फिरोज़ को दिल्ली लौटना पड़ा किन्तु उसकी आत्मा अब भी रक्त की प्यासी थी। दिल्ली जाने के पूर्व उसने एक अफगान को संभल का गवर्नर बनाया और आज्ञा दी कि प्रत्येक वर्ष कटेहर को आग और तलवार से वीरान कर दिया जाए। आगामी पाँच वर्षों तक प्रतिवर्ष वह स्वयं जाकर उस अफ़गान के कार्यों का निरीक्षण करता तथा रक्तपात की कमी को स्वयं पूरा करता था। उन दिनों न तो एक भी एकड़ भूमि में खेती की गई न कोई व्यक्ति घर में सो सका। तीन सैयदों की मृत्यु का बदला अगणित हिन्दुओं के प्राण लेकर पूरा हुआ।"[2]

इन परिस्थितियों से पार होने के बाद भी यहाँ के निवासियों की आत्मा पराजित नहीं हुई। कटेहर के राजपूत इस नरमेध की अग्नि के बाद भी अपनी स्वभाव-सिद्ध प्रकृति से वियुक्त नहीं हुए। नासिरुद्दीन (१३९४) के

---

१. मुस्लिम रूल० पृष्ठ २२७
२. कैम्ब्रिज० भाग—३ पृ० १८३

सिंहासनारूढ़ होने के समय कन्नौज से लेकर बिहार तक के प्रदेश में उथल-पुथल थी। अनेक जमींदारों के प्रमुख अपनी सीमा के भीतर स्वतंत्र रीति से शासन करते थे।[1] जौनपुर राज्य के संस्थापक ख्वाजा मलिक शुर्क को भी अन्तर्वेद (दोआब) के विद्रोहों का सामना करना पड़ा था। १४१४ से १४२१ ई० तक खोर (शमशाबाद जिला फर्रुखाबाद) कंपिला तथा साकिल में (इटावा से १२ मील दक्षिण-पूर्व) विद्रोह होते ही रहे।[2] मुबारकशाह के समय में कटेहर के राजपूतों ने पुनः अपने दुर्जेय अस्तित्व की घोषणा की।[3] इस धरती की यह गौरव-शाली परम्परा अबाध रूप से प्रवाहित रही है। अकबर[4] और औरंगजेब के सामने भी यहाँ की समस्या खड़ी हुई थी।

मंडल के दूसरे भाग बुंदेलखंड की भी इतिहास में अपनी विशिष्टता रही है। चन्देलों के पतन के उपरान्त इस धरती पर अविराम स्वातंत्र्य-चेतना का सूत्रपात १४वीं शताब्दी से बुन्देलों के अभ्युदय के साथ हुआ है। अकबर के समय में इस जाति की शक्ति का पूर्ण विकास था और वह केन्द्रीय राज-नीतिक संघर्षों में प्रमुख स्थान रखती थी। इनकी प्रबल शक्ति से लगभग सभी मुगल शासकों को मुठभेड़ करनी पड़ी है। कभी इन्हें मित्र बनाया गया है, कभी आपस में ही फोड़-तोड़ कर लड़ाया गया है, कभी इनको उखाड़ फेंकने का प्रयास किया गया है। इस प्रदेश की अन्तर्निहित शक्ति को संगठित करने और उसका नेतृत्व करने का गौरव महाराज छत्रसाल को है। इतिहास इनके प्रयत्नों को चिरकाल तक स्मरण रखेगा।

भगवंतराय के समय की ऐतिहासिक स्थिति

औरंगजेब की शासन-नीति और उसकी प्रतिक्रिया—भगवंतराय के विद्रोही व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि थी औरंगजेब की शासन-नीति। उनके ऐतिहासिक प्रयत्नों में इसी शासन-नीति की प्रतिक्रिया की समर्थ प्रतिष्ठा हुई है। अतएव यहाँ उस शासन के स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है जिसने आगामी एक शताब्दी से अधिक के भारतीय इतिहास की धारा ही बदल दी थी।[5]

---

१. कैम्ब्रिज भाग—३ पृष्ठ १८२

२. तुलना कीजिये मुस्लिम रूल० पृष्ठ १७३

३. मुस्लिम रूल० पृष्ठ २३० तथा २३६

४. आई न० पृष्ठ ४७८ तथा केशव कृत 'जहांगीर जस-चन्द्रिका'

५. ईसा की १८वीं तथा प्रारम्भिक १९वीं शताब्दियों की प्रमुख ऐतिहासिक धाराओं का प्रारम्भ औरंगजेब के शासन-काल में उसकी नीति के कारण हुआ।

—औरंग० पृ० २

औरंगजेब प्रारम्भ से ही हिन्दू धर्म के प्रति असहिष्णु था ।[1] दिल्ली के राजसिंहासन को जीत लेने के उपरांत तो उसकी स्वाभाविक धर्मान्धता की नीति ने सम्पूर्ण देश को क्षुब्ध कर दिया । उसने अकबर जैसे उदार पूर्वज की नीति के प्रतिकूल इस्लामी धर्मग्रन्थों की शासन-पद्धति को भारतवर्ष में लागू करके उसकी सफलता के लिए हर संभव प्रयत्न किया । इसी की सिद्धि उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य था । समय-समय पर दी गई राजाज्ञाओं एवं व्यक्तिगत रूप से लिखे गये पत्रों[2] में इसके प्रमाण ही प्रमाण भरे हैं । फलस्वरूप काफिरों को रास्ते पर लाने के लिए शासन के संगठित प्रयत्नों का चक्र चलने लगा ।

हिन्दू उत्तरदायी पदों से वंचित किए जाने लगे ।[3] उनकी धर्म-भावना को तिरस्कृत एवं उस पर आघात करने के लिए मंदिरों को तोड़ कर अपवित्र करने के आदेश जारी किए गए । सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर प्रतिबंध लगाए गए ।[4] अन्त में जजिया लगाकर आर्थिक पीड़ा देने के अतिरिक्त उनकी (हिन्दुओं की) धार्मिकता पर आघात किया गया । जिन तत्वों[5] को हिन्दू-समाज ने सर्वोच्च स्थान दिया था उन्हीं मर्मस्थलों पर प्रहार करना शासन का प्रधान कर्त्तव्य हो गया । दिल्ली की राज्य-शक्ति उस यंत्र की भाँति जड़ तथा संवेदन-विहीन हो गई जिसका स्वभाव और व्यापार अपरिवर्तनशील तथा एक विशेष प्रकार के साँचे में ढला हुआ होता है । इसका एक ही उद्देश्य था, काफिरों को तबाह करके उन्हें कुरान के अनुसार धर्मराज्य का नागरिक बनाना ।[6] शासन-प्रजा के कष्टों को देखता, सुनता, यह तो दूर रहा अपितु वह प्रजा को

---

१. तुलना कीजिये औरंग० पृष्ठ २६३

२. गोलकुंडा राजदरबार में अपने राजदूत के नाम लिखा गया औरंगजेब का पत्र ।
—औरंग० पृष्ठ २५३

३. १६७२ ई० में एक हुक्म इस आशय का निकला कि राज्य के कर वसूल करनेवाले मुसलमान ही हों । सब शासकों और ताल्लुकेदारों को भी आज्ञा दी गई कि वे अपने हिन्दू पेशकारों और दीवानों को निकालकर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करें ।
—औरंग० पृष्ठ २६८-२६

४. हिन्दुओं के होली और दीवाली त्यौहार मनाने के बारे में भी हुक्म हुआ था कि वे बाजार से बाहर और वह भी बहुत ही नियंत्रित रूप में मनाए जावें ।
—औरंग० पृ० २००

५. "सबसे कठिन जाति अपमाना" तथा "हरिहर निन्दा सुनें जो काना । पाप नाहि गोघात समाना ।"
—मानस०

६. तुलना कीजिये —औरंग० पृ० १८०

के बीच का कोई व्यक्ति कर सकता है।[1] फलस्वरूप इतिहास के इस संक्रांति काल में मानवीय शक्ति की प्रतिष्ठा को सर्वोपरि महत्त्व मिला।

हिन्दुओं में देशव्यापी जागृति

औरंगजेब का व्यक्तित्व असामान्य था। उसमें व्यक्तिगत गुण[2] भी प्रभूत मात्रा में थे जिनके कारण उसका स्थान भारत के शासकों में बहुत ऊँचा है। साथ-साथ उसकी हठधर्मिता, असहिष्णुता एवं कट्टरता भी अपूर्व थी। ५०-६० वर्षों के उसके शासनकाल में देश के अन्दर अथक संघर्षों की वेदियाँ सजती रहीं। न तो बादशाह ने झुकना स्वीकार किया और न जनता ने हार मानी। शासन ने यदि मथुरा को इस्लामाबाद[3] बनाना चाहा तो वहीं से किसान जाटों की सजग शक्ति ने प्रतिरोध किया और इतने शक्तिशाली सम्राट् के सिंहासन के नीचे ही अकबर के मकबरे को नष्ट करके मन्दिरों की भ्रष्टता का बदला चुकाया।[4] गुरु तेग बहादुर की हत्या का बदला चुकाने के लिए सिक्खों ने अपनी परम्परा ही बदल दी और शासन की अनीति का सामना करने के लिए अपने संगठन को सैनिक रूप दे डाला।[5] मारवाड़ के राज्य पर हावी होने के अनधिकारपूर्ण प्रयास को राजपूताने ने एक स्वर से असफल करने के संगठित प्रयत्न किए। यह संघर्ष निरन्तर ३० वर्षों तक चलता रहा।[6] बुंदेलखंड में छत्रसाल[7] ने बुंदेला जाति को संगठित करने में निष्ठा के साथ आजीवन अपने व्रत को निबाहा। महाराष्ट्र में तो शिवाजी ने जागरण के ऐसे प्राण फूंके कि वह, आगामी कई दशकों तक प्रबल-से-प्रबलतर होता हुआ दिल्ली तक फैल गया। मुगल शासन की विरोधिनी शक्ति इस काल में किसान जनता

---

१. भूषन भनत भाजे कासीपति विश्वनाथ
और का गिनावे नाम गिनती में अब की
दिल में डरन लागे चारों वर्न ताही समै
सिवाजी न होते तो सुनति होती सबकी"—भूषण

२. "उसका निजी जीवन बहुत ही सादा, निष्कलंक तथा धार्मिकतापूर्ण था।"
—औरंग० पृ० २६८

३. औरंग० पृ० १६५

४. औरंग० पृ० ५११

५. तुलना कीजिए औरंग० पृ० २०८

६. तुलना कीजिए औरंग० पृ० ५०३

७. "छत्रसाल के विद्रोही हो जाने का समाचार सुनकर (सन् १६७१ ई० में) बुन्देलों में नए उत्साह का संचार हो गया।"—औरंग० पृ० ५४६

से संगठित होकर खड़ी हुई थी, इसीलिए इतने बड़े शासन के सामने वह दुर्द्धर्ष बनी रही और अपने विरोधी को जर्जर एवं खोखला कर गई। हिमालय से लेकर दक्षिण महाराष्ट्र तक ऐसे आन्दोलनों की जो एकस्वरता थी वह प्रबल एवं सामूहिक जन-जागरण को प्रमाणित करती है। जनता ने नृशस-शासन के स्वरूप की संगति पुराण कथाओं के साथ मिला ली थी एवं उसे असुर राज्य का नाम देने लगी थी।[1] शासन की दृष्टि में प्रजा काफिर थी और प्रजा की दृष्टि में शासन आसुरी एवं बादशाह असुर कुंभकर्ण था। दूसरी ओर प्रतिभाशाली जननायकों को श्रद्धावश उनके धर्मपरित्राणक गुण के कारण जनता ने अवतार की महिमा से अभिषिक्त किया।[2] साकारोपासक जनता ने अपनी सम्पूर्ण परिस्थितियों की एक व्यावहारिक व्याख्या की और अपनी ही शक्ति से सन्नद्ध हुई। इस आस्था से नेताओं तथा जनता में आत्मबल की वृद्धि हुई। हिन्दू जनता अब मुसलमानी शासन से पूर्णतया निराश हो चुकी थी। औरंगजेब ने उसका नग्नतम रूप प्रस्तुत करके हिन्दुओ को स्थायी शत्रु बना लिया था। वह प्रत्येक मूल्य पर इसे तोड़कर फेक देना चाहती थी, इसलिए समस्त आपत्तियों को[3] झेलते हुए अपने इस उद्देश्य की सिद्धि मे प्रवृत्त रही। "हिन्दू पत" की कल्पना का भी इस परिस्थिति में सूत्रपात हुआ था; सम्पूर्ण देश किसी भी प्रकार इसकी सिद्धि के लिए लालायित एव भारी-से-भारी मूल्य चुकाने को प्रस्तुत था। जो भी हिन्दू नायक मुस्लिम शासन को उन्मूलित कर दे उसी के मस्तक पर गौरव पर टीका लगाने के लिए हिन्दू जगत् प्रस्तुत था।[4] मराठों द्वारा नोचे-खसोटे जाने पर भी उत्तर भारत के महत्त्वाकाक्षी प्रमुखों ने बार-बार मराठा शक्तियों को जो आमंत्रित किया उसके भीतर यही रहस्य

---

१. कुम्भकर्न औरंग को औनि अवतार ले के
मथुरा जराइके दुहाई फेरी रब की"—भूषण

२. तुम सिवराज ब्रजराज अवतार आज,
तुमहीं जगत-काज पोषत भरत हो।—भूषण

३. दक्षिण और मरवाड मे जहाँ शासन-विरोधी संघर्ष दीर्घकाल तक चले थे वहाँ की दशा बहुत ही बिगड गई थी। फिर भी प्रतिरोध के लिए वहाँ की जनता का दृढ़ रहना यह प्रकट करता है कि उनकी शासन-विरोधी संकल्प-शक्ति बहुत ही दृढ थी। तुलना कीजिये औरंग० पृष्ठ ४१५ तथा पृष्ठ ५०३

४. महाबली भगवंत कठ कवि कहै याते
तोही पै रही है आज लाज हिन्दूपत की—कंठ कवि

था। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की मान्यतानुसार अपने बान्धवों से लूटा जाना भी स्वीकार था।

औरंगजेब के बाद धार्मिक तनातनी का वातावरण समाप्त नहीं हुआ। मारवाड़ के अजितसिंह का अजमेर की प्रसिद्ध मस्जिद को गिराना एवं भ्रष्ट करना प्रसिद्ध है। स्वयं भगवन्तराय ने जानिसार खाँ[1] के साथ धार्मिक मामले को लेकर ही युद्ध किया था। गाजीपुर पर आक्रमण करके लौटते समय कमरुद्दीन खाँ मथुरा में उत्पात करते हुए दिल्ली पहुँचा था,[2] जो सभी हिन्दुओं को अखर गया था। धर्म के नाम पर शासन से मुठभेड़ करने वाले वीरों के के प्रति लोक अत्यधिक श्रद्धा और सम्मान प्रकट करता था[3] एवं उन हिन्दुओं को आश्चर्य एवं निरादर की दृष्टि से देखता था जो सहधर्मी होकर भी इन वीरों के विरोध में खड़े होते थे।[4] हिन्दुओं का यह जातीय संगठन महाराज शिवाजी के समय में ही स्थापित हो गया था। महाकवि भूषण की वाणी ने इसकी स्पष्ट व्यंजना की :—

काल मही सिवराज बली हिन्दुआन बढ़ाइबे को उर ऊटै
भूषण भू निरम्लेच्छ करी वहै म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै
हिन्दु बचाए इही अमरेस चंदावत लौं कोउ टूटै सो टूटै
चंद अलोक तिलोक सुखी यह कोक अभाग जो सोग न छूटै।

—"भूषण" २५४

चंदावत के टूटने (विरोधी बनने) पर कवि की वाणी से जो क्षोभ व्यक्त हुआ है वह उस समय की हिन्दू जाति का क्षोभ है। कवि ने युगानुभूति को वाणी दे दी है। मध्यदेश की अकबर के समय से सोई हुई[5] धरती में अपने उद्योगों से भगवंतराय ने जागरण का प्रकाश बिखेरकर इस धरती की चेतना-शक्ति को जगाने में अपने को व्यय करने का गौरव प्राप्त किया है।

---

१. मीरातुल पृष्ठ १७० ब
२. पेशवा दफ्तर १४ पत्र संख्या ६
३. "गुन कर्न अर्जुन भीम के भगवन्तराय भुलाव में"—विरुदावली तथा शिवाजी के सम्बन्ध में भूषण की अनेक उक्तियाँ मिलती हैं।
४. "राउ बुन्देल हरौल दिली को भयो है कहा यों भई मतियाके"

—शम्भूनाथ

तथा

"साह के बावन हजारी धरे सिर पर सरम भारी"

—त्रि०

५. तुलना कीजिए मु० मा० पृष्ठ ६५१

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

मंडल में मध्यदेश की सार्वकालिक मान्यता—सम्पूर्ण मंडल की स्थिति मध्यदेश के अन्तर्गत है। मध्यदेश की मान्यता समय-समय पर विस्तृत होती रही। पश्चिम में ब्रह्मावर्त (सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच) तथा पूर्व में अन्तर्वेद (गंगा-यमुना के बीच) के मिल जाने से मध्यदेश का बनना प्रारम्भ हो गया। क्रमशः हिमालय तथा विन्ध्य के बीच पश्चिम में विनशन (सरस्वती के अन्तर्द्धान होने का स्थान) से लेकर प्रयाग तक के भू-भाग मध्यदेश के भीतर आ गए।[1] जब भारतवर्ष की राज्यशक्ति का केन्द्र पूर्व में पाटलिपुत्र हो गया तब मध्यदेश की सीमा का प्रस्तार पूर्व में बढ़ा। महावग्ग के अनुसार मज्झिमदेश (मध्यदेश) की पूर्वी सीमा महासाल के आगे कजंगल (राजमहल बिहार की पूर्वी सीमा) पूर्वोत्तर सीमा सलावती नदी, दक्षिणी सीमा सेत कीण्णक, पश्चिमी सीमा थून (स्थूण, स्थाणेश्वर) तथा उत्तरी सीमा उसीर ध्वज पर्वत थी।[2] मौर्य साम्राज्य के उपरांत उत्तर भारत की राज्य-शक्तियाँ मालवा और पांचाल (कन्नौज) में केन्द्रित हुईं; फलस्वरूप मध्यदेश की सीमा दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर सौराष्ट्र, अमेर, गुजरात तक मानी जाने लगी।[3] मध्यदेश की सांस्कृतिक परम्परा के प्रति इस देश के निवासियों के हृदयों में इतनी श्रद्धा रही है कि इस भूमि की पुण्य कीर्ति के साथ अपनी भूमि को मिलाने में शक्तिशाली और प्रभुत्व प्राप्त करने वाली शक्तियों ने सदा अपने को गौरवान्वित अनुभव किया।

इस तरह मध्यदेश की सीमा उत्तर भारत के इतिहास के साथ ही परिवर्तनशील रही है। ब्रह्मर्षि देश की स्थिति इस मध्यदेश के भी केन्द्र में है[4] जिसकी उपमा शरीर में स्थित हृदय से दी जा सकती है। ब्रह्मर्षि देश, देश के शरीर में संस्कृति रूपी रक्त को प्रवाहित करता रहा।[5] हमारे मण्डल की

---

१. बृहत् इति० भाग-१, पृष्ठ ४

२. बृहत् इति० भाग-१, पृष्ठ ४

३. गुजरात, पृष्ठ ८

४. "गंगा-यमुना के बीच का देश ही ब्रह्मर्षि देश था जहाँ वैदिक सभ्यता और संस्कृति परिपक्व होकर अन्यत्र प्रसारित हुई। —बृहत् इति० भाग-१, पृष्ठ १३

५. आश्रम संस्कृति के गढ़रूप में सम्पूर्ण देश में फैले हुए थे। इन आश्रमों का गंगा की घाटी, विशेषकर ब्रह्मावर्त और नैमिषारण्य में फैले आश्रमों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क

केन्द्र-भूमि मध्यदेश की आदि कल्पना के साथ संबद्ध है। उसकी भूमि का एक बड़ा अंश ब्रह्मावर्त के भीतर है। अतः देश के सांस्कृतिक आन्दोलनों में इस मण्डल का महत्व पूर्वकाल से ही प्रमाणित है।

भगवंतराय के समय में मध्यदेश की मान्यता के प्रति जागरूकता

परवर्ती काल में मुस्लिम शासन के स्थापित हो जाने के कारण जब प्राचीन मान्यताएँ संकटग्रस्त थीं उस समय मध्यदेश की कल्पना अस्पष्ट और धूमिल हो गई। मध्यदेश की पुण्यभूमि ही इस युग में आक्रान्ताओं के पंजे में सबसे कसकर जकड़ी हुई थी परन्तु फिर भी प्राचीन साहित्य की सुरक्षा के कारण यह नहीं संभव हो सका कि जनता उसे सर्वथा भुला बैठती। हाँ, असमय के दिनों में वह क्षीण होता गया।[1] उसका फैलाव टूट कर अलग हो गया। संभवतः आगरा-मथुरा से लेकर प्रयाग तक के अंतर्वेद प्रदेश के लिए मध्यदेश नाम का व्यवहार होता था। गंगा-यमुना के बीच की भूमि विशेष पवित्र मानी जाती रही है एवं मध्यदेश नाम पड़ने की संभावना मध्य (बीच) में स्थित होने के कारण है।[2] अंतर्वेद और मध्यदेश को 'देव' पर्याय के रूप में ही मान्यता देते थे। 'जातिविलास' में देशों के नाम को उन्होंने मद्धिदेश लिखकर उसका निम्नांकित उदाहरण प्रस्तुत किया है जो अंतर्वेद से सम्बन्धित है। डा० नगेन्द्र ने अपने 'देव और उनकी कविता' ग्रन्थ में मद्धि को मध्यप्रदेश मान लिया है जो ठीक नहीं जान पड़ता है। नायिका का देश-भेद के अनुसार चित्रण करने में भी देव की वाणी इस संस्कार का अनायास उद्घाटन कर देती है :

रहता था जहाँ ऋषि धर्म के नाम पर जीवन की नई विधियों और नये विचारों का साक्षात्कार करते थे।

—गुजरात पृष्ठ-८

१. "भारत का मध्य-कन्नौज के इर्द-गिर्द का देश है जिसे कि वे मध्यदेश अर्थात् राज्य का मध्य भाग कहते हैं।...परन्तु यह राजनैतिक केन्द्र भी है क्योंकि पूर्व समयों में उनके बहुत प्रसिद्ध शूरवीर और राजागण यहां ही निवास करते थे।"

—अलबेरूनी० भाग० २, पृष्ठ १२३

२. बहुत प्राचीन काल में आर्यावर्त्त और इलावर्त्त (मध्य हिमालय) के बीच में मध्यदेश पड़ता था। नाम पड़ने का संभवतः यही कारण है।"

—बृहत् इति० भाग-१, पृष्ठ ४

कोकिल काम-कला सकलानि, कलानिधि सी गुनरूप निधानै
गीत संगीत विनीत सदा, सुभ कर्म पुनीत सबै सुख मानै
देव अचार-विचार रची सुचि सांची सची रुचि कै पहिचानै
अन्तरवेद विचच्छन नारि निरंतर अंतर की गति जानै

—रसविलास तथा जातिविलास

जैसिंह विनोद की निम्न पंक्ति से प्रमाणित होता है कि देव ने अन्तर्वेद और मध्यदेश को पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है।

"दिल्ली सुलतान मध्य भूमि भूप भानु मारु
मालौ सुलतान चहुआन खान खीची है"

"मध्यभूमि" मध्य देश ही है। मध्य देश नाम की स्मृति के संस्कार एक व्यापक धरातल पर थे। तत्कालीन काव्य में इस शब्द का प्रयोग कई कवियों की वाणियों में संग्रथित है :

धनहरिकेश नरेश भी मध्यदेश अवतार।

—विरुदावली

तथा

फैल्यो मध्यदेश में समूह तुरुकाने को

—भूधर

इन उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि मध्यदेश का सम्बन्ध हमारे मंडल के साथ "प्रारम्भकाल से और निरन्तर रहा है। मध्यदेश की भावना का विकास जिसके केन्द्र से हुआ था वहाँ की जनता के संस्कारों से इस नाम के एवं नाम के साथ बँधे भाव का तिरोधान कभी भी संभव नहीं हो सका। इन गहरे संस्कारों के पड़ने के लिए आधार भी बहुत गहरे है। भगवंतराय के मंडल के कवियों में इस मध्यदेशीयता के श्रेष्ठभाव का विशेष आग्रह दिखता है। इससे उनके समय में मध्यदेश के प्राचीन संस्कारों की जागरूकता का आभास मिलता है।

हमारे मंडल की बाहरी सीमा-रेखा पर काशी, अयोध्या और मथुरा जैसे पुण्य नगर है, जहाँ भगवान् शिव, राम और कृष्ण का शाश्वत साहचर्य देश के हृदय में भावना-बद्ध है, वहीं ब्रह्मावर्त, नैमिषारण्य तथा ब्रज भूमि के वन है जहाँ तपस्वियों तथा भगवत-रस रसिकों की भीड़ रहती थी। मंडल के अन्तर्गत प्रयाग, झूसी, शृंगवेरपुर, कालंजर और चित्रकूट जैसे तीर्थ हैं, जिनकी भूमि में विचरण करने से कलुष धुल जाता है।[1]

---

१. तुलना कीजिये म० वनपर्व-अध्याय ८३ तथा ८५

मध्यदेश महाकाव्यों और महापुरुषों का लीलास्थल रहा है

आर्य संस्कृति के अधिष्ठाता भगवान् व्यास और आदिकवि वाल्मीकि की वाणी यहीं से प्रवाहित होकर सम्पूर्ण देश के सांस्कृतिक जीवन के लिए पानी और पवन की भाँति अनिवार्य हो गई है। बौद्धकाल के महाकवि अश्वघोष भी यहीं के थे। जन्म, जीविका अथवा अन्य अनेक कारणों से इस मंडल के साथ इस देश के कवि मनीषियों का सम्बन्ध रहा है, इसलिए यहाँ की वाणी सम्पूर्ण देश के पंडितों के लिए आदर्श रूप में बखानी गई है।[1] यहाँ की स्त्रियों की वेशभूषा सम्पूर्ण नारी-जगत् के लिए अनुकरणीय बताई गई है।[2] श्रीहर्ष जैसे महाकवि को इस प्रदेश के गुण ग्राही राजा से ताम्बूल और आसन प्राप्त करने में जो सुखानुभूति हुई थी, अवश्य ही उसकी पृष्ठभूमि में इस प्रदेश की गौरव-शालिनी साहित्यिक परम्परा की मान्यता रही होगी।[3] भवभूति, वाक्पतिराज तथा राजशेखर जैसे महाकवियों को आदर देनेवाले सिंहासन द्वारा मिले सम्मान से क्या साधारण आत्मतुष्टि हुई होगी। इस धरती ने अपनी इसी परम्परा को निबाहते हुए मध्ययुग (मुस्लिम काल) में रामानन्द, वल्लभाचार्य, कबीर, सूर, तुलसी और भूषण जैसे महा-कवियों को उत्पन्न किया जिनकी वाणी का संबल पाकर पराजय की जड़ता में डूब कर नष्ट होने से हमारी जाति अपनी रक्षा कर सकी है। इन महाकवियों की वाणी में हमारी आस्था को आधार मिला। इस धरती की पुनीतता का संस्कार

---

१. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्त:
पांचालमंडल भुवां सुभग: कवीनां
श्रोत्रे मधु: क्षरति किंचन काव्य पाठ:

—का० मी० अध्याय १०

२. यो मार्ग: परिधान कर्मणि गिरां या सूक्ति मुद्रा क्रमे
भङ्गिर्या कबरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च—
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकैरिहान्यच्च
यच्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु मरसा तत्कौतुकिन्य: स्त्रिय:

—बा० रा० १०।६०

३. ताम्बूलद्वय मासनं च लभते य: कान्यकुब्जेश्वरात

—नैषध सर्ग २२

हमारे अन्तरंग में बहुत गहरे उतरा हुआ है।[1] तुलसी चित्रकूट चलने के लिए[2] व्याकुल रहते हैं। रसखान जैसे भावुक कवि तो करोड़ों सुवर्ण-महलों को करील के कुंजों पर न्योछावर कर देना चाहते हैं।[3]

कवियों की यह अनुभूति वैयक्ति अथवा एकदेशीय नहीं वरन् जाति की सामूहिक एवं सार्वकालिक भावना से अनुस्यूत है। प्राचीन काल में लोक-भावना ने अपने इसी भाव की अभिव्यक्ति धार्मिकता की ओट लेकर तीर्थों की स्थापना करने में प्रकट की थी। तीर्थों की जैसी संकुलता यहाँ है वैसी अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। इनकी मान्यता के मूल में जो भावनाएँ कारण बनी होंगी वे कवियों की अनुभूति में वाणी-बद्ध होकर प्रकट हो गई हैं। आज भी गत-प्रेम तीर्थ-यात्री उसी श्रद्धा-भाव से विभोर मिलते हैं, जैसी कवियों की उद्भावना है। इस सांस्कृतिक परम्परा और उसकी अप्रतिहत चेतना से प्रभावित हुए बिना कोई भी संवेदनशील जाति कैसे रह सकती है? मुस्लिम काल में जातीय संस्कृति की ओर संकटकालीन अवस्था में इस मंडल के संतों एवं भक्तों ने हिन्दू जाति को विचारों एवं भावों के जो कवच धारण कराये उनके कारण हमारा समाज मुसलमानों की तलवार के सामने दृढ़तापूर्वक टिका रहा। इस काल के इतिहास में भी हमारे मंडल का बहुत बड़ा ऋण है। आध्यात्मिक चेतना को प्रसारित करने के साथ ही साथ यहाँ से तलवार पर पानी चढ़ाने की प्रेरणा भी देश के उत्थान के लिए मिली है। शिवाजी की "भवानी" के साथ भूषण की वाणी भी म्यान में चढ़ जाती है। आभ्यंतरिक साधनाओं के साथ ही साथ जीवन की कठोर यथार्थवादी परिस्थितियों से आँख मिलाकर खड़े होने और उनके लिए प्राणपण से जूझने के लिए प्रेरणा देने में इस मंडल की कवि-वाणी ने समानरूप में स्फूर्ति प्रदान की है। भगवंतराय के मंडल के कवियों की वाणी इसी मध्यदेशीय परम्परा में स्थान ग्रहण करती है। उनके काव्य में एक ओर अपने नायक को प्रेरणा देनेवाले संकेत हैं तो दूसरी ओर उसके कार्यों की अभ्यर्थना की गई है :

---

१. अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे
पुण्यश्चरमणीयश्च वसत्विह भवान्सुखम्

—वाल्मीकि० अयोध्या काण्ड ५४।२२

२. अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु—विनय०

३. कोटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं

—रसखान

बीच की खाई सँकरी अथवा पाटी जाने योग्य है।[१] "नगरों में रहने वाली जातियों में अधिकांश मुसलमान ही थे जिनमें प्रमुखता विदेशों से भारत में आनेवाले लोगों की थी। हिन्दुओं की भी कुछ जातियाँ उनके साथ ही रहती थीं जो राज्य में नौकरी को ही अधिक महत्व देती थीं। इनकी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत उन लोगों से बहुत सुधरी हुई थी जो गाँवों में रहकर केवल कृषि पर निर्भर रहते थे क्योंकि इनके हाथों में नौकरी का निश्चित वेतन प्रत्येक मास आ जाता था तथा व्यापार इत्यादि की भी सुविधा थी।"[२]

गाँवों में रहनेवाले प्रमुख रूप से हिन्दू थे अथवा देश के ही लोग जिन्होंने किसी कारणवश मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था। ये लोग प्रजावर्ग में आते थे, जिनकी आय से नगरों की शान-शौकत को पूरा किया जाता था। ऊपर बताए गए दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की दृष्टि में ग्रामीणों का सम्मान न था। यहाँ की स्थिति का चित्रण मोरलैंड के शब्दों में इस प्रकार है—"जुलाहे स्वयं नंगे रहकर दूसरों का तन ढँकने के लिए कपड़े बुनते थे। किसान स्वयं भूखे रहकर कस्बे और नगर निवासियों का पेट भरने के लिए कठिन परिश्रम करते थे।...साधारण जनता एक फसल से दूसरी फसल तक आधा पेट खाकर रहती थी और दूसरी फसल की आशा लगाए रहती थी।"[३]

औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम तीस वर्षों में देश के किसानों (गाँवों) की स्थिति (आर्थिक) को समझने के लिए उसे दो भागों में बाँटकर देखना होगा। एक दक्षिण भारत और दूसरा उत्तर भारत। दक्षिण की स्थिति तो अत्यन्त खेदजनक एवं करुण हो गई थी।[४] उत्तर की भी स्थिति लगभग उसी के समकक्ष ही रही होगी। "राजस्थान में अविराम युद्ध के कारण मरु की दशा वीरान हो गई थी।"[५] उसी प्रकार जहाँ-कहीं संघर्ष थे वहाँ ऐसी ही अवस्था रही होगी। हमारा मंडल भी सतत विद्रोहियों का प्रदेश रहा है। छत्रसाल बुंदेला ने इसी समय मे बुंदेलखंड में अपने पैर जमाए थे और मंडल के दूसरे खंड (अवध) में

---

१. मु० एट० पृ० १४

२. लो० हि० इ० इं० पृ० २७

३. अक० औरंग० पृ० ३०४-५

४. औरंग० पृष्ठ ४७७

५. औरंग० पृष्ठ ५०३

भी बैस राजपूत भयंकरतम हो गए थे।[1] इसलिए कह सकते हैं यहाँ भी ग्रामों का जीवन निराशा और निर्धनता में सर्वथा डूब चुका था। भगवन्तराय के जन्म के समय निर्धन पिता के सामने पुत्र जन्म के अवसर पर भी प्रसन्नता के स्थान में विषाद का प्रकट होना इसका प्रमाण है।[2] इसी घटना से जन-जीवन की मानसिक पीड़ा का अनुमान किया जा सकता है।

समाज की आर्थिक रीढ़ टूट चुकी थी। परिणामस्वरूप उसके भीतर उच्छृंखल तत्वों का प्रवेश होना अवश्यंभावी था। अधिकांश समाज में एक अव्यवस्था फैली होगी। उद्दंड प्रकृति के लोगों ने पड़ोसियों पर ही अपने हाथ साफ किए होंगे;[3] तथा उनके आचरण भी दोषपूर्ण हो गये होंगे। चारित्रिक हानि की यह स्थिति जातीय जीवन के लिए पराजय से भी अधिक विषमय एवं भयंकर थी। यदि इसका निर्विघ्न विकास होता तो सम्भव है, हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही विनाश के हाथों पड़ जाता। किन्तु ऐसा नहीं हो सका। देश में उच्चकोटि के चरित्रवान् जन-नायकों के नेतृत्व से पहले प्रकार की प्रवृत्ति राष्ट्र अथवा जाति-हित के लिए साम्राज्य से संघर्ष करने के लिए इसी काल में खड़ी की गई तथा दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति जो आंतरिक एवं व्यक्तिगत जीवन से अधिक सम्बन्धित थी, साहित्य में अभिव्यक्त हुई, जिससे हृदय का भार हलका हुआ। हलका ही नहीं हुआ अपितु व्यक्त होने पर उसकी आदरपूर्ण व्याख्या की गई, जिससे प्रभावित होकर रचनाकार एवं सामाजिक दोनों अभिव्यक्त वस्तु के उदात्त पहलुओं को भी अनिवार्य रूप से देखने लगे। किसी पतनशील भाववाले व्यक्ति को उसी की नजरों में ऊँचा बनाये रखना सचमुच बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि है जिसे व्यक्त करना अनिवार्य था। उसे युग ने स्वर दिया और प्रकट हो जाने पर सतर्क मनीषा ने उसको गौरव का जामा पहनाकर सभ्य बनाया। इस प्रकार हमें अपने भीतर कोई कमजोरी नहीं अनुभव होने दी गई। तभी हम उस संकटपूर्ण स्थिति से अपने को सुरक्षित रखते हुए बाहर निकाल सके। यह संक्रान्तिकालीन अन्तर्दृष्टि

---

१. औरंगजेब के नाम लिखे गये बैसवारा के तत्कालीन फौजदार रजन्दाज खाँ के पत्रों से इसकी पुष्टि होती है। —फ० नवा० पृ० ३० में उद्धृत

२. "पुत्र जन्म का संवाद सुनकर भी अड़ारूसिंह ने अपना खेत जोतने का काम न बन्द किया" इससे उनके हृदय की निराशा प्रकट होती है। —फतेहपुर० १०२

३. स्वयं भगवंतराय के पिता की पारिवारिक सम्पत्ति छीन ली गई थी। —फतेहपुर० पृ० १०२

हमारे इतिहास के संकट को बड़ी सफाई से निवारित कर सकी है। हम उस युग के पौरुष और उसकी मनीषा पर गर्व कर सकते है।

भगवंतराय ग्राम-संस्कृति के नायक थे

भगवंतराय एक छोटे से गाँव में उत्पन्न हुए थे। उनका उद्देश्य इसी ग्राम-संस्कृति को प्रतिष्ठित पद पर पहुँचाना था। मुगल उनके इस प्रयास को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते थे, इसीलिए अपने खेमों में उनके लिए वे गाँवों का प्रतिनिधि 'गँवारा' या ग्रामीण के तिरस्कारपूर्ण सम्बोधन का व्यवहार करते थे। भगवंतराय ने समाज की संक्रान्ति काल की इस घड़ी में वाह्य एवं आन्तरिक दोनों शक्तियों का नेतृत्व किया। सैन्य-शक्ति का गठन राष्ट्रहित के लिए युद्धभूमि में किया गया एवं आंतरिक शक्ति का साहित्य-जगत् में। वे एक उच्चकोटि के चरित्रवान् जननायक और प्रतिभा सम्पन्न उत्कृष्ट कवि भी प्रमाणित होते है।

गाँवों का जीवन-स्रोत सूखा नहीं था

यहीं समाज की शिक्षा और नैतिकता का सर्वेक्षण कर लेना भी उचित होगा। इतिहासकारों को मुगलकाल में शिक्षा की व्यवस्था समझने के लिए जो आधार मिले है उनसे प्रकट होता है कि राज्य इस दिशा में अत्यन्त उदासीन था। फलस्वरूप शिक्षा की दृष्टि से समाज घोर अंधकार में था। फिर भी शिक्षा के कुछ प्राचीन केन्द्रों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था। काशी, अयोध्या, मथुरा और प्रयाग आदि क्षेत्र हमारे मंडल को घेरे हुए है। अतएव यहाँ अपेक्षाकृत शिक्षा और साक्षरता सविशेष रही होगी। फिर भी इस क्षेत्र की, शिक्षा के क्षेत्र में, कोई विशिष्ट उन्नति का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। न तो हमने व्यावहारिक ज्ञान में कोई उन्नति की न आध्यात्मिक ज्ञान में। हमने जो कुछ किया वह बस इतना ही था कि इतनी विषम परिस्थिति में भी हमने अपने पूर्वजों के ज्ञान की रक्षा की और निरक्षर रहते हुए भी उससे सम्पर्क स्थापित किए रहे एवं विद्या तथा विद्वानों को महत्त्व देते रहे। पढ़े-लिखे पंडितों को निमंत्रित करके उनसे पुराण इत्यादि ग्रन्थों को सुनना एक धार्मिक कर्तव्य हो गया था। इस प्रकार समाज के हर स्थिति के व्यक्ति का ज्ञान बढ़ता था एवं उसके हृदय में आत्म-गौरव का भाव दृढ़ होता था। काव्य का आस्वादन भी व्यासपीठों की ही भाँति के मंचो के माध्यम से होता था। इस युग में की गई अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ मिलती है जिनके कारण प्राचीन साहित्य की सुरक्षा हुई है, यह प्रमाणित है। यह समाज की शिक्षा-रुचि के ही कारण संभव हुआ। रीति-

काल के काव्य-ग्रन्थों में शिक्षा के साथ अनेक अन्य विद्याओं सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे गए। काव्य-शिक्षा के तो विद्यालय चलते थे। असोथर काव्य-शिक्षा का भगवंतराय के कारण केन्द्र-स्थान हो गया होगा। संगीत-शिक्षा के लिए भी यहाँ संगीतज्ञों के समागम होते थे।[1]

जहाँ तक इस समय की नैतिकता का प्रश्न है, हम केवल शृंगारी काव्य को ले कर इस समाज पर आरोप नहीं लगा सकते। अनैतिकता के लिए आधार भी कहाँ हैं काव्यों में परकीया और सामान्या नायिकाओं के सम्बन्धों की कहाँ नहीं भर्त्सना की गई? वैसे अनैतिक तत्व भी रहे होंगे अवश्य; किन्तु किस समाज और किस युग में अनैतिक तत्त्व नहीं रहे? देश में अभी तक जातियों के भीतरी संगठन अपने भीतर के व्यक्तियों के आचरणों पर पूरा नियंत्रण रखते थे, जो काफी समर्थ तथा प्रभावशाली होते थे। यहाँ यदुनाथ सरकार के शब्दों को उद्धृत करके इस कथन का प्रमाण भी दिया जा सकता है—"अनिवार्य रूप से यह स्वीकार करना पड़ता है कि तब भी करोड़ों भारतीयों का गृहस्थ जीवन पवित्रतामय और सीधा सादा चंचलता तथा हँसी-खुशी से भरपूर था। इसी सदाचार ने भारतीय जन समाज को पिछले साम्राज्य के पतित रोमन लोगों के से पूर्ण सर्वनाश के दुर्भाग्य-पूर्ण अन्त से बचा लिया।[2]

इस काल में नीति-सम्बन्धी अनेक रचनाओं का रुचिपूर्ण पठन-पाठन एवं सृजन यह प्रमाण प्रस्तुत करता है कि तत्कालीन समाज को शिक्षा देनेवाली तथा शिक्षा ग्रहण करनेवाली बुद्धियाँ समाज-हित के प्रश्नों के मनन और विवेचन के उपरान्त उनके लिए समाधान प्रस्तुत करने में सचेत एवं जागरूक थीं।

धार्मिक परिस्थिति

हिन्दू मुसलमानों में स्वाभाविक तनातनी : सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों की चर्चा करना व्यर्थ समझकर हम यही कहेंगे कि तत्कालीन समाज के अंगरूप हिन्दू और इस्लाम दो प्रमुख धर्म थे। हिन्दू देश की जनता का धर्म था जो इसी देश में उद्भूत हुआ था परन्तु वह अब पराधीन था। इस्लाम विजयी एवं शासकों का

---

१. बड़ौदा के ध्रुपद-गायक श्री भरत व्यास ने बताया है कि एक पर्यटक भगवंतराय के समय में असोथर आया था। उसने एक पुस्तक में अपने संस्मरण लिखे हैं। उक्त पुस्तक में असोथर के संगीत-दरबार का भी विवरण है। व्यासजी ने उक्त पुस्तक की हस्तलिखित प्रति पिलानी के भगवानदास कम्पाउंडर के यहाँ देखी थी।

२. औरंग० पृष्ठ ५६३

धर्म था जो अपने को पूर्णतया विदेशी समझने में अधिक गौरव का अनुभव करता था। विजेता अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे। यही उनका अभीष्ट था किन्तु पराजितों की आत्मा अभी नहीं मरी थी। शताब्दियों के शासन को स्वीकार करके भी हिन्दू लोग मुसलमानों को सदा अस्पृश्य और म्लेच्छ समझते रहे। उनके हाथ का पानी तक पी लेने पर धर्म-बहिष्कार हो जाता था। दूसरी ओर मुसलमान उन्हें काफ़िर घोषित करते रहे। इस खींचातानी के कारण दोनों ही जातियों के बीच में बहुत बड़ी दूरी आ गई थी।[१] दोनों ही धर्मों के अनुयायी एक-दूसरे की स्थिति से आतंकित और भयभीत बने रहते थे। औरंगजेब और उसके अनुयायियों की नीति सदैव इस खींचातानी को बराबर बढ़ावा देती रही। इसीलिए हिन्दू जाति सदैव एक बाहरी संकट के भय के कारण कभी आपसी भेद-भाव और आन्तरिक असंगतियों की ओर उन्मुख नही हुई। यहाँ उन्मुखता से दो अभिप्राय है (१) ऐसी परिस्थिति में आपस में ही संघर्ष होता अथवा (२) उनको मिटाने के लिए विशेष ऊर्जा के साथ सौहार्दपूर्ण कोई नवीन आन्दोलन चलता। इनमें से किसी का भी विशेष रूप से स्थापन नहीं हुआ। यदि था भी तो जनता से उसका कोई सम्बन्ध नही रहा। सवर्ण और अवर्ण सभी के सामने मुसलमान समान रूप से प्रतिपक्षी थे। इस संकट के निदाघ में हिन्दुओं के भीतर के 'अहि, मयूर, मृग, बाघ' आपसी वैमनस्य का भूलकर एक साथ खड़े थे।

हिन्दुओं में प्रतिक्रिया के चिह्न : संकट के समय आत्मरक्षा के लिए हिन्दू अपने बीच कठोर-से-कठोर नियमों को बनाते गए। वे कही भी अपने बीच शिथिलता अथवा लचरपन नही आने देना चाहते थे। समाज के ये दोष ही सही किन्तु इनमें उसकी इतनी अधिक निष्ठा थी कि न तो पंडितराज जगन्नाथ[२] का शास्त्र-ज्ञान उसे समझा सकता था और न बाजीराव[३] द्वितीय की शक्ति ही उसकी अवहेलना कर सकती थी। फिर भी उस समाज ने अपने भीतर परिवर्तन कर सकने की क्षमता के भी प्रचुर लक्षण उसी युग के इतिहास में प्रकट किये हैं। अजितसिंह ने अपनी पुत्री (फर्रुखसियर की बेवा) को पुनः हिन्दू बेवा की भाँति अपने घर में रख लिया था।[४] यह उस युग के लिए नई घटना थी। मुस्लिम जगत् में इससे सनसनी फैल

---

१. औरंग० पृष्ठ ६०८-९
२. तुलना कीजिये भा० विलास—पृष्ठ ११-१२
३. कुछ इतिहासकारों का मत है कि मस्तानी से विवाह की छूट न होने से बाजीराव को मानसिक आघात लगा था।
४. लै० मु० भाग-१, पृष्ठ ४२९

अब इस धारणा के विपरीति ज्यों-ज्यों रीतिकाल का अध्ययन गहराई से होता जा रहा है त्यो-त्यों वह पुन: संस्थापित और समादृत हो रहा है।[१] वास्तव में रीति-काव्य की परिस्थितियों को समझने की भूल के कारण उसके सम्बन्ध में किए गए निर्णय भी भ्रान्तिपूर्ण हो गए। केवल दिल्ली-दरबार की स्थिति को देश की जनता की स्थिति नही माना जा सकता।[२] उसका अधिकांश प्रभाव मानते हुए भी उस कुहासे और तमिस्रा के भीतर जलनेवाली मशालों के प्रकाश को क्योंकर भूला जा सकता है जो जनता के बलिदान के रक्त से जगमगा रही थीं। इस काल के उन समस्त विद्रोही तत्वों को एक साथ मिलाकर देखने पर पता लगता है कि उनका स्वर और अस्तित्व कितना समर्थ था जो मुगल नीति के विरोध में अपने को स्थापित करने के लिए जूझते रहे है। रीतिकाल के आरंभ काल में ही जब साहित्य के इतिहास की एक नई धारा प्रवाहित हुई तभी इतिहास की भी एक नई धारा फूट पड़ी थी। दक्षिण महाराष्ट्र से राजस्थान पर्यन्त, बुंदेलखण्ड, भरतपुर और पंजाब तक के प्रदेशों में जो एक व्यापक चेतना थी उसे क्या महत्त्वहीन अथवा निर्जीव कहा जा सकता है ? फिर उसकी उपेक्षा क्यों ?

रीतिकाल की प्रथम शताब्दी दूसरी शताब्दी से उत्कर्षपूर्ण थी : रीतिकाल की आयु दो सौ वर्षों की है। दो सौ वर्षों की आयु इतिहास की दृष्टि से भी काफी बडी होती है। इसको ठीक से समझने के लिए हमें इसके विभाग करने पड़ेगे। यदि साहित्य के इतिहास के भीतर से इस काल की उच्चकोटि की प्रतिभाओ को छाँटे तो ज्ञात होगा कि इन दो मे से प्रथम शताब्दी के भीतर ही लगभग सभी प्रमुख कवि आ जाते है। रीति, मुक्त और वीर काव्यों के सम्बन्ध में भी यही घटित होता है। दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुए श्रेष्ठ कवियों में केवल ठाकुर, पद्माकर और द्विजदेव का ही नाम लिया जा सकता है। चिन्तामणि, मतिराम और भूषण की प्रतिभा का आधार लेकर खड़ा होनेवाला रीतिकाल, दास, सुखदेव और देव के साथ एक शताब्दी की आयु भोग लेता है। रीतिमुक्त धारा के प्रतिनिधि कवि घनानन्द की प्रौढता भी इसी प्रथम शताब्दी की देन है। इन महाकवियों की लेखनियों के योग से इस युग का गौरव अजर हो गया है। रीतिकाल को दूसरी शताब्दी (१९वी) को अलग करके रखने पर वह अपेक्षाकृत निर्जीव तथा निष्प्रभ होती है। तत्कालीन इतिहास को भी हम इसी के साथ तुलना में खड़ा कर सकते

---

१. तुलना कीजिए वृहत् इति० भाग-६, पृष्ठ ५४६
२. तुलना कीजिए वृहत् इति० भाग-६, पृष्ठ ४-५

हैं। उसकी स्थिति वैसी ही है जैसी साहित्य की। १८वीं शताब्दी के वीर जन-नायकों की प्रतिभा से हमारा इतिहास गौरवान्वित है और उन जन-नायकों के पीछे खड़ी होने वाली जनता की शक्ति स्तुत्य है। हम मुगलों का सामना उन्हीं की दुर्वलता को अपनाकर नहीं कर सकते थे। यदि उन्हीं की भाँति उनके विरोधी भी हुए होते तो उन्हें अपने पक्ष के समर्थन के लिए आधार क्या मिला होता ? अतः कह सकते हैं कि विरोधी स्वर के रूप में देश की जनता के भीतर से एक ऐसी धारा फूटी थी जो मुगलों की दुर्वलताओं की परिपूरक थी। यह धारा शासन को ललकारने के लिए निरन्तर प्रदीप्त रही है। निराशा और पतन के भीतर जो शक्ति थी उसे भी सामने रखने का यहाँ प्रस्ताव है। सौ वर्षों के अविराम संघर्ष के वाद शिथिल होकर दोनों ही शक्तियों के पाँव उखड़ गये तव एक तीसरी शक्ति (अंग्रेजों की) उस थकान-भरे वातावरण पर शासन करने के लिए छाने लगी। रीतिकाल की पहली शताब्दी की आयु उत्कर्ष और प्रौढ़ता की है, दूसरी शताब्दी शैथिल्य एवं वार्धक्य की। तत्कालीन इतिहास के साथ इसकी पूर्ण सापेक्षता है।

रीतिकाल और विशेषकर उसकी प्रथम शताब्दी की उपलब्धियों की अव-मानना नहीं की जा सकती। उस युग के साहित्यकार का दृष्टिकोण जीवन की एकान्तता और काल्पनिकता के स्थान पर ऐहिक हो गया था। इस समय की तीन प्रमुख काव्य-धाराओं, (१) रीतिवद्ध (२) रीतिमुक्त तथा (३) वीर-काव्यों में इसका पूरा-पूरा सन्निवेश हुआ है। इस युग के काव्य में कवि की यथार्थवादिता हमारे लिए सवसे वड़ी उपलब्धि वनकर शेष है।

रीतिकाल का कवि सही मार्ग के लिए छटपटाता रहा

रीतिबद्ध कवियों पर रूढ़िग्रस्तता का और कभी-कभी अनैतिकता का आरोप किया जाता है। रूढ़ि एक परिपाटी के रूप में थी, इसकी एक व्यापक धरा-तल पर हुई मान्यता के लिए सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। शासक और शासित के वीच का वातावरण इतना तनावपूर्ण था कि हम साहित्य में प्रयोगशीलता के लिए स्वतंत्र नहीं थे। साहित्य एवं संस्कृति आदि के क्षेत्रों में हमें रिक्थ रूप में जो प्राप्त था, उसी की रक्षा का प्रश्न हमारे सम्मुख सवसे पहले था। रक्षणात्मक प्रवृत्ति के कारण हमने संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों की शरण ग्रहण की और थोड़े हेर-फेर के साथ उसी प्राचीनता का पल्ला पकड़े रहे। हमने विदेशी राजभाषा फारसी के प्रभाव से अपने साहित्य की रक्षा कर उसे स्व-कीयता के गुणों से अलंकृत रखने का इस युग में सजग प्रयत्न किया है। अन्यथा

भूषण की यह पंक्ति हमारे सामने न होती :

"बायें लिखवैयन के बामविधि होन लागे
दायें लिखवैयन पै दाय सी मढ़ै लगी"

रीतिकाल अपने पूर्ववर्ती भक्तियुग से भिन्न था। संत और भक्त कवियों की *स्वाभाविक स्वतंत्रता, रीतिकाल के कवि के लिए सम्भव नहीं थी।* वह दरबारों का आश्रय प्राप्त करने के लिए इच्छुक ही नहीं प्रयत्नशील भी हुआ। इन दो परम्पराओं के मिलन-बिन्दु पर खड़े इस समय के कवि के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व उठते रहे। कवि-स्वभाव की अलमस्ती को दरबारी वातावरण में ठेस लगती थी और वह तिलमिला जाता था। कुंभनदास को एक बार सीकरी जाने पर जैसी गहरी आत्मग्लानि हुई थी, रीतियुग के कवि में दरबारी जीवन के बीच यदाकदा इसी प्रकार के भावों के प्रस्फुटन देखने को मिल जाते हैं। रहीम, बिहारी और देव जैसे कवियों के इस मानसिक स्थिति के हृदयोद्गारों से हिन्दी साहित्य जगत् परिचित है। इस दरबारी संस्कृति के सम्पर्क के कारण कवियों के हृदयों में जो संघर्ष हुआ, उसमें अधिकांश ने अपने को अन्ततः अभ्यस्त कर उसे स्वीकार कर लिया जैसे—बिहारी। कुछ ऐसे कवि थे जिनमें इन बंधनों को तोड़कर अपने अस्तित्व को भक्त युग के कवि के समान ऊँचा उठाने की शक्ति तो न थी पर वे असमंजस के अंधकार में खड़े सदैव एक रास्ता खोजते रहे। ये नायिका-भेद जैसे विषय के आख्यान को भी ईश्वरत्व की छाया से दूर नहीं कर सकते थे—

"माया देवी नाइका नायक पुरुष आप
सकल दंपतिन में प्रगट देव करत तेहि जाप।"

कहना न होगा कि इसकी पृष्ठभूमि में भक्त कवियों का सर्वात्मवाद ही प्रेरक रूप से विद्यमान है। इतना ही नहीं इस युग के काव्य में संत कवियों की परा पूजा, उन्मनी अवस्था एवं सहज स्वभाव को भी अभिव्यक्ति मिली है :

जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा
जोइ जोइ करउँ सो पूजा—देव

अथवा

आठौधाम राम तुम्हें पूजत रहत हों—देव

देव की रचनाओं में कबीर जैसी उलटबासियाँ भी देखने को मिल जाती हैं। उन्हीं की भाँति जातिवाद आदि के विरोध में भी कवि का स्वर फूटा है :

मोम के मन्दिर माखन को मुनि, बैठ्यो हुतासन आसन कीन्हें

एवं

वेदन मूँदि करी इन दूँद कि सूद अपावन पावन पांड़े

इन स्वरों के आधार पर हम रीतिकाल के कवि की मानसिक स्थिति और उसके हृदय की छटपटाहट का सही अनुमान कर सकते हैं। कवि अपना कवि-कर्तव्य निभाने के लिए, सही दिशा प्राप्त करने के लिए आकुल था। इस युग के कवि ने अपने शृंगार को आध्यात्मिक परिवेश में रखा एवं पुरुष-स्त्री सम्बन्धों को नीति की मर्यादा में बाँधा। नायिका भेद में रस की स्थिति के लिए स्वकीया-प्रेम को ही मान्यता मिली है शेष को रसहीन बताकर एक प्रकार से वर्जित ही किया गया है:

तातें स्वकीया सुद्ध रस, परकीया रस प्रेम,
गुप्तादिक षट भेद तिहिं, तहाँ न रस को नेम।

—जैसिंह विनोद

हम सबको विदित है कि प्रसिद्ध शृंगारी कवि बिहारी ने जैपुर नरेश को किस प्रकार विलासिता के जीवन से उबार लिया था। रीतिकाल की इन विशेषताओं को मात्र अपवाद नहीं कहा जा सकता वरन् यह सब उसकी जीवन्तता के प्रमाण-स्वरूप हैं।

साहित्यकार के सामने यथार्थ और ईमानदारी का प्रश्न सबसे पहले है। इस दृष्टि से वह यौवन की प्रबलतम लालसा की उपेक्षा नहीं कर सकता। विद्यापति और सूरदास आदि भक्त कवियों के द्वारा अपने आराध्य और आराध्या के चरित्र-गान से जब इस तत्त्व को बहिष्कृत कर देना संभव नहीं हो सका, तो लौकिक राजाओं के दरबारों में लिखने-पढ़नेवाले इन सांसारिक कवियों ने लोकाचार के साथ-साथ अपने हृदय के भक्त-भाव को विस्मृत नहीं होने दिया, यही क्या कम है। इस प्रकार भक्ति-युग और रीति-युग के साहित्य को दृष्टि में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपासना की भूमिका में पहुँचकर हम लोक को नहीं भुला सके और लौकिक जीवन में उपासना को नहीं छोड़ सके। भक्तिकाल और रीति-काल के कवियों का क्षेत्र बदला हुआ था किन्तु दोनों की अन्तश्चेतना में अन्तर नहीं आया था। रीतिकाव्य के अधिकांश कर्त्ता अपने हृदय के रागतत्त्व और अपने युग के सामाजिक संघर्षों के प्रति जागरूक थे। इस युग का सम्पूर्ण काव्य अपने युग को उद्भासित करने में पूर्ण सक्षम है। इस युग में लिखे गए 'प्रेम-काव्य' के पीछे उनका अपना सहज भौतिक आधार एवं सामाजिक संघर्ष है। आज उसका प्रचलित कलात्मक रूप चाहे जो भी हो पर उसके मूल में बैठी हुई सामाजिक सत्य की महत्ता और मानव हृदय की सहज वृत्तियों की शाश्वतता को स्वीकार करना होगा।[1]

---

१. परम्परा (रसराज अंक, पृष्ठ १०)

रीतिमुक्त कवियों की स्वच्छन्द अन्तश्चेतना की सराहना सभी करते है। ठाकुर आदि कवियों ने जब रीतिबद्धता की भर्त्सना की थी तब सचमुच वह भीतर से खोखला हो गया था और उसके भीतर पूर्व जैसा जीवन नही रह गया था। अत्यधिक अनुशासन का बोझ जब कवि को सहन कर सकना कठिन हो जाता था तभी वह अपने अस्तित्व को रीति से स्वतन्त्र करके अपने भीतर के निश्छल संगीत को काव्य के प्रांगण में अवतरित करता था। उसी संगठन की कठोर रूढ़ियों से विद्रोह करना यह प्रमाणित करता है कि कवि अपने व्यक्तित्व और उसके अस्तित्व के प्रति भी अत्यधिक सतर्क थे। रीतिबद्धता में एक सुसंगठित मान्यता के स्तर थे और रीति-मुक्तता में व्यक्ति की आत्मकेन्द्रित रागिनी। रूढ़ि के अन्धानुकरण के कारण जब उसके भीतर व्यक्तित्व घुटने लगा तभी वहाँ से मुक्ति पाने के प्रयत्न हुए। इस धारा के कवियों के सबंध में यह कथन कितना सटीक है—"इसी से स्वच्छन्द कवि हृदय की दौड़ के लिए राज-मार्ग चाहते थे, रीति की संकरी गली में धक्कमधक्का करना नही। ये कविता की नपी-तुली नाली खोदने वाले न थे तथा ये अपनी उमंग के आदेश पर थिरकने वाले और काव्य-विभूति द्वारा काव्य-मर्मज्ञों को प्रभावित करने वाले थे।[१]"

रीतिकाल को घोर श्रृंगारिकता और विलास का युग कह कर लांछित करने वालों को इस काल में लिखे गए वीर-काव्यो को भी देखने की आवश्यकता है। १८वी शताब्दी में भूषण, लाल, श्रीधर और भगवन्तराय के मण्डल के कवियों के समय के लगभग ही सुजान चरित के रचनाकार सूदन का काल है। इनके अतिरिक्त भी अनेक कवियों की वीर-रसपूर्ण रचनाएँ स्फुट रूप से प्राप्त होती है जिनमें तत्कालीन राजनीतिक जागृति की अभ्यर्थना की गई है। इन सब रचनाओं के अतिरिक्त मान और सूर्यमल्ल की रचनाएँ भी सामने रखनी पड़ेंगी। यह भी ध्यान देने की बात है कि रासो का प्रचार और विस्तार भी इस युग में विशेषरूप से क्यों हुआ। रासो की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ इसी युग की लिखी होने से भी प्रकट होता है कि जनता में ऐसे काव्यों के पठन-पाठन की पर्याप्त रुचि विद्यमान थी। लोक-काव्य आल्हा के प्रचार के साथ अनेक ऐतिहासिक वीर आख्यानों को भी जनता ने, अपना कण्ठहार बना लिया था। महाभारत के अनेक हिन्दी पद्यानुवाद भी इस प्रसंग में चर्चा की अपेक्षा रखते है। इन रचनाओं की पृष्ठभूमि में इस युग की वीर-भावना व्यजित होती है।

---

१. घनानन्द, पृष्ठ १३

राष्ट्रीय जागृति का कवि ने नेतृत्व किया

कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वीर-काव्य के प्रति इतनी अधिक अभिरुचि इस काल के पूर्व शायद नहीं थी। रासो की प्रामाणिकता के संदेहास्पद होने के कारण स्वरूप कह सकते हैं कि तथाकथित वीरगाथा काल में भी नहीं। फिर अपने पूर्ववर्ती वीर-काव्यों की अपेक्षा इनकी प्रत्यक्ष विशेषता यह है कि ये सब ऐतिहासिक आस्था से परिपूर्ण हैं एवं इनमें जीवन की यथार्थ घटनाओं को ग्रहण किया गया है। जागतिक अभिव्यक्ति को सबसे पहले इसी युग के कवि ने महत्व देने का साहस किया और उसे काव्य का विषय बनाया। यह रीति-युग के कवि का विश्वास था कि समस्त जनता का उद्धार करने वाली शक्ति मनुष्य के ही भीतर से फूटेगी और कवि ने उसे ढूंढ निकालने के लिए उत्तर में कुमायूं से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र तक देश को छान डाला था:

मोरंग जाहु कि जाहु कुमाहुं कि श्रीनगरै हु कवित्त बनाए
बांधव जाहु कि जाहु अमेर कि जोधपुरे कि चितौरसिंह धाए
जाहुं कुतुब्ब कि एदिल पै कि दिलीसहुं पै किन जाहुं बुलाए
भूषन ह्वै है निहाल मही गढ़पाल सिवाहि कि कीरत गाए।

—भूषण

अन्तिम पंक्ति पर ध्यान देने का निवेदन है। कवि अपने काव्य को जातिहित साधन में ही नियोजित करने में सबसे बड़ी सिद्धि मानता है। जाति-हित में कवि हृदय की यह द्रवणशीलता सचमुच ही स्तुत्य है। इस भावना से प्रेरित कवि पलायनवादी न होकर संघर्षवादी बना और उसने दैव का सहारा न ढूंढ़ कर लोक के ही प्राणी पर दृष्टिनिक्षेप किया।

कवि का सारा हृदय उसी के आश्रय के लिए उमड़ रहा है जो अपनी शक्ति से जाति का उद्धार करे। लोक-जीवन में कवि की ऐसी प्रवृत्ति कहाँ देखने को मिलेगी? बिहारी जैसे कवि के हृदय से भी जातीय पक्ष की भाव-व्यंजना हुई है।[1] मेवाड़, बूंदी, पूना, पन्ना, भरतपुर और असोथर के आश्रय में रहकर रीतियुग के कवियों ने राष्ट्रीय कर्त्तव्य का जो पालन किया है वह हमारे इतिहास का एक श्लाघनीय तथा अभूतपूर्व प्रसंग है।

जहाँ तक इस युग के कवि के सम्मान और स्वाभिमान का प्रश्न है वह पूर्णतः रक्षित रहा। औरंगजेब अथवा मुगल दरबार से बहिष्कृत हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि वे अनाथ हो गए एवं उन्हें कहीं स्थान नहीं रहा। कवियों के कारण स्वयं

---

१. 'बाज पराये पानि परि तू पछीन न मारि'

दरबार की शोभा बढ़ती है यह मान्यता उस युग में विद्यमान थी। औरंगजेब के ही पुत्र आजमशाह एवं अन्य मुगल मनसबदारों तथा हिन्दू ठिकानों में कवि समाहृत थे। सामर्थ्य के अनुसार छोटे-छोटे ठिकानेदारों ने साहित्य संवर्द्धन के लिए जो उदारता और सदाशयता दिखाई है वह कम महत्वपूर्ण नहीं। कवि इन दरबारों में बड़े स्वाभिमान के साथ रहता था। जैसिंह की थोड़ी-सी उपेक्षा से बिहारी का तिलमिला उठना सिद्ध करता है कि कवि स्वाभिमान के प्रश्न पर कितना संचेत्य था।[१] छत्रसाल ने इसी युग में भूषण की पालकी उठाकर कवि को अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया था।[२] क्या ये उदाहरण यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नहीं कि इस युग के कवि को अन्यतम सम्मान मिला था? देव को अन्य ठिकानों में भटकाने वाला स्वयं उनका स्वाभिमान और उनका अहं ही था। कवि को इस पर तनिक सी भी ठेस सहन नहीं हो सकती थी। उनके जीवन की अनेक घटनाएँ इसके प्रमाण में रखी जा सकती है। भगवन्तराय के ही दरबार के सुखदेव मिश्र अपने आश्रयदाता के व्यवहार की तनिक-सी असावधानी[३] के कारण फिर वहाँ लौट कर कभी नहीं आए। कवि का अहं इतना प्रबल था कि स्वयं आश्रयदाता के क्षमा माँगने पर भी उन्होंने वहाँ रहना उचित नहीं समझा।[४] किन्तु इस कवि को दंभी कहने की भूल न हो इसलिए यह कह देना प्रासंगिक होगा कि उनके भावों में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ा था। तभी वे लिख सके थे "त्यों भुककंत विना भगवंत लगे अव अन्तरवेद न नीको।"

प्रकृति

मंडल की प्रकृति, कवि की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में सहायक है: हमारे मंडल के कवियों को मिली प्राकृतिक दृश्यों की सम्पत्ति उनकी प्रतिभा के विकास एवं उसके प्रकाशन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बुंदेलखण्ड की भौगोलिक विशेषता प्रकृति के नाना रूपों के प्रति संवेदनशील जन-मानस में तीव्र अनुभूति जाग्रत करती है। यहाँ के सघन वनों तथा फूलों-फलों एवं लता-वितानों के चित्रण,[५]

---

१. 'जौलौं काग सराध पख तौलों तुव सनमान'—बिहारी
२. भूषण, पृष्ठ ११८
३. प्रा० पं०, पृष्ठ ८२
४. प्रा० पं०, पृष्ठ ८२
५. आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान्
रवैः पुष्पैः किंशुकान्पश्य मालिनः शिशिरात्यये
पश्य भल्लातकान्बिल्वान्नरै रनुप सेवितान् [क्रमशः]

पर्वतों की गुफाओं और चोटियों के सजीव वर्णन[1] सरिताओं की गति भंगिमाओं[2] के मार्मिक आलेखन निर्झरों की मुखरता[3] के शब्द-बद्ध कथन में महाकवियों की वाणी भी गौरव पा गई है। तुलसी के समक्ष वर्षा का चित्रण करने में जो दृश्य सामने थे वे जायसी को नहीं सुलभ थे। तुलसी और जायसी की रचनाओं से लिये गए इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने पर्वतीय प्रदेश की वर्षा का चित्रण प्रत्यक्षदर्शी के रूप में प्रस्तुत किया है।

सब दिन चित्रकूट नीकों लागत।

सोहत श्याम जलदमृदु घोरत धातु रंग मगे सृंगनि

तुलसी के उपर्युक्त गीत के साथ जायसी के पद्मावत में नागमती वियोग-खण्ड के "चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा, साजा विरह दुंद दल बाजा" प्रकरण की तुलना करके दोनों कवियों की पृष्ठभूमि में प्रकृति के अन्तर को भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। परन्तु इन थोड़ी-सी विशेषताओं के अतिरिक्त दोनों ही अर्द्ध मंडलों की प्रकृति को व्यापक रूप से एक ही खण्ड में रखकर देखने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः दोनों क्षेत्रों में इतनी समीपता है कि अन्तर डालने वाले आधार परिपूरक बन जाते हैं। जलवायु की अभिन्नता के कारण खेतों के जोतने-बोने, काटने और माँड़ने के समय में अधिक अन्तर नहीं होता। ऋतुओं के विभाजन के पीछे भी जलवायु की समता का आधार है। इस प्रकार प्रकृति ने सामाजिक अनुभूतियों में एकरूपता ला दी है। हमारे समस्त उत्सव-पर्व इसका नियंत्रण करते हैं। वसंत,

फल पुष्पैरवनतान्नूनं शक्ष्यामि जीवितुम्। वाल्मीकि० अयोध्या० सर्ग ५६।६,७

तथा

"छाया विनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठ संभाव्यफलेष्वमीषु
तस्यातिथीनामधुनासपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु।" रघु० १३।४६

१. धारास्वनोद्गारि दरीमुखोऽसौ शृंगाग्रलग्नाम्बुदवप्रपंकः
बध्नाति मे बन्धुर गात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः। रघु० १३।४७

तथा

चित्रकूट गिरि अचल अहेरी चूक न घात मार मुठभेरी—मानस०

२. तेषां दिक्षुप्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्यः
फलम् विकलं कामुकत्वस्य लब्धा
तीरोपान्तस्तनित सुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्सभ्रू भङ्ग मुखमिव—
पयोवेत्रवत्याश्चलोर्मि—मेघ० पूर्वमेघ-२६

३. विचरंति वनांतेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव
सरित्प्रस्रवण प्रस्थान्दरीकंदर निर्झरान-वाल्मीकि० अयोध्याकांड—५४।४२

तथा

गीतावली के अयोध्याकांड छंद—४० से ४८ तक देखिये

होली सावन, दशहरा और दीवाली आदि त्यौहारों के पीछे प्रकृति की ही पृष्ठभूमि उनकी तीव्र अनुभूति को उल्लासमय कर देती है।

बसंत में आम-महुए की बौरें, सरसों के खेतों में जगमगाती हुई पुष्पराजि, सावन की फुहारों में भीगते हुए नीम की डालों पर कंठ और झूले की पेंगों के आरोह-अवरोह तथा शरद् ऋतु में आकाश की निरभ्रता से साथ खंजन और भाँति-भाँति के जल-पक्षियों का गाँवों तथा सरोवरों में भर जाना कितना प्रभावशाली होता है। वास्तव में काव्य का समस्त संभार प्रकृति के इन्हीं उपादानों पर अवलम्बित है। कवि के लिए प्रकृति की यह सम्पन्नता वरदान सिद्ध हुई है।

प्रकृति के इस सान्निध्य के कारण हमारी भावानुभूति का विस्तार होता है, भावनाओं में निखार आता है, अभिव्यक्ति में उत्कृष्टता आती है एवं जीवन में सौंदर्य दृष्टि बनती है। "हम इस प्रकृति-चेतना के उसी प्रकार भाग हैं जिस प्रकार सामाजिक चेतना के।"[1]

दूर-दूर तक फैले खेतों की लहराती हुई हरियाली, उनके फूलने और पकने से उड़ने वाली सुगंधि, नदियों, नालों, सरोवरों और झीलों में उत्पन्न होने वाले सिवार काई से लेकर कुमुद और कमल तथा उनके साथ क्रीड़ा करती हुई लहरें एवं भाँति-भाँति के शब्द करने वाले रंग-बिरंगे पक्षी जो संस्कार छोड़ जाते है, उन्हें कोई भी जाति कैसे मिटा सकती है। अमावस की अंधेरी रात में असंख्य ताराओं से भरे हुए नीले आकाश का हृदय, पूर्णिमा की धवल चन्द्रिका का सुधा-सौंदर्य, उषा की तारुण्य कांति से छिटकी अरुणाभा तथा भावों के आलोड़न-विलोड़न का रूप-बोध कराने वाले भाँति-भाँति के पशु-पक्षियों के गुणविशेष, उनके अंगों की रचना-श्रेष्ठता, उनके उठने-बैठने, चलने और देखने के एक-एक दृश्य हमारे निरीक्षणों तथा हमारी अनुभूतियों के बिम्ब-विधान के कितने मूल्यवान उपकरण बनते हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। उनके नैसर्गिक गुणविशेष में हमारे मनोवेगों की पूर्णता की अभिव्यक्ति मानव-मानस में अपनी अमिट छाप अंकित कर जाती है तभी हम अपनी अनुभूतियों की प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए रंग-रेखाएँ पा जाते हैं। हमारे जातीय साहित्य को समृद्धि देने में इस प्रकृति-वातावरण का बहुत बड़ा हाथ है। इस संदर्भ में डा० श्यामसुन्दर दास के 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' शीर्षक निबन्ध के इन शब्दों से पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा—"भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का

---

१. प्र० का०, पृ० ३६

सौभाग्य प्राप्त है। वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते हुए प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति से संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं, तथा उपमा, उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते।" हमारी जाति ने सृष्टि की कल्पना फूल के भीतर से की है। फूल प्रकृति का सुन्दरतम प्रतिनिधि है। हम उससे उत्पन्न हैं और उससे अविभाज्य हैं। पहले प्रकृति है फिर मनुष्य।

हम डाक्टर रघुवंश के शब्दों में कह सकते हैं कि "प्रकृति का सौंदर्य तथा आकर्षण संवेदनात्मक विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होता गया है। और कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति के सौंदर्य का अनुभव अधिक स्पष्ट करता है और अपनी स्वानुभूति को काव्य की अभिव्यक्ति का रूप देता है।"[१]

संगीत

संगीत की परम्परा : मंडल की भूमि अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण अतीत काल से ही संगीत की भव्य परम्परा का सूत्रपात कर सकी है।[२] यहाँ जिस संगीत का अभ्युदय हुआ है उसे जीवन के चरम सत्य मोक्ष का साधन बताया गया है।[३] इतिहास की एक अविच्छिन्न परम्परा में विकसित होता हुआ उत्तर भारत का संगीत लोदी युग में ग्वालियर के महाराज मानसिंह तोमर के ध्रुपद-शैली के आविष्कार से एक अत्यन्त गौरवशाली भूमिका में स्थापित हुआ। मुस्लिम शासकों में अकबर को संगीत के आश्रयदाता के रूप में सबसे अधिक श्रेय मिला है। अकबर के युग में अनेक संत और दरबारी संगीतज्ञों के अतिरिक्त हिन्दी के अमर कवि सूरदास एवं मीरा ने संगीत के रागों में बाँधकर अपने सहस्रों पदों की महान भेंट जनता के सामने प्रस्तुत की तथा सर्वप्रथम संगीत का संबंध जीवन से जोड़ा।[४] इसी समय के लगभग हुए महाकवि तुलसीदास के काव्य की लोकप्रियता का रहस्य संगीत के तत्वों के समावेश पर निर्भर करता है।[५] अकबरी दरबार ३६ कलाकारों और हिन्दी के इन महान् कवियों के योग से उतर भारत के जन-जीवन

---

१. पृ० का०, पृष्ठ १०६
२. भा० सं०, पृष्ठ ४५
३. 'नाद एवानु संधेयो योग साम्राज्यमिच्छता' वराहो० ३।८३
४. भा० सं०, पृ० २४४
५. भा० सं०, पृ० २५६

में संगीत उमड़ पड़ा। इसी युग में संगीत के विकास की पृष्ठभूमि भी निर्मित हुई। अरबी और फारसी के रागों को भारतीय रागों में बाँधने के आयास हुए[1] तथा उत्तर और दक्षिण भारत की संगीत धाराओं में भी निकटता आई। अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर के समय की स्थिति सामान्य थी किन्तु शाहजहाँ का युग अवश्य ही प्रगति की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस समय संगीत अभिजात वर्ग के हाथों से सामान्य जनता के हाथों में पहुँचा। इसका कारण दरबारों मे संगीत को आश्रय तथा उसे विशेष से सामान्य की ओर झुकाना था। फलस्वरूप पेशेवर लोगों ने इसे पेशे के लिए माध्यम बनाया। यहाँ उसकी साधनात्मक श्रेष्ठता और पवित्रता को बहुत बड़ा धक्का लगा। मुस्लिम संस्कारों से समन्वित क्षेत्रों में ही यह प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई क्योंकि अरबी संगीत का उद्देश्य मनोरंजन और थकान दूर करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं था।[2] लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण इसका प्रचार और प्रसार भी खूब हुआ। निम्न वर्ग के लोगों के हाथों में पड़ने के कारण यहाँ संगीत की धार्मिक मर्यादा रक्षित नहीं रह सकी।[3]

मुस्लिम संसर्ग की संगीत-क्षेत्र में प्रतिक्रिया : औरंगजेब के सामने संगीत और संगीतज्ञों का यही पक्ष सामने आया होगा क्योंकि दरबारी वातावरण से इसी शैली का विशेष संबंध था। इसलिए वह संगीत को भ्रष्टाचारिता का एक साधन समझकर इसे गहरा दफनाया हुआ देखना चाहता था। परिणाम-स्वरूप संगीत को राज्याश्रय से बहिष्कृत किया गया। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस प्रकार इस नयी शैली के संगीत को राज्याश्रय से अपदस्थ किया गया उसी प्रकार उसे पवित्रतावादी भारतीय संगीतज्ञों ने भी हेय और त्याज्य समझा। उन्हें अपने संगीत का वर्णसांकर्य सहन न हुआ होगा और वे संगीत की विशुद्धता की रक्षा के लिए अपनी कला को एकांत साधना का विषय बना बैठे ऐसा जान पड़ता है। काव्य की ही भाँति इस क्षेत्र में भी हमारे प्रयास आत्मरक्षात्मक थे। प्रतिकूलता के घटाटोप में भी हमने प्राचीन संगीत के मूल रूप की अविकृत होने से रक्षा की तथा समय-समय पर सृजन भी किया। संगीत के क्षेत्र में यही उस युग की देन है।

संगीत-क्षेत्र की तीन पेटियाँ : इस युग में भारतीय संगीत ब्राह्मण और

---

१. भा० सं०, पृ० २३७
२. भा० सं०, पृ० २७६
३. भा० सं०, पृ० २७४

क्षत्रियों के कुछ घरानों तक ही सीमित रह गया था।[1] ब्राह्मण केवल ध्रुपद की गायन परम्परा को पकड़ कर रह गए थे किन्तु क्षत्रियों ने वीणा, मृदंग (पखावज) तथा ध्रुपद के गायन के अंगों को पूर्णतया अपनाया था। संगीत के इन तीन अंगों की कुशलता की दृष्टि से क्षत्रियों के तीन क्षेत्र थे जिनमें उन्होंने बड़ीही दक्षता से इनका संरक्षण तथा संवर्द्धन किया। सांवली, पानीपत तथा जावली वीणावादकों के केंद्र थे। मेवाती (जो वाद को मुसलमान बना लिये गए थे) राजपूतों के घरान इसको अपनाए रहे। इनकी वीणा-वादन शैली तानसेन के घराने की शिष्य-परम्परा से भिन्न है। दसवलीसिंह ही एक किंवदन्ती के अनुसार दस्सव अली खाँ बना लिए गए थे। इस घराने के अनेक प्रसिद्ध वीणाकारों के नाम आज भी गौरव से स्मरण किये जाते हैं। पखावज के क्षेत्र में मालवा के राजपूतों (विशेषकर तोमरों) को नहीं भुलाया जा सकता। अकबर के सम-सामयिक शोकासेन थे। इन्हीं की परम्परा में अनेक उत्कृष्ट कोटि के पखावजियों के नाम मिलते हैं जो नरवर इत्यादि प्रसिद्ध घरानों से सम्बद्ध हैं। इस परम्परा के आचार्यों के ध्रुपद, चौकड़े तथा पर्न अभी तक विशेषज्ञों को ज्ञात हैं। ध्रुपद शैली के गायन के लिए रीवाँ से लेकर बुंदेलखंड तक का क्षेत्र केंद्र था। यहाँ भी अनेक ध्रुपदकार हो गए हैं। बघेलों में रामसखे, मौन मुदित, तथा महाराज विश्वनाथसिंह के अनेक ध्रुपद प्राप्त हैं और उनकी दक्षता के अनेक आख्यान भी संगीतज्ञों के घरानों से संबद्ध लोगों को परम्परा से स्मरण हैं। मैहर तथा ओरछा तक इस परम्परा के घराने फैले हुए थे। अनुमान यह है कि भगवंतराय को इसी परम्परा से संगीत का ज्ञान मिला होगा।[2]

---

१. श्री भरत व्यास का कथन है कि उन्होंने संपूर्ण उत्तर भारत के संगीत-ठिकानों में भ्रमण किया है परन्तु उन्हें ध्रुपद के अतिरिक्त वीणा एवं पखावज को अपनाने वाले किसी ब्राह्मण कुल का कदाचित ही सम्पर्क हुआ है। इस संबंध में भरतजी व्यास के साथ घटित यह घटना पर्याप्त प्रकाश डालेगी। वे १९३५ में ललितपुर से सात कोस पैदल चलकर ओरछा घराने के एक ठाकुर साहब के यहाँ गए थे। ठाकुर साहब तत्कालीन ओरछा के राजा के ही निकट संबंधी थे, जिनकी आयु लगभग १०० वर्ष थी। उनके पुत्र नित्य अपने पूर्वजों के संगीत का कीर्तन देव-मंदिर में करते थे। व्यासजी के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने कोई गीत इन्हें नहीं दिया और कहा कि यह हमारे पूर्वजों की पवित्र निधि है इसे हम नहीं दे सकते क्योंकि इससे लोग बाहर जाकर भीख माँगते हैं, इसे हम केवल देवता को सुनाते हैं। १५वें दिन व्यासजी की जिज्ञासा से प्रभावित हो 'ब्रह्म जोग' नामक ताल पर एक बहुत बढ़िया 'चीज' सुनाई लेकिन लिखने नहीं दिया।

यह अनुमान व्यासजी का है। उन्होंने इस क्षेत्र का भ्रमण किया है और भगवंतराय के ध्रुपदों को देखकर यह धारणा बनाई है।

इस परम्परा को दृष्टि-पथ में रखते हुए रीतिकालीन संगीत को समग्र इन शब्दों में प्रकट करने में डा० सावित्री सिन्हा ने न्याय नहीं किया है कि "रीतिकाल के कवि और संगीतज्ञ दोनों की एक ही दशा थी, दोनों ही आश्रयदाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव, उनकी प्रसन्नता के लिए दोनों को ही शृंगारपरक प्रतिपाद्य और कलाप्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पड़ा।"[१] इन शब्दों के अतिरिक्त डा० सावित्री सिन्हा ने रीतिकाल के संगीत को चमत्कार प्रदर्शन शृंगारिकता, एवं मनोरंजन-प्रधान आदि विशेषणों में बन्द करके रख दिया है[२] जो हमारे विचार से उचित नहीं है। वास्तव में इस स्थिति के विपरीत संगीत को बड़ी ही उदात्त भूमि पर स्थापित करने के इस युग में ऐतिहासिक प्रयास किए गए है। भगवंतराय का संगीत-कर्तृत्व इसी धारा का चरम बिन्दु है। इस युग के कवि भी संगीत तत्त्व के प्रति बड़े जागरूक रहे है। देव और सुखदेव मिश्र के संगीतज्ञ होने के प्रमाण है ही।[३] घनानन्द भी उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि घनानन्द के गीत इस युग में खूब प्रचलित हो रहे थे। उत्तर प्रदेश की नारियाँ उनके प्रेम-भरे गीतों को खूब गाती थीं। उनके अनेक पदों पर कई प्रकार के नृत्य बन चुके थे।[४] रीतिकाल के सर्वाधिक प्रिय छन्द कवित्त और सवैया में निहित संगीतात्मकता का उद्घाटन डा० नगेन्द्र के इन शब्दों से करना उचित होगा—"इन दोनो छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया! सवैया और कवित्त के अन्तर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय परिवर्तन कर रीति-कवियों ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है।"[५]

इस आन्तरिक चेतना के कारण ही रीति-काव्य की प्रथम शताब्दी में संगीत-साहित्य का निर्माण विपुल मात्रा में हुआ है।[६]

●

---

१. वृहत् इति० भाग-६, पृ० २६
२. वृहत् इति० भाग-६, पृ० २६
३. देव का 'राग रत्नाकर' ग्रन्थ संगीत की दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति माना ही जाता है। सुखदेव मिश्र के भी कुछ बहुत श्रेष्ठ ध्रुपद भी भरतजी के पास हमें देखने को मिले हैं।
४. भा० सं०, पृ० ३४७
५. वृहत् इति०, पृ० ५४८
६. भा० सं०, पृ० २८६

द्वितीय अध्याय

भगवन्तराय का वंश-परिचय और जीवनी

भगवंतराय का वंश-परिचय

खीची चौहानों की एक शाखा : भगवन्तराय चौहानों के प्रमुख चौबीस कुलों में से खीची कुल में जन्मे थे। इन्हीं के आश्रित महाकवि देव ने उनके पूर्वजों को आबू के अग्निकुण्ड से उत्पन्न चौहानों का वंशधर बताया है।[1] किन्तु इतिहास की नवीन शोधों ने इस कथन को मध्यकाल का सर्वस्वीकृत भ्रम सिद्ध कर दिया है। अब चौहानों के सूर्यवंशी[2] होने के अनेक प्रमाण प्रकाश में लाए जा चुके हैं जो पुरानी मान्यताओं का खंडन करते हैं। डा० राजवली पांडेय के शब्दों में अग्निकुण्ड की नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करना यहाँ संगत होगा—"अग्निकुण्ड की व्याख्या कतिपय इतिहास-लेखक बाहर से आई जातियों की शुद्धि के रूप में करते हैं, परन्तु वास्तव में अरब-तुर्क आक्रमण के पूर्व अपने वंश और धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रिय राजवंशों के दृढ़ संकल्पों की यह कहानी है।"[3] अब चौहानों को सूर्यवंशी माना जाता है जिनकी प्रथम राजधानी अहिच्छत्रपुर में थी। यह स्थान उत्तरप्रदेश के आधुनिक बरेली ज़िले में था। किसी समय यहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर संचरण करके इन लोगों ने राजस्थान के साँभर झील के आसपास अपनी सत्ता स्थापित की। इसी वंश के एक राजा अजयपाल ने एक अनुश्रुति के अनुसार अजमेर नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाई। अजमेर से लगभग १०४८ वि०[4] के आसपास जब वहाँ रायसिंह नामक राजा था, लक्ष्मणसिंह के नेतृत्व में एक शाखा ने नाडोल मे अपनी स्थापना की।"[5] यह लक्ष्मणसिंह स्वाभिमानी एवं स्वातन्त्र्यप्रिय था। उसके

---

१. जग्य रच्यो सर्वज्ञ विधि, विधि हरि हर गुन गान
   प्रगट्यो पावक कुंड तें नृप प्रचंड चहुआन—जैसिंह विनोद

२. काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्पराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।
   कलावपि प्राप्यसचाहमानतां प्ररूढ़तुर्य प्रवरं बभूवतत् ॥ पृ० विजय २।७१

३. बृहत इति० भाग-१, पृ० ५८

४. चौं० कु० क०, पृ० ५२

५. तुलना कीजिए चौं० कु० क० पृ० ५२

दर्पशील व्यक्तित्व की छाप चारणकण्ठ में चिरकाल तक गूंजती रही।

राय सिंध तिण पाट रहे सेवे तुरकाणों
लखणसी घर छांड हुओ नाडोली राणों

(चौ० कु० कल्पद्रुम, पृ० ५३ में उद्धृत)

इस चारणोक्ति के अनुसार कहा जा सकता है कि नाडोल शाखा के चौहान अपने भीतर क्षत्रियोचित स्वाभिमान, स्वातंत्र्य तथा आत्मसम्मान को अजमेर शाखा वालों की अपेक्षा अधिक अनुभव करने लगे थे।

भगवंतराय के पूर्वज गागरोण राजवंश के थे: नाडोल राज्य के संस्थापक लक्ष्मणसिंह (लाखनसी) की छठी पीढ़ी वि० सं० ११७२[1] के आसपास अश्वराज हुए। अश्वराज के पुत्र माणिक्य राव थे जिन्होंने अपने पुत्र अजयराव को जायल और मदाण नामक ठिकानों में किले बनवाकर वहाँ का शासक बनाया। इन्हीं अजयराव[2] को उनके पिता माणिक्य राय ने खीची[3] कहकर सम्बोधित किया। तदनुसार इनकी संतान भी खीची कही जाने लगी। यही अजयराव खीचियों के मूल पुरुष है। इनके वंशजों ने लगभग १२५० ई०[4] के आसपास डोढ़ राजपूतों से डोढ़गढ़ छीन लिया और उसका नाम बदलकर गागरोण रखा।[5] डोढो के सारे प्रदेश को भी अपने ही अधिकार में कर लिया। इस नवीन राज्य के संस्थापक का नाम देवनसिंह था। देवनसिंह के वंशजों का वंश-वृक्ष 'चौहान कुल कल्पद्रुम' के अनुसार उद्धृत किया जाता है।[6]

---

१. "अजयराव का पिता माणिक्यराव वि०सं० ११७२ में विद्यमान था क्योंकि माणिक्यराव पिता अश्वराज के समय वि० सं० ११७२ का शिलालेख बाली गाँव में पाया गया है।

—चौ० कु० क०, पृ० ५२

२. हिं० रा० पृ० ८६६

३. खीची नाम पडने के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। खिलचीपुर की ख्याति के अनुसार सोने-चाँदी की खिचड़ी बांटने के कारण खीची नाम प्रसिद्ध हुआ। नैणसी० भाग-१ पृ० १८४ के अनुसार अजयराव को उसके पिता ने गबारे (बैल लादने वाली एक जाति) के हाथ की खिचडी खोलने के कारण यह नाम दे दिया। कुछ लोगों का अनुमान है कि संभवतः खीचपुर नामक गाँव में बसने के कारण या खीचराव नामक किसी पूर्वज के आधार पर इन्हें खीची कहा गया होगा।

४. हि० रा० में खीचियों के गागरोण पर अधिकार करने की तिथि सं० १२५० वि० दी गई है जबकि खिलचीपुर की ख्याति के अनुसार उक्त तिथि ई० सन १२५० वि० सं० १३०७ है।

—चौ० कु० क०, पृ० ९२

५. चौ० कु० क० पृ० ९२

६. चौ० कु० क० में यह वंशावृक्ष खीचीपुर की ख्याति हि० रा० की परीक्षा करके प्रस्तुत किया गया है।

देवनसिंह (ई० १२५०)
|
जैराव उर्फ जितराय
|
कल्याण राव
|
कडवा राव उर्फ कांधसिंह
|
पीपाराव उर्फ पप्पा | प्रतापराव | अजयसिंह | मलयसिंह (राघोगढ़)

पीपाराव उर्फ पप्पा
|
(गोद) कल्याणराव
|
भोजराव
|
अचलदास (१४२३ ई०)
|
चाचिग देव | कहानसिंह | पाल्हनदेव | खडगसेन उर्फ गजसिंह

खडगसेन उर्फ गजसिंह
|
जयसिंह
|
पाल्हन देव
|
साहेब देव
|
कूरम देव
|
डोमन देव
|
जाजा देव
|
प्रतापसिंह
|
परशुराम सिंह
|
हरिकेश सिंह
|
भगवन्तराय
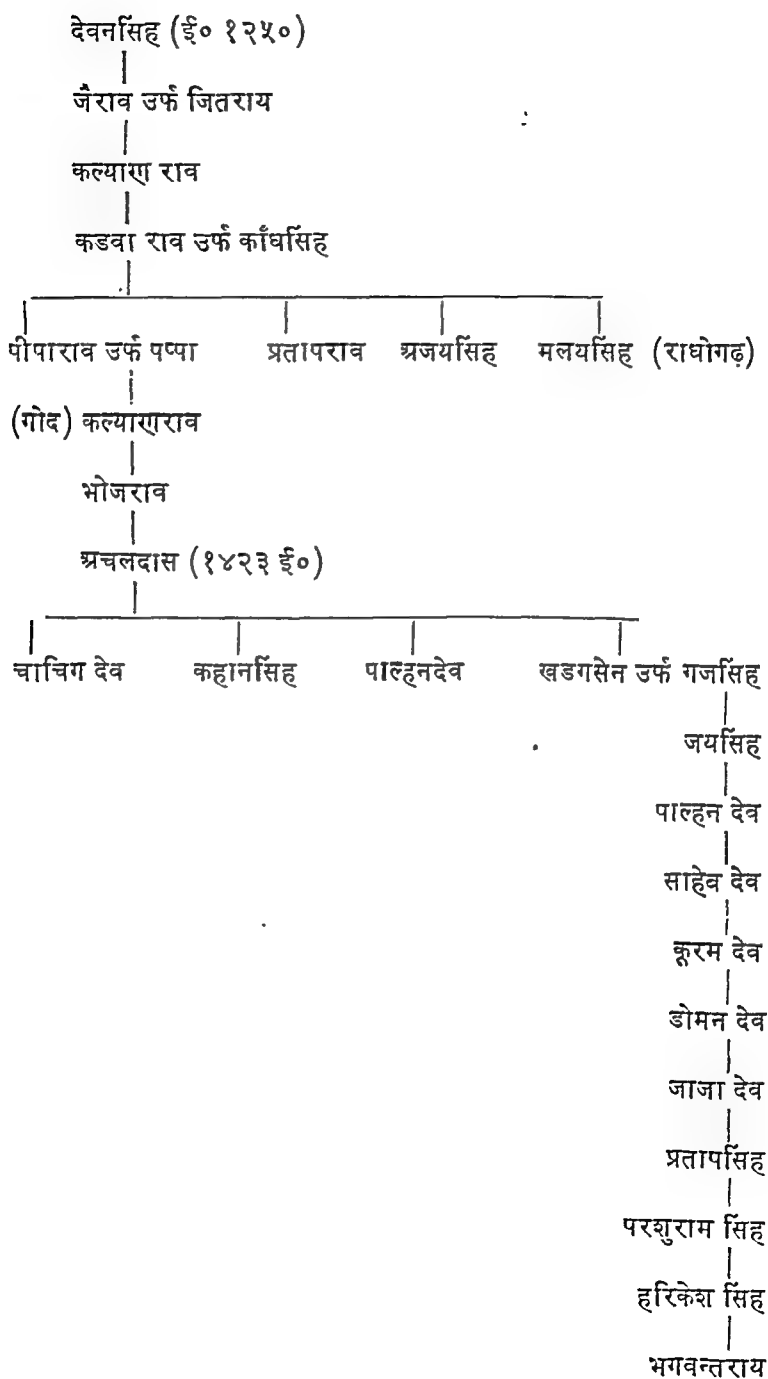
विक्रम की ११वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया चौहानों का यह वंश दक्षिण में नर्मदा-तट से लेकर उत्तर-पश्चिम में पंजाब, राजस्थान और पूर्व में गंगातट तक फैल गया।[1] इतना ही नही खीचियों ने संस्कृति के क्षेत्र में भी महत्व-पूर्ण कार्य किये है।

मध्यकाल के सुप्रमुख धार्मिक एवं सांस्कृतिक नेता रामानन्द को दीक्षा-गुरु बनाकर पीपाजी अपना राजपाट त्यागकर विरक्त साधु हो गये थे। उनके साधु व्यक्तित्व एवं उनकी वाणी ने इस देश की जनता पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। गुरु ग्रंथसाहब में उनके चरित्र का संकलन इसकी पुष्टि करता है। 'पीपाजी की परि-चई' तथा 'भक्तमाल' इत्यादि परवर्ती रचनाओं में उनके व्यक्तित्व के लोक-मानस पर पड़े गहरे संस्कारों की व्यंजना देखी जा सकती है। अचलदास और चांपानेर के पटाई रावल जैसिह की वीरता की छाप अब तक क्षेत्रीय लोक-जीवन में विद्यमान है।[2]

गागरोण दुर्ग में सन् १४२३ ई०[3] में अचलदास को वीरगति मिलने पर उसके तीन पुत्रो को अपने भाग्य की परीक्षा में इधर-उधर जाना पड़ा। एक ने दक्षिण गुजरात के चांपानेर दुर्ग पर झंडा गाडा, दूसरे ने मेवाड़ राज्य की शरण ली, तीसरे ने पूर्व का रास्ता पकड़ा। इसी तीसरे गजसिंह के वंश मे भगवंतराय का जन्म हुआ।[4]

गजसिंह ने असोथर वंश की नींव डाली : फतेहपुर गजेटियर पृ० १०२ में इस गजसिह के सम्बन्ध में लिखा है कि असोथर के खीची वंश के संस्थापक गजसिंह बताए जाते है जो सन् १५४३ ई० के आसपास खीची द्वारा (जो मध्यभारत मे राघोगढ़ के नाम से विख्यात है) से आकर यमुना तट पर स्थित अझभी के गौतम राजा की कन्या का पाणि-ग्रहण

---

१. पंजाब, राजस्थान, मालवा, गुजरात और उत्तर-प्रदेश में खीचियों के ठिकाने है।

२. गागरोण दुर्ग के खंडहरों मे अचलदास की अब तक पूजा होती है तथा शरद ऋतु में गरबानृत्य के अवसरों पर गुजरात-प्रदेश में पटाई रावल जैसिह का स्मरण किया जाता है। कहते है यह कि जैसिह के प्रजा-पालन और भक्ति से प्रसन्न होकर स्वयं दुर्गादेवी ही उनके गढ के गरबानृत्य में सम्मिलित होती थी। एक समय जैसिह का मन एक नृत्य करती हुई सुन्दरी पर स्खलित हो गया। वह अन्य कोई न होकर स्वयं देवी ही थी और उसने जैसिह को शाप दे दिया कि तुम्हें अब नष्ट हो जाना चाहिए, क्योंकि तुमने एक कुमारी पर कुदृष्टि डाली है।

३. ब्रिग्ज फरिश्ता, ४ पृ० ४७६ तथा तबकात-इ-अकबरी ३, पृ० १८१

४. हि० रा०, पृ० ८७०

किया। बाद में अइझी सहित अनेक गाँव दहेज में पाकर वहीं बस गए। गजेटियर की इस सूचना में तीन बातें हैं (१) असोथर वंश के पूर्वज गर्जसिंह हैं (२) वे खीची द्वारा (राघोगढ़) से अइझी आए तथा (३) उनके आने का समय १५४३ ई० के आस-पास है। इनमें मे पहली बात असोथर के वंश-वृक्ष,'हिन्द राजस्थान' और 'चौहान कुल कल्पद्रुम' से पुष्ट है। दूसरी और तीसरी बातें विवादास्पद हैं। अब निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गर्जसिह गागरौण से अइझी आए थे और वे इतिहास-प्रसिद्ध अचलदास के पुत्र थे। राघोगढ़ की अपेक्षा उनकी समीपता खिलचीपुर के परिवार से है।[1] गजसिह के अइझी आने का समय १५४३ ई० न होकर १४२३ ई० के बाद ही मानना होगा।[2] गर्जसिंह का अचलदास के पुत्र होने के प्रमाण मिलने से गजेटियर की तिथि भ्रम-पूर्ण प्रमाणित होती है। समय के निर्धारण के लिए दो प्रमाण हैं: (१) असोथर का वंश-वृक्ष जिसकी प्रामाणिकता संवत् १७७६ में लिखे गये जैसिह विनोद से होती है तथा (२) जैसिंह विनोद में दी गई गर्जसिंह की चौथी पीढ़ी के राजा साहबदेव की गौतमों पर विजय की तिथि संवत् १५५५ वि० के आधार पर।[3] जैमिह विनोद की इस तिथि के अनुसार गर्जसिंह का समय १४२३ ई० के आसपास का सिद्ध होता है, जो इतिहास-सम्मत भी है।[3] यह ख्यातों से भी प्रमाणित है। भारत राज्य-मंडल और चौहान कुल-कल्पद्रुम ने भी इसी का समर्थन किया है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त दशहरे के अवसर पर असोथर में एक छन्द पढ़ा जाता था। लेखक के पिताजी को उसकी केवल प्रथम पंक्ति का ही स्मरण है :

---

१. खिलचीपुर और असोथर के सम्बन्ध तब से लेकर अब तक बने हुए हैं। भाट-चारण हर तीन वर्ष में वंशावली इत्यादि लिख ले जाते हैं। वर्तमान समय में असोथर की गद्दी पर गोद लेने के प्रश्न पर परिवार में आपसी मतभेद होने पर, सबने यह सहमति दी थी कि इस विवाद को हल करने के लिए गोद खिलचीपुर घराने से लिया जाय। यह निर्णय सर्वमान्य रहा। वर्तमान राजा विश्वनाथसिंह जी खिलचीपुर से गोद लिये गये थे।

२. पन्द्रह सौ पचपन समै रन हनि शत्रु समाज
ऐझी साहेबदेव जू, किये सकल गड राज"—जैसिंह विनोद

३. साहेबदेव गजसिंह की चौथी पीढी में थे। गजसिंह का समय संवत १४८० वि० के आस-पास है। फारसी इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार अचलदास का अन्त और गागरोण किले पर मालवा सुलतान का अधिकार सन १४२३ ई० के अन्तिम महीनों में हुआ था। तबकात-इ-अकबरी (अ० अ०), ३, पृ० १८३ ब्रिग्ज फरिश्ता, ४ पृ० ४७६। इस प्रकार एक पुश्त के लिए सामान्यतया बीस-पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित करने पर इतिहास की दृष्टि से साहेबदेव का समय ठीक जान पड़ता है।

"पीपावंश कल्याण भोज के अचल बखानों ।"

इससे भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि गर्जसिंह अचलदास के ही पुत्र थे। इन सारे प्रमाणों को प्रत्यक्ष करने पर गजेटियर की तिथि को ठीक नहीं कहा जा सकता।

भगवंतराय के पूर्वजों का वृत्त

गर्जसिंह का समय निश्चित हो जाने पर आगे का इतिहास महाकवि देव की वाणी में सुरक्षित मिल जाता है। स्थानीय अनुश्रुतियाँ इसकी पुष्टि करती है। जैसिंह विनोद के अनुसार "गर्जसिंह गंगा स्नान के लिए प्रयाग आए हुए थे। यहीं उनकी गौतम राजा से भेंट हुई। मुसलमानों से संत्रस्त गौतम राजा ने इनकी सहायता माँगी। दोनों शक्तियाँ मिल गयीं और संयुक्त प्रयास से उस क्षेत्र से मुसलमानों का आतंक समाप्त कर दिया गया। गौतम राजा ने अपनी कन्या इनके साथ ब्याह दी और अइझी[1] का किला दहेज में दे दिया। कुछ दिनों बाद अपने पुत्र जैसिंह को अइझी का राज्य देकर एवं ननिहाल के संरक्षण में रखकर गर्जसिंह अपने पूर्वजों की भूमि में लौट गए। मातृवंश की संरक्षिता में रहने के कारण वत्स गोत्रीय जैसिंह गौतम गोत्रीय कहलाए। जैसिंह अत्यन्त वीर, निर्भीक, दानी एवं गुणग्राहक थे। इनके पुत्र का नाम पाल्हनदेव था, जिसकी सेवा में गौतमों ने नित्य नवीन भाव दर्शाए। पाल्हनदेव के पुत्र साहवदेव के समय में यह स्नेह-सम्बन्ध नहीं निभा। अपितु राज-काज के प्रश्नों को लेकर १५५५ विक्रमी में युद्ध हो गया, जिसमें गौतमों की पराजय हुई। अब अइझी गढ़ की अखंड सीमा पर साहवदेव का राज्य हो गया। साहबदेव के वंशक्रम में क्रमशः कूरमदेव, डोमनदेव, जाजादेव, प्रतापसिंह और परशुरामसिंह हुए। परशुरामसिंह के पुत्र का नाम हरिकेश था। इनके दो प्रचलित नाम थे। एक हरिकेशसिंह और दूसरा अड़ारूसिंह। मुहम्मद कवि को छोड़कर हिन्दी के सभी कवियों ने हरिकेशसिंह नाम का व्यवहार किया है जबकि मराठा एजेंटों तथा फारसी के इतिहास-लेखकों ने उदारू, अजारू, और अड़ारूसिंह नाम दिये हैं। मालूम ऐसा होता है कि

---

१. कहा यह जाता है कि खीचियों की अन्तर्वेद में प्रथम राजगद्दी अइझी ग्राम के किले में स्थापित हुई। तीसरी पुश्त में कुछ कारणों से स्थानान्तरित होकर असोथर ग्राम में आ जाना पड़ा। स्वयं गजसिंह की सन्तान तो असोथर और वरुई में आबाद हुई परन्तु अपने भाई-बन्दों को उन्होंने असोथर के आस-पास बसा लिया। इस समय फतेहपुर जिले के ऐझी कोटवा, जरौली, कौहन, कौडर, सराय खालिस, प्रेम मऊ कटरा, इरनवाँ गाँवों में रहने वाले खीची गागरोन राजवंश के हैं।

उच्चारण और लिखावट भेद के कारण ही 'अड़ारू' शब्द के कई रूप हो गये हैं। संभवतः यह नाम उन्हें अपने गाँव के भाई-बन्दों से उस समय मिला होगा जब वे अपने खेत में डेरा जिसे स्थानीय भाषा में 'अड़ार' कहते हैं, में बसकर खेती करते रहे होंगे। यह नाम उनकी इसी निर्धनता का प्रतीक है। इस प्रकार उनके हरिकेश और अड़ारू दोनों ही नामों के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। हरिकेशसिंह के देव सेनापति षडानन के पौरुष की समता करने वाले ६ पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें से अरिमर्दन, भगवंतराय और समरसिंह विशेष प्रतिभावान थे। भगवंतराय का वयक्रम से दूसरा स्थान था किन्तु वे धैर्य आदि गुणों में सर्वप्रमुख थे। इन्होंने गाजीपुर को अपने बाहु-विक्रम से जीता और उस पर शासन करने लगे। इनके यज्ञ, योग, जप इत्यादि से प्रसन्न होकर भगवान ने इन्हें धर्म, अर्थ और काम की भाँति रूपराय, कीरतसिंह और जैसिंह को पुत्र रूप में प्रदान किया।"[1]

मध्यकाल के इतिहास में वंश-परम्परा को प्रेरणा-स्रोत के रूप में व्यापक स्वीकृति मिली थी। लगभग सभी स्वाभिमानी राजा और सामन्तों के प्रयत्नों में इसकी भूमिका प्रेरक-रूप में विद्यमान रही है। दरबारी कवि राजाओं के पूर्वजों की कीर्ति-गाथा को स्वर-बद्ध करते थे। कुछ स्वाभिमानियों ने तो इस पर अपनी पूरी शक्ति लगाई जैसे राजसिंह ने मान कवि से राज-विलास की रचना करवाई। बूँदी के हाड़ाओं ने सूर्यमल्ल से वंशभास्कर लिखवाया। चारण-भाटों का प्रत्येक दरबार में निश्चित रूप से स्थान सुरक्षित था। युद्ध आदि अवसरों पर उत्साह संचार के लिए इनकी वाणी ने सदैव सहयोग किया है। भगवंतराय के व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी वंश-परम्परा का बहुत बड़ा ऋण है। उनके व्यक्तित्व में शस्त्र एवं शास्त्र की निष्णातता उन्हें पूर्वजों से मिली थी। उनके हृदय में इस परम्परा के प्रति अत्यन्त आत्म-गौरव एवं श्रद्धापूर्ण भाव थे।[2] उनके अन्तिम युद्ध की अप्रतिम वीरता को बन्दीजनों के विरद ने ही स्फुरित किया था।[3] मालवा देश से आने के कारण उन्होंने अपने साथ विक्रम भोज की परम्परा को भी सार्थक

---

१. जैसिंह विनोद

२. 'पांपावंश कल्यान भोज के अचल बखानो' प्रतीक का छंद असोथर में पिछले दिनों तक लोगों को याद था। इस पृष्ठभूमि में भगवंतराय की यह उक्ति देखिये :

नाम प्रसिद्ध अहै जग में मम
भूमि तजे फल कौन जिये है गमा०

३. छत्र धारि छितिपाल आए
बिरद बन्दी जनन गाये (विरुदावली)

करना चाहा था।[१] अकबर के समय में राघोगढ़ की विशेष उन्नति हुई थी। शार्ङ्गधर न्याय से उन्होंने इस यश को भी अपना लिया था।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवंतराय ने एक बड़ी ही गौरवशाली परम्परा को अपने वंशगत इतिहास के माध्यम से प्राप्त किया था।

भगवंतराय की जीवनी

जन्मकाल का अनुमान : फतेहपुर गजेटियर में लिखा है भगवंतराय के पिता अपना खेत जोत रहे थे। उनके खेत की मेड़ से लगा हुआ एक अहीर का खेत था। अहीर दोपहर के समय अपने घर गया था पर हरिकेशसिंह घर नहीं गए और वृक्ष की छाया में ही विश्राम करते रहे। शीघ्र ही उन्हें थके हुए होने से नींद आ गई। अहीर मित्र ने गाँव से लौटने पर उन्हें दूर से इसी अवस्था मे देखा। वह पुत्र जन्म का सुख-संवाद हरिकेशसिंह को देने के लिए जैसे ही आगे बढा कि उनके मस्तक पर फन की छाया किये हुए एक सर्प को बैठे देखा ; यह देखते ही वह भय से सहम गया। सर्प मस्तक पर पड़ने वाली धूप को अपने फन से आड़ रहा था। अहीर के चिल्लाने से साँप वहाँ से सरक गया और हरिकेशसिंह की नींद भी टूट गई। वे उठ बैठे। उन्हें स्वस्थ पाकर अहीर ने परमप्रसन्नता प्रकट की एवं पुत्र जन्म का संवाद दिया। किन्तु पिता का मन इतना अधिक कुंठित था कि इस संवाद से उनके क्षोभ की घुटन और अधिक गहरी हो गई। वे अपने थके मन से अपना खेत जोतने में पुनः लग गये। कहते हैं कि भैंसों के आगे बढ़ते ही हल की फाल सुवर्ण की साँकल में अटक गई। इस साँकल में अशर्फियों से भरे हुए सात स्वर्ण कलश बँधे थे जो हरिकेशसिंह के हाथ लग गए।[३]

अनुश्रुति द्वारा पुष्ट गजेटियर की इस उद्धरणी से दो निष्कर्ष निकलते हैं—(१) भगवंतराय का जन्म दिन के समय हुआ था, लगभग मध्याह्न में। (२) महीना आषाढ़ से लेकर क्वार के बीच कोई भी हो सकता है, जब किसान अपना खेत जोतते हैं। संभावना आश्विन की ही अधिक है। इसी माह की धूप में विशेष-रूप से थकान उत्पन्न होती है। वर्ष का विचार भी किया जा सकता है। उनके

---

१. भयेते विक्रिम भोज के पीछे मालव भूप'
(जैसिंह विनोद)

२. सिरोंज पति अच्छी नृपति खीची जाजा देव।
जैसिंह विनोद की यह पंक्ति राघोगढ की कीर्ति [अकबर के समय) से समन्वित है।]

३. फतेहपुर०, पृ० १०२

अंतिम युद्ध की तिथि १७३५ ई० निश्चित है। इस समय वे ६० वर्ष के भीतर ही थे। सदानंद कवि के रासा से इसका संकेत मिलता है।

कवि सदानन्द भगवंतराय के प्रतिपक्षी सादत खाँ को ६० वर्ष का बूढ़ा बताकर भगवंतराय के पौरुष को ललकारता है, इससे प्रकट यह होता है कि दूत की दृष्टि में भगवंतराय से सादक खाँ अधिक आयु का था। वे इस समय ५० वर्ष से कम भी नहीं थे, इसके लिये भी आधार है। देव ने १३ वर्ष पूर्व उनके तीसरे पुत्र जैंसिह के नाम से 'जैंसिह विनोद' की रचना की थी। ग्रन्थ की रचना या तो शिक्षा के लिए थी अथवा जैंसिह के नाम की प्रसिद्धि के लिए। संभवतः १३ वर्ष पूर्व जैंसिह १२ वर्ष से कुछ ऊपर रहे होंगे। इस प्रकार १७३५ में जैंसिह २५ वर्ष से कुछ ही ऊपर पहुँचे होंगे और उनके सबसे जेठे भाई रूपराय लगभग ३० वर्ष की आयु के रहे होंगे। यदि रूपराय को २०-२२ वर्ष की अवस्था में भी उत्पन्न हुआ मानें तो भी भगवंतराय की अवस्था १७३५ में ५० वर्ष से ऊपर रही होगी। इन संकेतों के आधार पर हम वीरगति के समय भगवंतराय की आयु का ५५ वर्ष के आसपास होने का ही अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार इनका जन्म-काल लगभग १६८० ई० या उसके आसपास मानना ठीक होगा।

पिता की आर्थिक स्थिति : फतेहपुर गजेटियर के अनुसार भगवंतराय के पिता हरिकेशसिह के हिस्सेदारों ने उन्हें पैतृक सम्पत्ति से वंचित रखा था। अतः वे अत्यन्त निर्धनता में अपना जीवन बिता रहे थे। बैलों के स्थान पर खेत जोतने के लिए उन्हें भैंसों से काम चलाना पड़ता था। उनके हृदय की निर्धनता-जन्य पीड़ा की व्यंजना गजेटियर की इस घटना से होती है कि 'पुत्र जन्म का संवाद पाकर भी पिता प्रफुल्लित न हुए और उलटे अपना खेत जोतने का काम पुनः करने लगे।'

प्रारंभिक संभावनाएँ : किंवदंती के अनुसार भगवंतराय के जन्म से ही परिवार की निराशा और उसका दारिद्र्य-संकट दूर हो गया था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भगवंतराय के जन्म को माता, पिता परिवार और सम्बन्धियों ने अपने लिए अत्यन्त शुभ माना होगा तथा उसी अनुपात में उन्हें आदर और स्नेह दिया होगा। दारिद्र्य और कंगाली के अंधकार के बाद समृद्धि और सम्पन्नता प्रातःकाल के उल्लास की भाँति सम्पूर्ण वातावरण में उतरी होगी और इसी वातावरण में भगवंतराय का जीवन-कमल प्रस्फुटित हुआ। परिवार ने दुःखों और उत्पीड़नों को झेलकर अब आशा और विश्वास के नए जीवन में पदार्पण किया, यह भाग्योदय दैवी चमत्कार की भाँति था। अतः आस्तिकता की भावना विशेष रूप से दृढ़ हुई होगी। बालक भगवंतराय को उन सभी संघटनाओं को केंद्र-बिन्दु मान लिया गया होगा इसलिए उनके व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास को नियोजित

करने वाली बड़ी ही अनुकूल मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि निर्मित हुई। भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में उनके विकास के लिए अब परिवार में प्रेरणा-स्रोत विद्यमान थे।

शिक्षा-दीक्षा : उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सहज में ही यह अनुमान लग जाता है कि भगवंतराय की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था आरंभ में ही की गई होगी। हरिकेशसिंह ने अपनी सम्पन्नता का लाभ लेकर शस्त्र एवं शास्त्रों में निपुण तथा निष्णात कला-मर्मज्ञ आचार्यों द्वारा उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया होगा। अपनी लघु वय से ही अनेक साहसी अभियानों एवं संघर्षों में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को यदि आरम्भ में ही शिक्षा न मिली होती तो वह परिपक्वता शायद न देखने को मिलती जो भगवंतराय ने उपलब्ध की थी। उनकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा के प्रकट विवरण नहीं ज्ञात पर, परिणाम को देखकर उनकी शिक्षा-दीक्षा का अनुमान किया जा सकता है। उनकी शारीरिक क्षमता, शस्त्र-निपुणता, अश्वारोहण, व्यूह रचना एवं सैन्य-संचालन आदि युद्ध-क्षेत्र में प्रकट होने वाली योग्यताओं की पृष्ठभूमि में शस्त्र और युद्ध विद्या की एक सुनिश्चित शिक्षा का आधार अवश्य मानना होगा, जिसे परिस्थितियों और अनुभवों ने परिमार्जित और परिपुष्ट किया। इसी तरह उनकी कविताओं के अवलोकन से पुष्ट होता है कि उन्होने संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों, धर्म-ग्रन्थों और हिन्दी काव्य का सम्यक प्रकार से अध्ययन और मनन किया था। वे फारसी भाषा और साहित्य से भी अच्छी प्रकार परिचित थे एवं उसमें कविता भी कर सकते थे। इन्ही तथ्यों के आधार पर उनकी शिक्षा का अनुमान लगता है।[1]

वस्तुतः भगवंतराय का दीक्षा-गुरु स्वयं उनका युग था, जिसमें वे जन्मे थे। उनके जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्ष औरंगजेब के शासनकाल में बीते। भारतवर्ष के तत्कालीन इतिहास में यह समय अत्यधिक तनावपूर्ण था, इसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप उनका व्यक्तित्व संगठित हुआ। जनता एवं अनेक जन-नायकों के साहस और दृढ़ता के आख्यान एक ओर उन्हें वीरता के द्वारा कीर्ति-वरण के लिए प्रोत्साहित करते थे तो दूसरी ओर शासन की अनीति और अत्याचार उन्हें लोहा लेने के लिए बाध्य कर रहे थे। वास्तव में इसी युग-विशेष के कारण उनका आदर्श भी शिवाजी, छत्रसाल, राजसिंह, दुर्गादास एवं गुरु गोविन्दसिंह आदि का ही अनुसरण कर रहा था।

---

१. अगले अध्याय में उनके कृतित्व-विवेचन के प्रसंग में यह स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

प्रामाणिक जीवनी : असोथर की एक अनुश्रुति के अनुसार भगवंतराय ने सबसे पहले असोथर से दक्षिण-पूर्व लगभग १० मील की दूरी पर स्थित भसरोल ग्राम की एक गढ़ी को अपने अधिकार में किया था। वहाँ के जमींदार का नाम कोकलित राय बताया जाता है। ये जाति के कायस्थ थे। शिकार-खेलते हुए एक बार भगवंतराय उधर ही जा निकले तथा पास तक पहुँचने के कारण राय के यहाँ भी चले गए। राय के यहाँ उन्होंने उसके पलंग के सिरहाने का आसन ग्रहण किया। एक किशोर को सिरहाने बैठता देखकर राय को अपनी अवहेलना का आभास हुआ तथा उसने इसके पिता की प्रारम्भिक दरिद्रता के नाम पर इनको तिरस्कृत किया। भगवंतराय इस अपमान को पीकर चुपचाप वहाँ से चले आए। निकट ही भविष्य में वेतन न पाने के कारण राय के यहाँ से अन्यत्र नौकरी के लिए प्रस्थान करने वाले असंतुष्ट सिपाहियों का एक दल भगवन्तराय को कहीं रास्ते में मिल गया। भगवन्तराय ने उनसे भेंट होने पर उन्हें प्रोत्साहित किया और आश्वासन दिया कि यदि वे राय के ऊपर आक्रमण करने को प्रस्तुत हो जायँ तो भगवन्तराय उनका समस्त वेतन चुकता करके उन्हें अपना सैनिक बना लेंगे। इसी सेना की सहायता से भसरोल जीत कर उन्होंने अपने तिरस्कार का बदला चुकाया तथा अपनी योग्यता और अपने साहस से सबको चकित कर दिया। यह उनकी पहली सफलता है। इसका सन् संवत् नहीं ज्ञात है। और न इसके बाद की ही घटनाएँ किसी को ज्ञात हैं। सम्भवतः लिखित रूप से उनके नाम का सर्वप्रथम उल्लेख ३० वर्ष की आयु में श्रीधर कवि के जंगनामा में हुआ। नवम्बर १७१२ ई० में जहाँदारशाह और फरुखसियर के मध्य लड़े गए खजुहा के युद्ध में वे फर्रुख-सियर के पक्षधर थे। कड़ा मानिकपुर और कोड़ा जहानाबाद के फौजदारों के साथ ही उन्हें भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा होगा। जंगनामा के अनुसार इस युद्ध में उनकी वीरता और उनकी प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है।[1] विजेता का पक्षधर होने के कारण उन्हें अनेक लाभ हुए होंगे। सर्वप्रथम इन्हें इनकी अबतक की जीती हुई भूमि की मान्यता प्राप्त हुई होगी एवं सूबेदारों की दृष्टि में इनका सम्मान और प्रभाव बढ़ गया होगा। साथ ही मुगलों की युद्ध-शैली, उसकी विशेषताएँ और त्रुटियों को भी निकट से देखने-समझने का अवसर मिला। आसपास के क्षेत्रों में इनके शौर्य और इनकी वीरता के कारण इनकी धाक जम गई होगी।

---

१. सरदार सिगरे हाँकिदै दौरे दिलेर तहाँ तबै
भगवन्तराय, दिवान कायथ वीरवर काकोरिया
श्री० जं०

इसी तिथि के लगभग उन्होंने गाजीपुर के पैनागढ़ पर भी अधिकार करके उसका पुर्ननिर्माण करा लिया होगा एवं असोथर को छोड़कर अब वे वही रहने लगे।[1] सम्भवतः खजुवा के युद्ध के उपरांत भगवन्तराय की मुगलों से नहीं बनी और वे शासन के विरोधी बनाकर ही अपनी शक्ति को संगठित और परिपुष्ट करते रहे।[2] उनकी विद्रोही शक्ति की धाक समस्त अन्तर्वेद (मध्यदेश) में १७२० ई० तक फैल गई थी और उनका प्रभुत्व भी इस क्षेत्र के छोटे-छोटे जमीदारों पर स्थापित हो गया था। उनके सम्बन्ध न केवल मध्यदेश में ही थे वरन् वे अवध बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड के क्षेत्रों में भी थे। महाराज छत्रसाल बुंदेला, बूंदी के राव राजा बुद्धसिंह हाड़ा, डौंड़ियाखेर के राजा मर्दनसिंह इत्यादि से उनके बड़े ही घनिष्ठ सम्बन्ध थे।[3] इलाहाबाद के नागर सूबेदार के विद्रोह के समय (१७२० ई० के आसपास) इन्होंने भी सूबेदार का ही पक्ष लेकर केन्द्रीय सत्ता का विरोध किया था। भगवन्तराय की हिन्दू-भावना को ध्यान में रखकर सर जे० एन० सरकार के शब्दों को देखिए "आसपास की समस्त हिन्दू शक्तियाँ नागर सूबेदार की सहायता के लिए संगठित हो गई थीं" तथा "बुद्धसिंह हाड़ा मुगलों का पुराना शत्रु स्वयं सहायता के लिए उपस्थित हुआ एवं छत्रसाल को भी सहायता के लिए भड़काया"[4] इनके साथ भगवन्तराय के गठबन्धन सम्भवतः इससे पहले से ही रहे होंगे; यदि यह नहीं भी माने तो इस समय अवश्य ही घनिष्ठ हो गये होंगे।

मुगलों से कट्टर वैमनस्य और छत्रसाल से मित्रता : इस विद्रोह के समय तक भगवन्तराय ने शक्ति अर्जित करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया था। इस कार्य को उन्होंने अत्यन्त कुशलता और दूरदर्शिता से पूरा किया, अन्यथा उन जैसी साधारण स्थिति के व्यक्ति का मध्यदेश की समतल भूमि में पनप सकना नितांत असम्भव हुआ होता। यह उनकी प्रतिभा की सच्ची कसौटी थी, जिसमे वे खरे उतरे। १७२१-२२ में वे मुगलों के उग्र विरोधी के रूप में इतिहास में चित्रित हैं। अब तक उन्होंने मुगलों की तथा मुगलों के विरोधियों की युद्ध-शैलियों को

---

१. "दीरघ लघु भगवन्त भौ, गाजीपुर पुरहून" जैसिंह विनोद—ग्रंथ रचना की तिथि ई० सन् १७२२ के पहले ही भगवन्तराय गाजीपुर के स्वामी हो गये होंगे।

२. "आगरे की पौर ते प्रयाग लौं पुकार उठी देव उपहार याकि लेहु अपहार हौं"। "जैसिंह विनोद' की इस उक्ति से भी उनके मुगल-विरोधी होने की ध्वनि मिलती है।

३. स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार भगवन्तराय की छोटी बहन भगवन्त कुँवरि का व्याह मर्दनसिंह के साथ हुआ था। तुलना कीजिये बैसवारा, पृ० ३२। बुद्धसिंह हाडा के साथ इनके सम्बन्ध छत्रसाल के माध्यम से संभव जान पड़ते हैं।

४. ले० मु० भाग २, पृ० ६

अच्छी प्रकार से परख लिया था। इस तुलनात्मक ज्ञान के सहारे उन्होंने अपनी युद्ध-शैली को नवीन रूप दिया था जो अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ। एक सैनिक और सेनापति के रूप में उनके भीतर आत्म-विश्वास की जो पराकाष्ठा मिलती है, उसका आधार यही था। छत्रसाल के साथ मिलकर उन्होंने बुन्देलखण्ड में जो उपलब्धियाँ की थीं उनके विवरण नहीं ज्ञात हैं किन्तु अनुश्रुतियों की परम्परा में वे अब तक सुरक्षित हैं। तत्कालीन मुगल साम्राज्य के लिए वे अत्यधिक घातक थीं इसीलिए छत्रसाल को नष्ट करने के लिए बंगश नवाब ने बुन्देलखण्ड पर अपना इतिहास-प्रसिद्ध आक्रमण किया था।[1]

मुहम्मद खाँ बंगश के बुन्देलखण्ड पर हुए आक्रमण के समय इनकी स्थिति का अनुमान : भगवन्तराय की गति विधियों पर पुनः एक आवरण पड़ जाता है। प्रश्न यह उठता है कि बुंदेलखण्ड के 'गजेन्द्र' छत्रसाल के ऊपर पड़े संकट में उन्होंने सहायता की अथवा तटस्थ होकर तमाशा देखते रहे? तत्कालीन उपलब्ध ऐतिहासिक विवरणों में उनके नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी उनके मित्रता के कर्तव्य में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं। इस कथन के निम्न आधार हैं—(१) यदि इस संकट-घड़ी में उन्होंने छत्रसाल से सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया होता तो इन्हें विश्वास-घाती माना जाता और भविष्य में इनके सम्बन्ध किसी भी प्रकार छत्रसाल से नहीं रह सकते थे। किन्तु इतिहास में अनेक प्रमाण हैं कि इनके और छत्रसाल के सम्बन्ध भविष्य में निरन्तर दृढ़ होते गए[2] (२) बंगश नवाब की छत्रसाल के साथ सन्धि हो जाने पर भी इन्होंने अपना विद्रोही स्वर नहीं बदला था। बुंदेलखण्ड से लौटकर जब बंगश दिल्ली गया था तब भी उन्होंने पूर्व की ओर इलाहाबाद की सीमा दबाने का प्रयत्न किया था।[3] यदि ये नवाब से दबकर मिल गए होते तो इस अभियान का उल्लेख न हुआ होता तथा भयवश विद्रोही स्वर से विमुख होने पर भी इसकी सम्भावना के लिए स्थान नहीं था। अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि इन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ छत्रसाल का समर्थन किया था। मुहम्मदशाह रंगीले के आदेश के होते हुए भी कोड़ा इत्यादि के फौजदार जो बंगश की सहायता में नहीं पहुँच सके उसका रहस्य स्थानीय परिस्थितियों की विकटता में हो सकता है। इस समय मुगलों की शक्ति को आसपास अटकाए रखना ही छत्रसाल की सबसे बड़ी सहायता थी। इन्होंने इसी का निर्वाह

---

१. लें० मु० भाग २, पृ० २३।
२. पेशवा दफ्तर भाग १४—पत्र सं० ६ तथा भाग १५—पत्र संख्या १०
३ बंगश०, पृ० ३०५

किया होगा। सादत खाँ इनकी सीमा को इस समय तक दो क्षेत्रों से घेर चुका था। शेष दिशाओं में बंगश नवाब की शक्ति फैली हुई थी। इस संकट-घड़ी में इन्होंने अपने अस्तित्व की रक्षा की तथा दो में से किसी को भी यह साहस न होने दिया कि इनकी सीमा में प्रवेश करे। इस युद्ध में छत्रसाल को यही इनकी सहायता और सहयोग था।

तरहुँवा (चित्रकूट) के सोलंकियों का क्षेत्र इनके सबसे अधिक निकट पड़ता था। सम्भवतः इसी भूमि से होकर इनका और वीर छत्रसाल का सम्बन्ध बना रहा होगा। सोलकियों की तरहुँवा के पतन के उपरान्त बची हुई सेना ने सम्भवतः अंतिम रूप से इन्ही के यहाँ आकर आश्रय ग्रहण किया था,[१] यह भी प्रमाणित करता है कि बुन्देलखण्ड की राजनीतिक गति-विधियों में उनका सहयोग और समर्थन छत्रसाल को प्राप्त था।

कोड़ा जहानाबाद की फौजदारी पर अधिकार और फौजदार की पुत्री से अपने पुत्र का विवाह : भगवन्तराय के अन्तिम ३-४ वर्षो के संघर्षो का इतिहास कई स्रोतों से प्रकाश में आया है। इस समय तक भगवन्तराय की शक्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि सूबेदारों में भी इनका सामना करने का साहस नही था।[२] बादशाह और उसके प्रधान मन्त्री इनको समूल विनष्ट कर देने में ही अपना कल्याण देख रहे थे। प्रधान मन्त्री कमरुद्दीन ने कोड़े के फौजदार को आदेश दिया किन्तु उसे इस प्रयास में बुरी तरह पराजित होकर प्राण गँवाने पड़े।[३] खाँ की समस्त दुर्नीतियों और उसके अत्याचारों के सम्मुख खड़े होकर इन्होने उसकी मदान्धता की चुनौती स्वीकार की और प्रतिशोध में खाँ के हरम की बेगमो से अपने मित्रों और सम्बन्धियों की सगाई करा दी।[४] स्वयं भी अपने सबसे बड़े पुत्र रूपराय का व्याह प्रधान मन्त्री की भतीजी—जाँनिसार खाँ की पुत्री, अनीस से किया[५] और कोड़े की फौजदारी को भी अपने अधिकार मे कर लिया तथा उसके शासन की व्यवस्था नीतिवान व्यक्तियों के हाथों में सौपी[६]। जाँनिसार खाँ प्रधान मन्त्री कमरुद्दीन खाँ का साला था इसलिए प्रधान मन्त्री की पत्नी ने बार-बार अपने

---

१. विरुदावली में आये सोलकियो के उल्लेख से संकेत मिलता है।

२. तुलना कीजिये सा० जा० इ०—८, पृ० ३४१

३. जंगनामा० १७१

४. मीरातुल० पृ० १७१ तथा सियारुल० १, पृ० २६६

५. मीरातुल०, पृ० १७१ अ

६. सियारुल०, पृ० २६६ तथा रासा०

भाई का बदला लेने के लिए उत्तेजित किया। भगवन्तराय ने मुसलमान कन्याओं को हिन्दू बना लिया था इसलिए वे न केवल सल्तनत के ही वरन् समस्त मुस्लिम धर्म के शत्रु थे।[1] इसीलिए इनको नष्ट करने की समस्या मुस्लिम शासन के लिए सबसे प्रमुख थी। दक्षिण में मराठों को पराजित करने से भी अधिक महत्व इनको मिटाने के लिए दिया गया। मुहम्मदशाह द्वारा दक्षिण में कमरुद्दीन खाँ के नाम लिखे गए पत्र से यह स्पष्ट है।[2] इस धर्म-संकट की घड़ी में सारी शक्ति लगाकर इनको नष्ट करना ही मुगल राज्य को इष्ट हो गया था। इन्होंने भी अपना लक्ष्य केवल कोड़े की विजय तक ही नहीं सीमित रखा था वरन् आगरा और दिल्ली से भी मुगलों को उखाड़ देना चाहा। छत्रसाल के पुत्रों हिरदेशाह और जगतराय एवं अन्य राजपूतों को मिलाकर वे पश्चिम में आगरे की ओर कालपी से भी आगे पहुँच चुके थे।[3]

कमरुद्दीन खाँ से संघर्ष : कमरुद्दीन खाँ ने बादशाह के पुत्र के साथ ही अपनी विशाल सेना को सिरोंज के रास्ते से उत्तर की ओर मोड़ दिया। मार्ग में दतिया और ओरछा के बुंदेले राजाओं को भी साथ में ले लिया। उस सेना ने यमुना उतर कर गाजीपुर के दुर्ग में भगवन्तराय को घेर लिया। एक पहर दिन चढ़े से लेकर काफी रात ढले तक दुर्ग के भीतर से गोलाबारी होती रही। किले को तीन ओर से घेर लिया गया, परन्तु भगवन्तराय रात को बचकर निकल गये।[4] असोथर होते हुए वे यमुना उतरकर बुंदेलखंड पहुँच गए। किले को दूसरे दिन जीत लिया गया और उसका अधिकार दतिया के राव राजा रामचन्द्र बुंदेले को सौंप दिया गया जिसने उसे तोड़कर मिट्टी में मिला दिया।[5] कोड़ा की फौजदारी ख्वाजा मीर के अधिकार में आ गई। कमरुद्दीन इतने से ही सन्तोष करके लौट जाने वाला न था, वह बुंदेलखंड में भी पीछा करके भगवन्तराय को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता था।[6] किन्तु वर्षा ऋतु के कारण यमुना में बाढ़ आ गई थी, इसलिए वह इसी तट से बाँदा के मराठा एजेंट को फोड़कर अपने मनोरथ को पूरा करने

१. खा० खा० हु० ८ पृ० ३४७
२. मुहम्मदशाह ने लिखा था "बाहर प्राहिबिटेड फ़ट बागन कद लाहुल" अर्थात् बड़ी कठिनाई स्थिति है, ले० मु० भाग—२ पृ० २७३
३. पेशवा दफ्तर० १४ पत्र सं० ६
४. बंगश० पृ० ३२५-२६ ले० मु० पृ० २७७, सीरातुल० पृ० ४७२ ब
५. सीरातुल० पृ० ४७२ ब
६. पेशवा दफ्तर भाग—१४ पत्र सं० ६

के प्रयत्न में लगा रहा, इस युक्ति से भी सफलता मिलते न देख वर्षा से ऊबकर वह अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति करके स्वयं दिल्ली वापस चला गया। अपनी असफलता की खीझ में उसने मथुरा के मन्दिरों में उत्पात भी किया।[१]

पुनः अपने प्रदेश पर अधिकार : इधर भगवन्तराय, प्रधान मन्त्री के पीठ फेर कर जाते ही अपने प्रदेश को पुनः जीतने के लिए यमुना उतरकर अन्तर्वेद की भूमि में खड़े हो गए। राव रामचन्द्र तथा ख्वाजा मीर ने भी सामना करने के लिए अपनी सेनाओं को लेकर यमुना के तट पर मुठभेड़ की। दोनों ही पक्षों के लिए यह भाग्य-निर्णायक संग्राम था। भगवन्तराय ने अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। ख्वाजा मीर गोली से घायल हो गया और उसका हाथी युद्ध-भूमि से भाग निकला। साहबराय नामक सामन्त ने साहसपूर्वक सामना तो किया किन्तु उसके भाग्य में भी मृत्यु बदी थी। युद्धभूमि की यह परिस्थिति देखकर स्वयं राव रामचन्द्र ने अपने हाथी को भगवन्तराय के सामने बढ़ा दिया किन्तु वह भगवन्तराय के बर्छे के प्रहार को न झेल सका और रणभूमि में जूझ गया। उसके गिरते ही दिल्ली की सेनाओं में अँधेरा छा गया। नेतृत्व विहीन होकर निराशा में वह इधर-उधर भाग निकली। विजेता भगवन्तराय ने अपने प्रदेश पर अपना अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया।[२]

इस समय भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति में बड़ी उथल-पुथल थी। दिल्ली के उच्च अधिकारियों और सूबेदारों की दलबन्दियों के अतिरिक्त हिन्दुओं में भी संगठन के प्रयत्न हो रहे थे। सम्भवतः हिन्दू सामन्त खुलकर इसलिए नहीं मिल पाए थे कि उनमें अपने व्यक्तिगत हितों के प्रश्न कुछ अधिक प्रबल थे। फिर भी उनके भीतर हिन्दू भावना और हिन्दू राज्य के स्वप्न जड़ें जमा चुके थे। छत्रसाल का वंशज को अपने राज्य का एक चप्पा भी न देकर बाजीराव को एक-तिहाई भूमि बाँट देना इसका प्रमाण है। अजितसिंह द्वारा दिल्ली हरम से अपनी कन्या को वापस लाने में इसी प्रवृत्ति का प्रस्फुटन कई वर्ष पहले देखा जा चुका था।[३] सवाई जैसिंह की गतिविधियाँ भी इसी दिशा में मोड़ ले रही थीं।[४] मराठों में इसका खुला प्रचार था एवं भगवन्तराय ने तो मध्यदेश में खुलकर इसकी

---

१. पेशवा दफ्तर भाग—१४ पत्र सं० ९

२. मीरातुल० पृ० १७१ व जंगनामा०, विरुदावली० व शंभुनाथ मिश्र के छंदों पर आधारित

३. ले० मु० भाग—१ पृ० ४२९

४. तुलना कीजिये ले० मु० भाग—२, पृ० २७८

उद्घोषणा कर दी थी।[1] आन्तरिक और वाह्य समस्याओं के कारण दिल्ली शासन के सामने एक विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी।

सादत खाँ के साथ युद्ध और दुर्जनसिंह के हाथों मृत्यु : अवध के नवाब सादत अली खाँ की इस समय विशेष ख्याति हो रही थी। वह योग्य, स्वाभिमानी और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। मुहम्मदशाह ने इस समय दो समस्याएँ सुलझाने के लिए उसके सामने रखी होंगी। एक भगवन्तराय की; दूसरे जैपुर के सवाई जैसिंह की।[2] सादत खाँ ने सम्भवतः जैसिंह को विजित करना अधिक सम्मानजनक समझ कर पहले उसी को लक्ष्य किया। वह अवध की चालीस सहस्त्र दुर्जय सेना लेकर दिल्ली की ओर चला।[3] अपने एक नायक मीर खाँ को उसने मार्ग में गंगा पार उतार कर रसूलाबाद से कर वसूल करने के लिए भेजा।[4] इस प्रदेश को भगवन्तराय अपने अधिकार में किए हुए थे। मीर खाँ को भगवन्तराय ने तहस-नहस कर दिया।[5] यह संवाद पाते ही नवाब के क्रोध का ठिकाना न रहा। अब नवाब ने पहले इसी बला से निपट लेने के लिए अपनी सेनाओं को गंगा की ओर मोड़ दिया। बिठूर के पास गंगा उतरकर किनारे-किनारे वह भगवन्तराय के दुर्ग गाजीपुर की ओर बढ़ा।[6] मार्ग में अनेक हिन्दू सामन्त भी सेना में मिल गए। नरवल और खजुहा के मार्ग से नवाब की सेना गाजीपुर की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर पहुँच गई। भगवन्तराय ने अपने मन्त्रियों, बांधवों और सेनापतियों से मन्त्रणा करके युद्ध का निश्चय किया।

इसी बीच नवाब का दूत सन्धि की शर्तें लेकर दरबार में उपस्थित हुआ, किन्तु भगवंतराय ने अत्यन्त दर्प के साथ नवाब के प्रस्ताव की अवहेलना कर दी तथा सादत खाँ की चालीस हजार से भी अधिक सेना[7] का सामना करने के लिए वे अत्यन्त विश्वास के साथ अपनी दस सहस्त्र सेना के साथ गाजीपुर के दुर्ग से

---

१. "मारि रन फौजैं चलाऊं, जरैं दिल्ली को हलाकैं" विरुदावली०
२. तुलना कीजिये, पेशवा दफ्तर०—१४ पत्र संख्या ४२
३. उपर्युक्त साक्ष्यों पर आधारित
४. रासा०—८, पृ० ३४३
५. रासा०
६. रासा० जंगनामा० ना० प्रा० ह० ८, पृ० ३४१ सियारुल० १—पृ० २७०
   टा० हि० ह० ८ पृ० ७५२
७. तुलना कीजिये फ० नवा० पृ० ४९-५०

वाहर निकले[१]। गज, अश्व और पैदलों की यह संगठित सेना केसरिया[२] बाना धारण किये हुए दुर्ग से दक्षिण-पश्चिम साँखा ग्राम के ऊसर की ओर कार्तिक शुक्लपक्ष मंगलवार संवत १७९२ के दिन बढ़ी। नवाब की सेना डेरा डालकर यही पड़ी हुई थी।[३] नवाब की सेना भी शीघ्र ही तैयार हो गई। अपनी सैनिक साज-सज्जा से लैस नवाब की सेना अत्यन्त भव्य प्रतीत हो रही थी। परन्तु नवाब की विशालवाहिनी भगवन्तराय की सुनियंत्रित और दृढ़ सेना को समक्ष देखकर आतंकित हो गई।[४] निश्चित स्थान तक पहुँच जाने पर भगवन्तराय ने इस सेना का नेतृत्व ग्रहण किया[५] और अर्जुन की भाँति शंख बजाते हुए प्रतिज्ञा की कि आज मै नवाब को पराजित करके दिल्ली की नींव हिला दूँगा, अन्यथा स्वयं अपने ही हाथों अपना मस्तक विच्छिन्न कर लूँगा।[६] इस घोषणा के अनन्तर उन्होंने प्रति-पक्षी सेना मे घुस कर आक्रमण करने का आदेश दिया। सेना उनका आदेश पाते ही तीन भागों में फैलकर समुद्र की लहरों की भाँति उमड़ती हुई नवाब की सेना के ऊपर तीव्र गति से टूट पड़ी।[७]

भगवन्तराय ने जैसे ही अपनी अग्रिम पंक्ति को नवाब के ऊपर पहुँचने का आदेश दिया तभी दूतों ने नवाब की रक्षा करने वाले अमीर उमरावों तथा हाथियों के व्यूह की सूचना देकर उन्हें सावधान किया परन्तु उन्होंने इसे सुनकर भी अनसुना-सा कर दिया।[८] स्वामिभक्त अंगरक्षक और आज्ञाकारी सैनिक आदेश-पालन के लिए अपने-अपने अश्वों की वलाये ढीली कर तीर गोलियों और गोलों की बौछारों में

---

१. भगवन्तराय के सैनिकों की संख्या अलग-अलग बताई गई है। तारीख हिन्दी मे २५ हजार, सादत जावेत मे ३ हजार और मराठा पत्रों मे दस-बारह हजार नियमित सैन्य संख्या मिलती है। एक अनुश्रुति के अनुसार "चौदह सहस सुभट-रण बाँके" बताया जाता है।
२. जगनामा और अनुश्रुति
३. रासा० तथा सियारुल० १ पृष्ठ २७०
४. रासा० और विरुदावली०
५. विरुदावली० में यह प्रसंग बडी ही मार्मिकता से चित्रित है।
६. विरुदावली०
७. जंगनामा० तथा एक अज्ञात कवि ने इन शब्दों में यह दृश्य प्रस्तुत किया है :
   "..... पहुँचौ जाई सादत पै, ऐसे जाइ एवई
   दृगन ते पग आगे, पगन ते मन आगे, मन, दृग, पगन में होड़ सी हैं ह्वै गई।
८. जंगनामा०, रासा०, सियारुल० १ पृष्ठ २७०, सा० जा० इ० ८ पृष्ठ ३४२

धँस पड़े।[1] आग उगलने वाली तोपें इनके वेग के सामने बेकार हो गईं।[2] चारों ओर के प्रहारों को झेलते हुए यह सैनिक दल सीधे नवाब के सिर तक जा पहुँचा। दूत ने इस आसन्न संकट से नवाब को सावधान किया। आत्मरक्षा के लिए सादत खाँ को हटना पड़ा।[3] उसके अत्यन्त विश्वासपात्र एवं बाल मित्र सेनापति अब्दुल तुराब खाँ, जो बहुत-कुछ नवाब के रूप-रंग से मिलता-जुलता था, एवं उसी के जैसे हरे रंग के वस्त्र भी पहने हुए था, भगवन्तराय का सामना करने के लिए उपस्थित हुआ। भगवन्तराय ने अपने घोड़े को उसके हाथी के मस्तक पर चढ़ा दिया तथा अपने बर्छे से तुराब खाँ को बेध दिया। तुराब खाँ को नवाब समझने के कारण भगवन्तराय ने अपनी तलवार के दूसरे प्रहार से उसके मस्तक को भी विदीर्ण कर दिया एवं उसी बर्छे से उसके मृत शरीर को हाथी के हौदे पर लटका दिया।[4] इस साहसी कृत्य से सारी सेना आतंकित और भयभीत होगई। साथ के अन्य सैनिकों ने भी ऐसा ही अभुद्त पराक्रम प्रदर्शित किया। नवाब की सेना के पैर उखड़ गए। आतंक की इस घड़ी में बड़े ही साहस के साथ सादत खाँ ने अपनी भागती हुई सेना को पुनः युद्धभूमि में खड़ा किया।[5] सेना के इस प्रत्यावर्तन से युद्धभूमि की विभीषिका का ठिकाना न रहा। धरती रुण्ड-मुण्डों से पट गई। भगवन्तराय अपने स्थान पर अंगद के पाँव की भाँति अडिग थे। वे युद्ध भूमि में अत्यन्त विकराल हो उठे थे। अनेक प्रसिद्ध योद्धाओं को उनके प्रहार रण-भूमि में खण्ड-खण्ड कर रहे थे। भगवन्तराय के भतीजे भवानीसिंह का पुरुषार्थ भी अद्भुत था। वह भगवन्तराय के आगे उसी प्रकार युद्ध कर रहा था जैसे राम के आगे स्वयं हनुमान रहते थे।[6] युद्धभूमि में भगवन्तराय जिसे लक्ष्य करके ललकारते थे उसी को भवानीसिंह चपेट लेता था। इस नर संहार से सेना में चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। अन्त में नवाब ने सन्धि का प्रस्ताव रखा। फलस्वरूप युद्ध बन्द हो गया। बादशाह की ओर से पत्र लिख कर सादत खाँ ने भगवंतराय की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा १४ परगनों का स्वतंत्र स्वामी मान लिया। व्यर्थ के रक्तपात से बचने के लिए भगवन्तराय ने भी संधि स्वीकार कर ली।

---

१. जंगनामा०, रासा० सियारुल० १ पृष्ठ २७०
२. सा० जा० इ० ८ पृष्ठ ३४२
३. सियारुल० पृष्ठ २७०, रासा०, जंगनामा०
४. सियारुल० १ पृष्ठ २७०
५. विरुदावली०
६. विरुदावली०, जंगनामा०

संधि हो जाने से दूर-दूर के ठिकानों से आए राजपूत वीर भविष्य में अवसर पड़ने पर अपनी सहायता का आश्वासन देकर अपने-अपने स्थानों को चले गए। किन्तु नवाब के षड्यन्त्र से प्रेरित चौधरी दुर्जनसिंह जगनवंशी, विसेन, वैस, कनपुरिया, कछवाह ठिकानों के चुने हुए सौ बख्तरबन्द अश्वारोहियों के साथ एक दिन प्रातःकाल केसरिया बाना पहने हुए गाजीपुर के किले के पहरेदारों को धोखे मे डालकर किले के भीतर घुस गया। भगवंतराय इस समय पूजा कर रहे थे। पूजा भवन से हाथ में तलवार लिए हुए वे बाहर निकले। दुर्जनसिंह ने अपने प्रहार से उनके वक्षस्थल को चीर दिया। भवानीसिंह भी वहीं स्वर्गवासी हो गया। अनेक शूरवीर आ-आकर वहीं कटते और गिरते रहे किन्तु अन्तिम विजय दुर्जनसिंह की ही हुई।[1] चौधरी ने अपनी विजय और वीरता के प्रमाणस्वरूप भगवन्तराय तथा भवानीसिंह का शरीर तथा मस्तक नवाब के सामने प्रस्तुत किया। नवाब ने इन दोनो की खाल खिचवाकर भूसा भरवा दिया तथा शिर और खाल को वजीर कमरुद्दीन खाँ को भेट करने के लिए दिल्ली कूच किया।[2]

भगवंतराय का व्यक्तित्व

आकृति और वेश-विन्यास : चित्र—पोस्टकार्ड साइज मे भगवन्तराय का एक चित्र १९१७-१८ में असोथर के पुराने कागजों की छानवीन करते हुए मिला था। चित्र अत्यन्त जीर्ण अवस्था में था अतः इलाहाबाद भेज कर एक प्रसिद्ध चित्रकार श्री पी० एन० वर्मा से उसकी प्रतिलिपि करा ली गई थी। मूल चित्र के महत्त्व को न समझ सकने के कारण स्थानीय लोग उसे सुरक्षित न रख सके। अब प्रतिलिपि किये गए चित्र से ही उनकी आकृति और वेश-विन्यास को जाना जा सकता है।

सादत खाँ से युद्ध करने के प्रस्थान के पूर्व वे वीर वेष में सज्जित है। शरीर में कवच तथा सिर में लोहे का टोप धारण किए हुए वीरासन में बैठे है। उन्नत ललाट, आयत नयन, आर्यो की-सी दृढ़ और सुडौल नासिका और मुगल फैशन के अनुरूप खशखशी दाढ़ी है जिससे मुखमंडल अत्यन्त गरिमामय दिखता है। युद्ध-भूमि को प्रस्थान करने की घड़ी मे मुख-मंडल पर न उत्तेजना है, न उद्विग्नता वरन् एक दैवी शांति तथा आत्मविश्वास की दृढता प्रकाशमान हो रही है। बैठी

---

१. सन्धि प्रस्ताव और तत्पश्चात् दुर्जनसिंह के हाथों भगवन्तराय का धोखे से मारा जाना' विवादास्पद है। 'इतिहास-निरूपण' में हमने अपने निष्कर्षो को प्रस्तुत किया है।

२. मियाउल० १ पृष्ठ २७०, ता० हि० इ० ८ पृष्ठ ५२, स० जा० इ० ८, पृष्ठ ३४२

हुई स्थिति में भी उनके शरीर की ऊँचाई बाहों की विशलता, स्कन्धों की पृथुलता, छाती की चौड़ाई तथा सुदृढ़ शरीर-यष्टि उनकी बलिष्ठता का बोध कराती है। बायें हाथ से भवानीसिंह को वे पान का बीड़ा दे रहे हैं। दृष्टि भवानीसिंह पर केंद्रित और अन्तर्भेदिनी है। भवानीसिंह भी अपने वीर बाने में सिर से पाँवों तक लोहे से ढका हुआ है। वह खड़ा होकर नम्रतापूर्वक अपना मस्तक झुका कर पान के बीड़े को दोनों हाथों से ग्रहण कर रहा है। उसके अंग भी गठीले एवं अत्यन्त बलिष्ठ प्रतीत होते हैं। ऊँचाई भगवन्तसिंह से कम है। मुखमंडल में गोलाई अधिक है एवं दाढ़ी भी नहीं है। मुद्रा से आत्म-विश्वास और उत्साह प्रकट होता है। दृढ़ता, वीरता और शक्ति उसके भरे हुए चेहरे से विकीर्ण हो रही है।

चित्र के अतिरिक्त भगवन्तराय के शरीर पर धारण करने के दो कवच भी असोथर में हैं। एक कवच में स्कंध और बाँह हैं; दूसरे में पीठ का भाग तथा नीचे की लंबाई अवशेष हैं। इनके द्वारा भी उनके शरीर और उनकी शक्ति का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। उनकी ऊँचाई इनके आधार से ६ फुट से भी अधिक प्रतीत होती है। अत्यन्त जीर्ण और टूटी हुई दशा में होने से ठीक-ठीक नाप नहीं की जा सकती। इस प्रकार निश्चित होता है कि शारीरिक शक्ति में अवश्य ही वे अपने समय के अद्वितीय योद्धा रहे होंगे। भूधर कवि का 'सजीलौ डील' उनके इसी आकार का आभास देता है। उनके विरोधी इतिहासकारों ने भी उन्हें सिंह सरदार कहा है।[1] बड़े-बड़े सरदार उनका सामना करने से उसी प्रकार घबराते थे जैसे उन्हें किसी सिंह के सामने जाना है।[2] हजारों योद्धाओं के बीच में भी उनकी बराबरी करने वाला कोई नहीं था। रुस्तम जैसे वीर का हृदय भी उनके सामने जाने में दहल उठता।[3]

शौर्य एवं शक्ति : भगवंतराय अपने युग के अद्वितीय योद्धा एवं अप्रतिम सेनानायक थे।। कुल २२ प्रसिद्ध युद्धों का अत्यन्त कुशलतापूर्वक संचालन करने का उन्हें अनुभव था।[4] उस युग की वीरता ने जैसे उन्हें वरण कर लिया था। वे राजा-रावों के शृंगार थे।[5] तत्कालीन इतिहास का कोई भी 'साहू', 'हाड़ा' या

---

१. ता० हि० इ० भाग ८ पृष्ठ ५२
२. जंगनामा० रासा०
३. जंगनामा०
४. विरुदावली की हस्तलिखित प्रति में लिखा मिला है "बाइस समर भये गोपाल" पर ना० प्र० पत्रिका भाग ६, अंक ३, पृष्ठ २५५ में ४८ युद्धों का विजेता लिखा है।
५. उठिगो सिंगार सबै राजा राव राने को—भूधर

'जैसिंह' उनके सामन्त की भी बराबरी में मन्द जान पड़ता था।[१] इसीलिए कवियों को इनके द्वारा हिन्दू-पद की सम्मानजनक स्थापना की आशा बंधी।[२]

मुगलों की सेना के सबसे प्रसिद्ध सेनापति सादत खाँ की भी सैनिक योग्यता उनके सामने नगण्य थी। भगवंतराय स्वयं उसे अपनी प्रतिद्वंद्विता के योग्य नहीं समझते थे।

यह है सहादत कौन जो भगवंत के आगे लरै—विरुदावली में सादत खाँ की वीरता को भगवंतराय की प्रतिद्वंद्विता में कवि ने तिरस्कृत कर दिया है। इसी प्रकार की उक्ति जंगनामा में भगवंतराय के मुख से कहलाई गई है, 'कौन सा है सहादत खाँ, मेरा जी बेकरारा है।"

स्वयं बहुत बड़े योद्धा होने के अतिरिक्त उनकी विशेषता थी एक सफल सेना-नायक होने की। उन्हे वीरों की परख थी। जिस प्रकार उन्हे सत्कवियों तथा संगीतज्ञों से अनुराग था उसी प्रकार सच्चे वीर भी उनके हृदय के हार थे। भूधर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'सच्चे वीरों की रोजी ही भगवंतराय के साथ संसार से उठ गई।'[३] मुहम्मद कवि भी उनकी सेना के ऐसे ही चुने हुए वीरों का चित्र प्रस्तुत कर देता है :

केसरिया सबका बाना है, लगे तरकस कमाना है,
अजब गबरू जवाना है कि प्यादा क्या असवारा है।

ऐसे ही वीर के मुख से उस युग के सबसे बड़े सेनापति सादत खाँ के लिए यह ललकार निकल सकती है :

जमन कुल को नास करिहौं, खग्ग गहि खप्परैं भरिहौं
मारि रन फौजें चलाऊँ, जरें दिल्ली को हलाऊँ
नाम तब भगवंत मेरा, रहन देउँ न आजु डेरा।
वचन की नहि टेक टारों चढ़ि सहादत खान मारौं—विरुदावली

जिस समय एक छोटी सी सैनिक टुकड़ी का नेतृत्व स्वयं करते हुए उन्हें सादत खाँ के ऊपर धावा बोला था उस समय इनकी दृढ़ता और निष्ठा निम्न पंक्तियों में चित्रित कर दिया गया है :

---

१. काहू साहू हाडा नाही ऐसी शक्ति कछवाहे में
जैसी सवाई कौन घोंसल चिकारो है
मारौ है सहादत खाँ, जानि के तुराव खाँ को
भूपत भवानीसिंह आज लौं न हारो है—अज्ञात

२. तोही पै रही है आज लाज हिन्दु पद की—कंठ

३. उठि गयो आलम सों रुजुक सिपाहिन को—भूधर

जहाँ पर हो सहादत खाँ करो मिल एक वारा है
कहा मुखबिर खबर टेरे जो हलका हाथियों केरे
अमीर-उमरा सभी घेरे नहीं कुछ अख्तियारा है
कहा अब देर मत लागे सभी ढीली करो वागें
जो चाहो लेव फिर, भागे तो हरगिज ना गुजारा है
उठा आगे चले ज्वाना अगू भगवंत मरदाना
जहाँ पर था सहादत खाँ वहाँ सींवे सिवारा है--जंगनामा

भगवंतराय के अंगरक्षकों में अपने नायक के प्रति कितनी श्रद्धा थी एवं अपने प्राणों से उसके इशारे पर वे किस प्रकार खेलते थे, इसका भी दृश्य इन पंक्तियों में है :

भिरत एकै वीर कुश्ती, करैं जे भगवंत पुश्ती
परे भट अवकटे फर में, तऊ गहत कृपान कर में

*　　　*　　　*

वर्छी चलत्त रवारि जहँ तहँ ओट देत न ढाल की
नृप सभासिंह कुमार तहँ रच्छा करत महिपाल कीं
—विरदावली

भगवंतराय के ये समस्त गुण असाधारण थे। उनकी वीरता और उनका सेनापतित्व चकित कर देने वाला था।

भ्रमण : आरंभ से ही राजनैतिक तनावों एवं अनेक प्रकार की व्यस्तताओं के कारण उन्हें पर्यटन और भ्रमण के अवसर सामान्यतया कम मिले होंगे। मुगलों के साथ एक ही अवसर पर उनकी मैत्री या समझौता हो सका था।[1] इसलिए उनकी सेनाओं में सम्मिलित होकर बाहर जाने की सम्भावना भी नहीं रहती। फिर भी उन्होंने भ्रमण के द्वारा अपने अनुभवों और ज्ञान को परिपुष्ट किया था ऐसा प्रतीत होता है। दो कारणों से वे बाहर निकले होंगे (१) तीर्थाटन करने ...वं (२) अपने कुसमय के दिनों में। तीर्थाटन में उनकी श्रद्धा थी इसका प्रमाण यह ...कि वे प्रयाग में हाथी वाले पंडे की वही में अपना पता-ठिकाना पूछने पर स्वयं ...। उनकी वही में एक कविता लिख आये थे। आपद्काल में वे असोथर से बाहर बाहर रहे इसके लिए चार संकेत विद्यमान हैं। (१) सादत खाँ का चौधरी दुर्जनसिंह से यह पूछना कि वह अपने ठिकाने में ही है अथवा जंगलों में निकल गया।[2] (२) भगवन्तराय की धर्मपत्नी का युद्ध न कर बुंदेलखण्ड में कालक्षेप करके

१. तुलना कीजिये श्रीधर लिखित 'फर्रुखसियर का जंगनामा' के खजुहा के युद्ध-प्रकरण से
२. रासा०

नवाब के आक्रमण को टाल देने का प्रस्ताव[1] (३) प्रत्यक्ष रूप से कमरुद्दीन के आक्रमण के समय चित्रकूट के पर्वतों में जाकर रहना[2] (४) मालवा (गुगेर) में उनका एक ब्राह्मण को दान का पट्टा लिखना।[3] इस प्रकार कहा जा सकता है कि धार्मिक एवं राजनैनिक कारणों से उन्होंने भ्रमण भी किए थे, जिससे उनका ज्ञान व्यापक एवं अनुभव परिपुष्ट हुए।

उपासना और इष्ट : भगवंतराय भगवान राम के अनन्य उपासक थे। अपने उपास्य का गुणगान करने के लिए ही उन्होंने रामायण की रचना की थी। राम-भक्ति के ही अंग-रूप से वे हनुमान के भी भक्त थे। कृष्ण और विष्णु की भी स्तुतियाँ उन्होंने उसी भाव से लिखी हैं। इससे प्रकट होता है कि उनका उपासना सम्बन्धी दृष्टिकोण उदार था। यही नहीं अन्य देवी-देवताओं की आराधना भी निष्ठापूर्वक उन्होंने की है। उपासना का लक्ष्य है उपास्य के कल्पित रूप से उपासक तद्वनता प्राप्त करे, अपने को उपास्य में ही डाल दे। उपासना सम्बन्धी उनका यही दृष्टिकोण था। सूर्य विद्या-गुरु कहे जाते हैं। इसलिए उनसे वे राज्य, विद्या, शक्ति और यश की कामना करते हैं।[4] भैरव युद्ध के देवता हैं, उनकी सिद्धि युद्ध-भूमि के नायक के लिए कितनी महत्वपूर्ण होगी।[5] देवी शक्ति और सुरक्षा की अधिष्ठात्री है। कहा यह जाता है कि देवी की उन पर अनन्य कृपा थी। उन्हें देवी की सिद्धि थी। युद्धभूमि में जाने के पूर्व वे देवी का ध्यान करते थे और जब तलवार की मूठ उनके हाथ में आ जाती थी तो वे युद्ध के लिए प्रस्थान कर देते थे। युद्ध के लिए स्वयं देवी ही उन्हें तलवार हाथ में देती थी।[6] केसरीकुमार से उनकी वीर भावनाओं का पूर्ण तादात्म्य स्थापित होता था।[7] इन देवी-देवताओं

---

१. राता०

२. राता०

३. राघोगढ़ घराने के कानूनी सलाहकार श्री रविशंकर देराश्री की साक्षी के आधार पर।

४. "सरन है राय भगवन्त बलवन्त तूँ
  राज-विद्या महाशक्ति सौरभ भरन।"

५. भैरव को लक्ष्य करके लिखा गया उनका एक तांत्रिक ध्रुपद भरतजी व्यास के पास है।

६. स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार जब युद्ध के लिए भगवन्तराय की सेना सन्नद्ध हो जाती थी तब वे देवी की पूजा करने बैठ जाते थे। उनके आसन के पास म्यान सहित तलवार रख दी जाती थी। दुर्गा का ध्यान करते करते तलवार म्यान से बाहर निकल आती थी और उसकी मूठ महाराज के हाथों में आते ही फौजों के लिए कूच का टंका बज जाता था। स्थानीय लोगों के अतिरिक्त कानपुर के कवि हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश' जी ने भी इस अनुश्रुति की पुष्टि की है।

७. "कैसी भई तोहिं तो हठीले हनुमान वीर, पन को पलैया तैं जनैया जन मन को"

की उपासना से इहलोक और परलोक दोनों को सफल बनाने के वे इच्छुक थे।

एक ही परमेश्वर के विभिन्न गुणों का प्रतिनिधित्व भिन्न देवी-देवता करते हैं, इस प्रकार विभिन्न स्वरूपों की उपासना में एक ही ईश्वर को देखना उनकी उपासना का रहस्य था। वे इतर तन्त्र साधनाओं या सिद्धियों को महत्व नहीं देते थे।[1]

भगवंतराय की उपासना-पद्धति रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुरूप है। इनकी भक्ति का आदर्श तुलसी का अनुसरण करता है। तुलसी अपने 'राम' से भक्ति को छोड़कर किसी दूसरी वस्तु की याचना नहीं करते। याचना क्या याचना का विचार भी नहीं लाते। अन्य देवी-देवताओं की प्रार्थना वे इसलिए करते हैं कि वे सब उन्हें राम के निकट पहुँचाने में सहायक हों, बस। गाढ़ा-से-गाढ़ा समय पड़ने पर वे राम के वीर दूत हनुमान का पल्ला पकड़ते हैं। इसी प्रकार भगवंतराय भी अन्य देवी-देवताओं की स्तुति अपनी लौकिक सफलताओं के लिए करते हैं और राम का भजन व भक्ति, मोक्ष या परमपद के लिए ही करते प्रतीत होते हैं।

धर्म-भावना

स्वयं एक उच्चकोटि के भक्त एवं उपासक होने के अतिरिक्त वे धार्मिक कर्म-काण्डों में भी पूरी आस्था रखते थे। असोथर में आबाद अग्निहोत्री ब्राह्मणों के पूर्वज आशादत्त अग्निहोत्री को इन्होंने रायबरेली जिले के शुक्ल खेड़ा ग्राम से सं० १७७५ में बुलाकर उनके नीचे एक सौ याज्ञिक ब्राह्मणों की नियुक्ति करके एक बड़ा यज्ञ सम्पन्न कराया था। यह यज्ञ पूरे एक वर्ष तक चलता रहा। उनकी इस धार्मिकता के कारण ही शायद उनकी वाक् सिद्धि की अनेक कथायें लोक में प्रचलित है। एक अनुश्रुति के अनुसार एक सौ ब्राह्मणों को निमन्त्रण देकर उन्हें इच्छा-भोजन देने का वचन दिया। ब्राह्मणों ने उनसे पत्थर (ओले) खिलाने को कहा। ब्राह्मणों को चौका में बैठाल कर कहते हैं कि महाराज ने प्रार्थना की और सचमुच एक छोटे से बादल से पत्थरों की वर्षा होकर सारे आँगन में पत्थर फैल गए। परन्तु महाराज को इसके ब्राह्मणों पर क्रोध आ गया और उन्होने कहा कि आज से हमारे वंशज कभी ब्राह्मणों को इच्छा-भोजन न करायें।

कोड़े के फौजदार जा निसार खाँ के साथ युद्ध होने का एकमात्र कारण महाराज की धार्मिकता थी। असनी के ब्राह्मणों पर फौजदार के अत्याचार को देखकर उन्होंने उसके विरुद्ध युद्ध का डंका बजवा दिया था। इसकी संस्कृत पुष्टि के शतश्लोकी ग्रंथ से भी हो जाती है।

प्रकृति और स्वभाव: भगवंतराय अत्यन्त सरल प्रकृति के थे। एक स्थानीय अनुश्रुति के द्वारा उनके चरित्र के इस पक्ष पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनके एक

---

१. "फूस को तापनो, भूत को जापनो, झांझरो खेवा" उक्ति इसका प्रमाण देती हैं।

सामंत व्यालू में एक दिन साथ नही गए। रसोइया थाल लेकर देने गया। सामंत ने कहला भेजा कि यदि भगवंतराय स्वयं थाल लेकर आयेंगे तभी वह भोजन ग्रहण करेगा। इधर भगवंतराय चौके में बैठकर सामंत के भोजन ग्रहण करने के समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे। रसोइये द्वारा सामंत का सन्देश पाते ही स्वयं खड़ाऊँ पहन भोजन का थाल लेकर उसके पास पहुँचे। सामंत तो अपने नायक का प्रेम परखना चाहता था। वह कृतकृत्य होकर उनके चरणों में गिर पड़ा।[1] अपने अधीनस्थ जनों के साथ उनका व्यवहार आत्मीयतापूर्ण था। सायंकाल का भोजन नियमित रूप से वे अपने सामंतों, स्वजनों एवं कुटुम्बियों के साथ बैठकर करते थे। पारस में भी किसी प्रकार का भेद-भाव नही रखा जाता था।[2] उनकी विनय-शीलता, उदारता, आत्मीयता और अहंकारशून्यता का कैसा उदाहरण मिलता है। कुटुम्ब के लोगों के प्रति उनके हृदय में विशेष प्रेम था। उन्होंने अपनी पैतृक सम्पत्ति अपने दूसरे भाई सभासिंह के लिये छोड़ दी थी एवं स्वयं अपने बाहु-बल से जीते हुए प्रदेश पर गाजीपुर में रहकर शासन करते थे।

विद्वानों, ब्राह्मणों एवं कवियों का भी उनके यहाँ बहुत अधिक सम्मान होता था। अवध प्रदेश के अनेक कुलीन ब्राह्मणों के परिवारों में परम्परा से भगवंतराय के आश्रय काल की स्मृतियाँ सुरक्षित है। असोथर के एक परिवार में उनके हाथ की दी हुई एक सेर से भी अधिक भार की स्फटिक मणि की शंकरजी की मूर्ति है। सुप्रसिद्ध कवि हृदयनारायण 'हृदयेश' ने बताया है कि उनके पूर्वज उन्ही के आश्रय में रहते थे। अपने पिता से भगवंतराय के सम्वन्ध की अनेक घटनाएँ बचपन में उन्हें सुनने को मिली थी। उनके नाम का स्मरण आदर और गर्व के साथ अब भी लिया जाता है। इस गुण-ग्राहकता के कारण भगवंतराय के समय में असोथर विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन गया था। शंभुनाथ मिश्र और भूधर इत्यादि कवियों की रचनाओं में उनकी इसी उदाराशयता का कथन है।[3]

शक्ति सदाचार और न्याय उनकी प्रकृति के सहज अंग थे। वे अत्याचार होते नही देख सकते थे।[4] शासन में धार्मिक आदर्शो को वे बहुत अधिक महत्व देते थे। प्रजा पर शासन करने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति वे अत्यन्त विचारपूर्वक उनके

---

१. असोथर के श्री अर्जुनसिंह जठेर के अनुसार

२. उनकी चलाई असोथर की यह परम्परा बहुत दिन बाद तक चलती रही है। इसका साक्षी असोथर के वृद्धों से मिलती है।

३. मण्डल की चर्चा करते समय हम इन कवियों की कुछ रचनाओं को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत चुके हैं।

४. विरुदावली०

गुणों के आधार पर किया करते थे।[1] इससे विदित होता है कि शासक रूप में प्रजा के साथ उनका व्यवहार न्यायपूर्ण था।

उनके व्यक्तित्व की वीर प्रकृति उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। रीतिकाल के शृंगार-डूबे युग में रहकर भी अपने को उससे सर्वथा असम्पृक्त रखा। यह सचमुच एक असाधारण बात थी। एक ही पत्नीव्रत को उन्होंने बड़ी मर्यादा से निभाया था।

पत्नी उनके लिए भोग्या मात्र नहीं वरन् जीवन-सहचरी थी। वे गंभीरतम समस्याओं में भी उनसे मंत्रणा लिया करते थे।[2] इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं से भी साक्षी मिलती है कि उन्हें जीवन की उदात्त साधना में सबसे अधिक रस मिलता था। संगीत एवं रागात्मकता का भी उनके भीतर अविकल प्रवाह था। वीरता और कोमलता का ऐसा अद्भुत सामंजस्य उन्हें इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुषों की कोटि में स्थापित करता है।

प्रतिभा और विद्वत्ता : भगवन्तराय जैसी बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्तित्व मध्य युग के इतिहास में विरल है। अपने युग की समस्त राजनैतिक हलचलों का कुछ समय के लिए उन्होंने अपने को एकमात्र केंद्र सिद्ध कर दिया था। देश की समस्त शक्तियाँ उनके विद्रोही नेतृत्व के परिणाम की ओर उत्सुकता से निहार रही थीं।[3] इस शक्ति के अधिष्ठाता होने के लिए एक उच्च कोटि के सैनिक की ही नहीं वरन् एक नायक की प्रतिभा अपेक्षित होती है। उन्होंने साधारण ग्रामीणों को संगठित और अनुशासित किया, उन्हें उनकी शक्ति का बोध कराया एवं तत्पश्चात् राष्ट्र और जाति के महान यज्ञ में आहुति के लिए उनका सहयोग लिया। यह संगठन-कार्य आसान नहीं था। अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने पेशवा तथा राजस्थान की शक्तियों से भी सम्पर्क स्थापित करने की योजना प्रारम्भ कर दी थी। यदि उनके जीवन के साथ यह योजना असमय में ही न खंडित हो गयी होती तो निश्चय ही हमारे इतिहास में आमूल परिवर्तन की सम्भावना थी। युद्ध-कला का छत्रपति शिवाजी ने दक्षिण महाराष्ट्र में जो नया स्वरूप दिया था और उससे इतिहास में जो उपलब्धि हुई, उसी प्रकार भगवन्तराय ने भी सैन्य-संचालन में अपनी सूझबूझ और योग्यता का परिचय दिया था। अन्तर्वेद की समतल भूमि में भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल न होने पर भी इन्होंने अपने अभियानों में

१. रासा०

२. रासा०

३. स्वयं दिल्ली का बादशाह आतंकित था तथा पेशवा भी इनके कार्यों को जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देख रहा था। मराठा एजेंट के पत्रों से इसकी ध्वनि मिलती है।

छोटी-छोटी सेनाओं को लेकर अद्‌भुत सफलता प्राप्त की थी। उनके द्वारा प्रयुक्त हुए आत्मरक्षणात्मक एवं आक्रमणात्मक व्यूह निस्संदेह अद्वितीय सिद्ध होते हैं। बड़ी से बड़ी मुगल सेना को चक्कर में डालकर उसके बीच से निकल जाना एवं समय पड़ने पर थोड़े से सैनिकों के साथ डट कर अपने को अपराजेय सिद्ध कर देना यह बड़े ही कुशल, अनुभव-सिद्ध एवं आत्म-विश्वासी सेनानायक की विशेषता हो सकती है। इनके सैनिक इनके संकेतों पर जूझने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे एवं अपने को किसी भी संकट में डाल सकते थे।[1]

भगवन्तराय में न केवल सैनिक नेतृत्व की प्रतिभा थी वरन वे प्रगतिशील विचारों के सामाजिक नेता भी थे। इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि धार्मिक तनाव के उस युग में जब मुसलमान के हाथ का पानी मात्र पी लेने से ही हिन्दुत्व प्रणाम कर लेता था, उन्होंने मुसलमान कन्याओं से शादी की व्यापक मान्यता करा ली।[2] इन घटनाओं से सिद्ध होता है कि वे जनता के हृदय के शासक एवं उसके विचारों के अधिनायक भी थे। यह प्रतिभा मध्य युग के कई शताब्दियों के इतिहास में देखने को नहीं मिलती। इन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण उन्हें 'अवतारी' पुरुष कहा जाता था।[3] उनकी सेना में रहने वालों के प्रति जनता के हृदय में अपार श्रद्धा थी। गाजीपुर के अन्तिम युद्ध में जूझने वाले वीरों के 'मुड़-चौरा' पर अब तक लोग दूर-दूर से चलकर अपनी मनौतियाँ करने आते हैं।[4]

---

१. जंगनामा० और रासा० में उनकी व्यूह रचना और आक्रमण इत्यादि की झलक मिल जाती है। सियारुल० और मीरातुल० के वर्णनों से भी उनके युद्ध-कौशल की व्यंजना होती है।

२. जानिसार खाँ की लड़की अनीस की शादी उन्होंने अपने लड़के रूपराय के साथ की थी। उनकी कई पुश्तें असोथर में चली हैं और वे सब राजपूतों के साथ रहे। इस वंश के अंतिम व्यक्ति का नाम कन्हैयावख्श सिंह था। तुलना कीजिये मीरातुल० पृष्ठ १७१ तथा सियारुल, पृष्ठ २६६

३. चमुण्डा ना क्यों करती उतर औतार धारा है, जंगनामा०
इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं। कहते हैं असोथर के तीर्थयात्री बद्रीनाथ गये थे। वहाँ उन्हें कुछ दिव्य साधु मिले। सबकी धूनियाँ जल रही थीं। एक धूनी के पास कोई साधु न था। एक साधु ने यात्रियों से पूछा क्या तुम असोथर से आ रहे हो? यात्रियों ने साश्चर्य स्वीकार किया। फिर उसी साधु ने कहा : वहाँ भगवन्तराय राज्य करता है। उससे कहना कि उसकी धूनी बुझ रही है आकर अब उसे प्रज्वलित करे। कहते हैं उसी वर्ष भगवन्तराय को वीरगति मिली।"

४. इटावा तक से आकर वहाँ पर लोग अपने लड़कों की झालर उतरवाते हैं। कहते हैं बच्चों का सूखा रोग अच्छा हो जाता है।

आज भी भगवन्तराय का नाम उनके मंडल के अन्तर्गत बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है।

जीवन-भर युद्धस्थलों और राजनैतिक चक्रों से जूझते रहकर भी उनकी प्रतिभा ने साहित्य और संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सेवायें की हैं। उन्हीं के समय में कवि रूप में भी उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। उनकी कवि-प्रतिभा का सादर उल्लेख हुआ है। 'अलंकार रत्नाकर' के रचयिता दलपतराय और वंशी-धर ने उदयपुर में बैठे-बैठे उनकी रचनाओं का परिचय प्राप्त किया था। अपने समय तक के हिन्दी के ३५ श्रेष्ठ कवियों की तालिका में स्थान देकर इनके महत्व को उन्होंने सिद्ध किया है।[1] बाद के रीतिकाल के संग्रह ग्रन्थों में भी इनकी रचनाओं को स्थान मिला है जैसे 'दिग्विजय भूषण' में। वे संस्कृत के साहित्य-ग्रंथों एवं तंत्र-साहित्य से भी परिचित रहे होंगे। फारसी जानने के भी संकेत मिलते हैं। हिन्दी की तो साधिकार सेवा की ही है। वे एक साधारण पाठक अथवा वाचक मात्र नहीं थे वरन् जो कुछ पढ़ते थे उस पर मनन और विचार करते थे एवं स्वतन्त्र निष्कर्षों की स्थापना करते थे। मुसलमानों की शुद्धि की उन्होंने जिस भूमिका पर मान्यता कराई होगी उसमें शास्त्रीय आधार अवश्य रहा होगा। यह क्रान्तिदर्शिता विद्या और विवेक से सम्पन्न व्यक्तित्व से ही उद्भूत होकर लोक-मान्यता प्राप्त कर सकती थी।

गुण-ग्राहकता : मनुष्य की प्रतिभा को परख कर उसके विकास को दिशा देना भी उनकी विशेषता थी। उनके यहाँ आने वाले हिन्दी के सैकड़ों कवि रहे हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं।[2] जिन कवियों का पता चल सका है उनका परिचय आगे के एक अध्याय में प्रस्तुत है। विद्वान ब्राह्मणों का भी उनके यहाँ बहुत अधिक सम्मान था। कवि 'हृदयेश' जी की साक्षी पिछले पृष्ठों में उद्धृत की जा चुकी है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त इतर वर्ण के लोगों का भी उनके यहाँ सम्मान होता था।[3] संगीतज्ञों का भी वे सम्मान करते थे एवं ११ संगीतज्ञों की मंडली उनके आश्रय में रहती थी। देव तथा सुखदेव मिश्र के नाम संगीत के क्षेत्र में भी प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। सैनिकों की भी उन्हें अद्भुत परख थी इसका भी उल्लेख

---

१. [illegible] पृष्ठ ३

२. मिश्र० भाग—२, पृष्ठ ६२८

३. गौड़, अहीर, भाटी एवं बहेलिया उनके बहुत बड़े सहायक थे। इन इन जातियों की सेवा की अनेक अनुश्रुतियाँ असोथर के आसपास के लोगों से सुनने को मिली हैं।

हो चुका है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उनकी गुण-ग्राहकता ने उनके युग की सैन्यकला, साहित्य, संगीत[१] और संस्कृति के विकास में उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया।

जनता की आर्थिक समृद्धि का प्रश्न भी इनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। कृषि की उन्नति के लिए इन्होंने अनेक कुएं और तालाब खुदवाये थे। कई अब भी उनके नाम के साथ लोगों को याद हैं। प्रजा की समृद्धि के साथ-साथ इनका कोष भी काफ़ी समृद्ध हुआ।

दरबार : भगवन्तराय का दरबार और उसका ठाठ-बाट उच्चकोटि का था। उन्हें राजाधिराज[२] कहा जाता था। वे छत्र धारण करते थे।[३] उनके दरबारी मंत्रियों, सामन्तों और कुटम्बियों की परिषदें थी।[४] ये परिषदें राजा का बहुत अधिक सम्मान करती थीं। उनकी मंत्रणा स्वतंत्र और निर्भीक होती थी।[५] राजा भगवन्तराय इनकी मंत्रणा पर विचार करके ही अंतिम निर्णय करते थे।[६]

दरबार की श्री इतनी ही नहीं थी। सुप्रसिद्ध कवि, पंडित और संगीतज्ञ अपनी उपस्थिति से उसके गौरव को अमर कर गए है।

---

१. उनकी संगीत रचनाओं का विवेचन करते समय अगले अध्याय में इसका प्रमाण दिया गया है।

२. उनके पटरागों के कोष्टक में उनके नाम के पहले "श्रीमंतबलवंत महाराजाधिप" विशेषण लगा है तथा विरुदावली० में "भगवन्त रैंया रायनृप" एवं रासा० में "राजाधिराज भगवन्तजू" कहा गया है।

३. "छत्र धरि छिनिपाल आये, विरद बन्दी जनन गाये"—विरुदावली० परन्तु जो चित्र उनका प्राप्त है उसमें सिंहासन नहीं है। साधारण चाँदनी पर बैठे ही वे पान का बीड़ा देते दिखाये गये है। कहा नहीं जा सकता कि यह चित्रकार की भूल है या किसी अन्य कारण से है।

४. रासा०

५. रासा०

६. रासा०

तृतीय अध्याय

भगवंतराय खीची का साहित्यिक कृतित्व

क्या भगवंत अथवा भगवंतराय नाम के दो कवि हुए हैं ? : श्री शिवसिंह सेंगर[1] ने भगवन्त नाम के दो कवियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार पहले भगवन्त असोथर के राजा थे परन्तु दूसरे के सम्बन्ध में वे सर्वथा मौन हैं। सेंगरजी ने भगवन्त नाम के दो कवि मानने की कोई साक्षिता स्वयं नहीं दी अतः उनके उदाहरणों पर दृष्टिपात करना पड़ता है। इस प्रकार भगवन्त (१) की भक्ति शास्त्रीय मर्यादावाद से नियंत्रित मिलती है जबकि भगवन्त कवि (२) की भक्ति-भावना रीतिकालीन शृंगारी वातावरण से ओत-प्रोत है। इस प्रकार प्रथम भगवन्त कवि के उदाहरणों में 'वैधी' और दूसरे मे 'रागानुगा' भक्ति-स्वरों की प्रधानता मिलती है। बहुत सम्भव है इसी पार्थक्य के कारण सेंगरजी के मन में दो भगवन्त कवि होने की बात उठी हो, अतः इस प्रश्न पर यहाँ विचार कर लेना समीचीन होगा।

सेंगरजी ने दूसरे भगवन्त कवि के नाम से जो छंद उद्धृत किए हैं उनमें से एक है—

रैन की उनींदी राधे सोवति सवारो भये
झीनो पट तानि रही पायन ते मुखते

यह कवित्त 'अलंकार रत्नाकर'[2] में भी प्राप्त होता है। इस ग्रंथ की रचना-तिथि संवत् १७९७ विक्रमी है। भगवन्तराय की मृत्यु तिथि संवत् १७९२ विक्रमी है। अतः कह सकते हैं कि सेंगरजी द्वारा निर्दिष्ट दूसरे भगवन्त कवि का समय और असोथर के भगवन्त कवि का समय एक है। इस समय के पूर्व भी किसी भगवन्त कवि के होने का उल्लेख नही है, अतः दोनों के एक ही व्यक्ति होने की सम्भावना बढ़ जाती है। फिर 'अलंकार-रत्नाकर' के कर्ताओं ने अपने ग्रंथ के आरम्भ में जिन ३५ कवियों[1] के नाम स्मरण किये है वे कोई प्रसिद्ध कवि रहे होंगे तथा उन्हीं की रचनाओं को उन्होंने अपने संग्रह में स्थान भी दिया होगा। अलंकार-

---

१. सरोज० पृष्ठ २३८

२. सरस्वती पुस्तकालय रामनगर में प्राप्त

रत्नाकर में भगवन्त कवि के नाम की छाप 'भगवन्तसिंह' है। इस प्रकार समय की समीपता के साथ दोनों की जाति भी एक ही सिद्ध होती है।

अब भगवन्तराय के काव्य की दोनों धाराओं को भी समझने की आवश्यकता है, जिसके कारण सेंगरजी के मन में सन्देह जाग्रत होने की सम्भावना है।

रीतिकाल में कविता और भक्ति की धाराएँ एक साथ मिलकर बही हैं। लगभग सभी कवियों की रचनाओं में यह सामंजस्य उपलब्ध है। सूर के अनेक पद शुद्ध शास्त्रीय स्तुति के विषय हैं। बिहारी जैसे शृंगार में डूबे हुए कवि के अनेक दोहे बड़ी ही निर्विशेष रूप की शास्त्रीय मर्यादा के रंग में पगे हैं। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी मध्यकालीन कवियों में विद्यमान है। चिन्तामणि, देव, पद्माकर आदि प्रमुख कवियों की नाम-गणना इस प्रसंग में की जा सकती है। इसी प्रकार विशुद्ध मर्यादा भक्ति के उन्नायक रामानन्दजी की रचनाओं में कुछ लोगों ने रसिक उपासना पद्धति के अंकुर खोजे हैं [२] तुलसी ने तो 'कृष्ण गीतावली' की रचना ही की थी। उनकी गीतावली के उत्तरकांड में मधुर भाव के कुछ पदों में इस धारा का प्रभाव सुस्पष्ट है—

> श्यामल सलौने गात, आलस बस जँभात
> प्रिया प्रेम रस-पागे
> उनींदे लोचन चारु, मुख-सुखमा सिंगार हेरि,
> हारे मार, भूरि भागे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी काव्य की भक्ति-धारा में इन दोनों पद्धतियों की उपासना का रूप मिला-जुला और नैकट्यपूर्ण है। कवियों की व्यक्तिगत रुचि या व्यक्तिगत विश्वास के कारण इनमें से किसी एक स्वर की प्रधानता या विशुद्धता हो जाती थी। इसका मूल कारण यह था कि भक्ति के आचार्यों ने इन दोनों धाराओं को अन्ततोगत्वा अलग नहीं किया था। एक का साधक दूसरे में भी स्वाभाविक रीति से सम्प्रविष्ट हो जाता था। यदि साधना के स्तर के अनुसार इसका विभाजन किया जाए तो विश्वास, अनुभूति और तन्मयता को ही विभेदकता का आधार माना जाएगा। मर्यादा-भक्ति-शास्त्र-विधानों से उठकर

---

१. रामनगर में प्राप्त हस्तलिखित प्रति में हमें ये नाम नहीं मिले परन्तु गुजरात विद्यासभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी भाषाओ मा आपेलो फाण" पुस्तक में ये नाम उद्धृत हैं।

२. तुलना कीजिये "रामानान्द सम्प्रदाय" पृ० २०६

केवल राग का विषय बन जाने पर 'रागानुगा' की संज्ञा पाती है।

अतएव केवल भक्ति की इन दोनों धाराओं की अवहेलना मात्र से ही भगवन्त नाम के दो कवियों के अस्तित्व की धारणा भी समीचीन न होगी। वरन् हम उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भगवन्त नाम के एक ही कवि हुए है जो असोथर के राजा थे।

उपलब्ध रचनाएँ

अभी तक भगवन्तराय का कोई ग्रंथ प्रकाश में नही आया। खोज रिपोर्टों[1] में 'हनुमानजी के कवित्त' और 'हनुमान पचासा' नामों से एक ही रचना का उल्लेख है। पर भिन्न स्थानों से प्राप्त इस रचना के नामों के साथ उनकी छंद संख्या में भी अन्तर है। खोज रिपोर्टों में जितना अंश उद्धृत मिलता है इसके अतिरिक्त लखनऊ के कवि विमलेशजी के व्यक्तिगत संग्रह मे लंकादहन प्रकरण के कवित्त हमें और मिले है। रीतिकालीन कविता के संग्रहों—'अलंकार रत्नाकर, 'दिग्विजय भूषण' तथा 'शृंगार संग्रह' में भी इनके कुछ छंद उदाहरण रूप में संगृहीत है। इसके अतिरिक्त याज्ञिक संग्रहालय[2] के एक संग्रह ग्रंथ में इनके कुछ छंदों के संग्रह का उल्लेख है। इसी प्रकार सौराष्ट्र के कवि गोविन्द गिल्लाभाई के भी संग्रह में कुछ छंदों के संगृहीत होने का उल्लेख मिला है।[3] शिवसिंह सेंगर ने भी जितने छंद अपने ग्रंथ में उद्धृत किए है उनमें से एक भी छद अन्यत्र हमारे देखने में नही आया।

कवि भगवन्तराय की इन रचनाओ के अतिरिक्त कुछ संगीत सम्बन्धी रचनाएं बड़ौदा के प्रसिद्ध ध्रुपद गायक श्री भरत व्यास से प्राप्त हुई है, जिनका यथास्थान इसी अध्याय मे विवेचन किया गया है।

सम्भाव्य रचनाएँ

रामायण : उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त श्री शिवसिंह सेंगर ने लिखा है 'सातो काण्ड रामायण की कवित्तों में महा अद्भुत रचना और कवित्ताई में बनाया[4]' सेंगरजी के इस कथन को खोज रिपोर्टों में प्राप्त 'हनुमानजी के कवित्त'

---

१. देखिये खोज० १६०६-८, १९२३-२५, १९२६-२८

२. खोज० सं० १७ मे दिए गये विवरण के अनुसार, इसे वृन्दावन के मन्दिर मे देखने का प्रयत्न किया गया पर अब वहाँ से याज्ञिकजी की पुस्तकें बिखर कर इधर-उधर हो गई है।

३. बड़ौदा विश्वविद्यालय की खोज के आधार पर

४. सरोज० पृष्ठ २३८

रचना पुष्ट करती है। सम्भवतः यह रचना रामायण का ही अंश और जहाँ तक प्रतीत होता है—सुन्दरकाण्ड है। उधर मध्यकाल में राम-भक्तों में हनुमान की भक्ति का विशेष रूप से प्रचार था। तुलसीकृत रामायण का भी सुन्दरकाण्ड अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुआ है। तुलसी की 'कवितावली' का हनुमान सम्बन्धी अंश 'हनुमान बाहुक' नाम से अलग से छपता और बिकता है। इस प्रकार भगवन्तराय की रामायण का हनुमान से सम्बन्धित अंश सुन्दरकाण्ड —यदि अधिक लोकप्रियता के कारण नष्ट होने से बच गया तो यह स्वाभाविक ही था। हनुमान के ही नाम पर रचना का शीर्षक भी यदि लोगों ने स्वयं दे डाला हो तो भी आश्चर्य नहीं। दो स्थानों पर प्राप्त एक ही रचना के दो शीर्षक होने से इस तथ्य के लिए संकेत भी मिल जाता है।

इधर सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी के शोध-छात्र श्री कमल मिश्र से ज्ञात हुआ है कि भगवन्तराय के दो ग्रंथ फूलपुर जिला इलाहाबाद के एक ठाकुर साहब के पास अब भी विद्यमान हैं। ठाकुर साहब के पुत्र से जो कमलजी के सहपाठी थे, यह सूचना कमलजी को मिली है। पर ठाकुर साहब उन दोनों ही पुस्तकों को किसीको दिखाते तक नहीं। ग्रंथों के नाम 'कवित्त रामायण' और 'कवित्त सागर' हैं।

कवित्त रामायण और कवित्त सागर : जहाँ तक 'कवित्त रामायण' का प्रश्न है उसकी शिवसिंह सेंगर के पश्चात् खोज में प्राप्त 'हनुमानजी के कवित्त' से भी पुष्टि हो जाती है। अतः कमलजी की साक्षिता से उसकी दुहरी पुष्टि हो जाती है। रही 'कवित्त सागर' की बात। इसका उल्लेख अभी तक कहीं नहीं हुआ है। पर भगवंत-राय के जो स्फुट छंद यत्र-तत्र बिखरे हुए भिन्न-भिन्न विषयों के मिले हैं, उनमें काव्य-गत पुष्टता और रीतिकालीन प्रचलित शैलियों की विविधता को देखकर यह सहज ही अनुमान लग जाता है कि कवि ने इस प्रकार की पर्याप्त रचनाएँ की होंगी जो किसी कारण से बिखर कर आज अप्राप्य हो गई हैं। अतः 'कवित्त सागर' की बात को अमान्यन हीं किया जा सकता। अपनी 'कवित्त रामायण' जैसी पुष्ट शैली की प्रबन्ध-रचना में प्रवृत्त होने के पूर्व उन्होंने काफी अभ्यास कर लिया होगा, ऐसा मानना भी अनुचित न होगा। यद्यपि आज भगवन्तराय की अत्यल्प रचनाएँ हमें प्राप्त है, परन्तु निकट भविष्य में हिन्दी साहित्य के समक्ष उनके उपर्युक्त दोनों ग्रंथ भी प्रकाश में आ जायेंगे—ऐसी सम्भावना है। कवि भगवन्तराय की उपलब्ध और सम्भाव्य रचनाओं के अनुसार उनके काव्य की दो प्रमुख धाराएँ निश्चित होती हैं: (१) प्रबन्ध शैली जिसमें उन्होंने राम-कथा का प्रणयन किया (२) रीतिकालीन मान्यता के अनुसार की गई मुक्तक रचनाएँ। प्रथम में मर्यादा

भक्ति की चेतना प्रधान है तो दूसरे में साहित्यशास्त्र की सर्वस्वीकृत लक्षण और उदाहरणों की परिपाटी लक्षित होती है। इसी दूसरी शैली में कृष्ण-भक्ति की मधुर धारा के स्वर भी मिल जाते है।

आलोचनात्मक परिचय

खोज रिपोर्टो के विवरण के अनुसार 'हनुमानजी के कवित्त' अथवा उनके (सुन्दरकाण्ड ?) की प्राप्त सामग्री को दो विभागों में रख सकते है। प्रारम्भ के १६ कवित्त हनुमानजी की स्तुति में लिखे गये हैं। कवि अपने इष्टदेव हनुमान के नख-शिख का वर्णन करता है।[१] शेष ३४ कवित्तों में कथा वर्णित है। यह अंश खोज रिपोर्ट में सारांश रूप में उद्धृत किया गया है और मूलकृति प्राप्त नही हो सकी अतः इस पर विचार नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य प्रकट हो जाता है कि कवि ने अपने पूर्ववर्ती रामकाव्यों का अध्ययन व मनन अच्छी प्रकार किया था, एवं मुक्तकों में भी कथा-सूत्र को पिरोकर उसके निर्वाह का पूरा प्रयत्न किया है। कवि के वर्णन में स्वाभाविकता लक्षित होती है। लंका दहन के प्रसंग में हनुमान के ऊपर मेघनाद के झपटने का प्रसंग उदाहरण रूप में रखा जा सकता है। यह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। लंका जैसी वीरों की नगरी को जलाते समय कपि के ऊपर कोई आक्रमण न करे, यह लंका के वीरों की कायरता मानी जाएगी। इस प्रकार हनुमान के वीरतत्व के उत्कर्ष में यह कातरता सहायक न होकर बाधक होगी। भगवन्तराय ने इस प्रसंग पर अपनी प्रवन्धकुशलता का परिचय दिया है। प्रतिपक्षी को समान विरोध के लिए समुद्यत दिखाकर इन्होंने वीर रस की प्रेभ-विष्णुता की वृद्धि की है। इस एक ही प्रसंग से संकेत मिलता है कि कथा की कलात्मकता और घटनाओं की रसात्मक योजना की इन्हें अच्छी सूझबूझ थी।

स्तुति भाग

हनुमानजी की स्तुति मे लिखे गये १६ कवित्तों में इष्ट का नख-शिख वर्णन है। यह अंश स्तोत्र-काव्य है। इसलिए इस प्रसंग में स्तोत्रों की मूल चेतना और उसके विकास-क्रम का सिंहावलोकन उचित होगा।

स्तोत्र-साहित्य की परम्परा

स्तोत्र शब्द की निष्पत्ति 'स्तु' धातु से हुई है। ऋग्वेद में इसके 'स्तवेत' और 'स्तोपाणि' रूप में प्रयोग मिलते है। आगे चलकर इसका रूप स्तोत्र हो गया,

---

१. खोज० १९२३-२५

जिसका अर्थ है जो गाये जाते हैं।[१] इनका मूलस्वर प्रशस्ति, स्तुति और प्रार्थना से प्रस्फुटित होता है। मानव हृदय का यह आकलन संसार के सभी धर्मों के आरम्भिक साहित्य में समाहित है।[२] मानव जाति की इस अनुभूति की एकरूपता का रहस्य है, उसकी शक्ति की परिमितता। वह प्रकृति के समक्ष आरम्भ से ही अपने को निरुपाय और दुर्बल पाता आया है। इस प्रकृति का यदि एक पक्ष उसके लिए अनन्त सहृदय और सरल रहा है तो दूसरा उतना ही प्रबल एवं भयंकर था। प्रकृति के ये दोनों पक्ष मानव के लिए सदैव रहस्य बने रहे। इसीलिए 'असभ्य-दशा में पड़ी हुई जातियों के बीच देवता एक ऐसा शासक था जो पूजा से तुष्ट होकर ही रक्षा और कल्याण करता था और पूजा न पाने पर रुष्ट होकर अनिष्ट करता था।[३] तथा जो प्राचीन जातियाँ सभ्य थीं उन्होंने सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को उपास्य ठहराया था, जो बराबर उपकार ही किया करती थीं, पर रुष्ट होने पर अनिष्ट भी करती थीं।[४] अतः कह सकते हैं कि भय और कृतज्ञता के भावों की प्रेरणा से मानव हृदय की पल्लवित हुई अभिव्यक्ति, उपासना और भक्ति-साहित्य की सम्पत्ति है। वेदों में 'इन्द्र', 'वरुण', 'अग्नि', 'सोम', 'मरुत' और 'ऊषा' आदि शक्तियों का सम्बोधन एवं आह्वान करने वाले सूक्तों की संख्या पर्याप्त है। इनमें प्रशस्ति, प्रार्थना और ध्यान के सामंजस्य के साथ काव्यात्मक चारुता भी कम नहीं है। विशेषरूप से वरुण के प्रार्थना-सूक्तों में भक्तितत्व की विशेषताएँ अधिक स्पष्ट हैं, जिनका विकास भक्ति-साहित्य में परिलक्षित होता है।

"वैदिक ऋषियों को काव्य को धर्म और धर्म को काव्य बनाने की कला सिद्ध थी, जिसे उनके परवर्ती लोग भूल तो गए परन्तु उन्होंने नये प्रकार के स्तोत्रों को जन्म दिया। महाकाव्यों, पुराणों और अनिश्चित काल के तंत्र साहित्य, प्रार्थनापरक रचनाओं से भरे हुए हैं, जिनमें पौराणिक देवताओं की पूजा-अर्चा है। केवल हिन्दू ही नहीं, जैन और बौद्ध भी अपने धर्मगुरुओं और देवों को इस प्रकार की रचनाओं से सम्बोधित करने में हिन्दुओं से पीछे नही रहे।[५] इस प्रकार पूर्व मध्ययुगीन साहित्य में स्तोत्रों की मान्यता अत्यन्त व्यापक रूप से मिलती है। परन्तु मध्यकाल के भक्त-सम्प्रदायों के उदय के साथ भाव-भक्ति के प्रचार के लिए मूल धर्म-भावना बहुत कुछ बदलकर शृंगारात्मक रहस्य के रूप में ग्रहण हुई,

---

१. मौनियर्स विलियम संस्कृत शब्द कोष
२. फ्लावर्स० पृष्ठ ३
३. सूरदास पृष्ठ ४
४. सूरदास पृष्ठ ४
५. संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १६६

जिसकी प्रेरणा शृंगारी रहस्य-दशा से ली गई है। जहाँ-तहाँ अपनी धार्मिक आकांक्षाओं को व्यावहारिक भाषा तथा लौकिक अनुराग के चित्रों में प्रकट करते थे। इस प्रवाह के कारण, संस्कृत साहित्य की धार्मिक कविता में नया मोड़ उपस्थित हुआ जो शृंगार काव्य के अति निकट पहुँच गया। यहाँ तक कि 'गीत गोविंद' जैसी कृति दृष्टिकोण के हेर-फेर होने पर समान रूप से धार्मिक अथवा शृंगारी कृति प्रतीत होगी। धर्म-भावना के इस संस्कार से प्रबल काम-प्रवृत्ति उदात्तोन्मुख हुई गोचर होती है, और फिर यह धर्म-भावना चाहे कितनी ही प्रधान क्यों न हो, उसमें इस झुकाव के कारण साहित्यिक सौंदर्य भी असंदिग्ध रूप से संरक्षित रहता है।[1]

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में यद्यपि स्तोत्रों की इसी विकसित भक्ति का प्रभाव अधिक व्यापक है परन्तु इसी के समानान्तर चलनेवाली मूलधारा भी नहीं खंडित हुई, जिसमे भक्तों ने राम के चरित्र को आदर्श मानकर मर्यादित रूप में अपने हृदय की श्रद्धा, दैन्य व दास्य भावों को अभिव्यक्ति दी है। दास्य भाव की प्रमुखता के कारण इनके लिए अपने आराध्य भगवान राम के एकान्त चरित्र में रमण करने की वैसी गुंजाइश न थी—जैसी कि कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों के लिए सम्भव थी। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इस धारा में भी रसिक-साधना पल्लवित और विकसित हुई है पर समाज में तुलसी जैसे भक्त द्वारा स्थापित मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप की ही मान्यता प्रधान रूप से रही है। प्राचीन शास्त्र ग्रन्थों पर प्रतिष्ठित स्तोत्र-साहित्य में विद्यमान भक्ति का शुद्ध रूप इसी धारा के साथ अधिक प्रस्फुटित हुआ है। इन दो धाराओं का अंतर है "एक समाज मर्यादा को सुरक्षित और दूसरे सब कुछ न्योछावर करते थे।" हिन्दी का मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य इन्हीं दोनों धाराओं में प्रवाहित हुआ है। रूपगोस्वामी जी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिंधु' ग्रंथ में हृदय के राग द्वारा प्रधान रूप से संचालित होने के कारण एक को 'रागानुगा' तथा दूसरी को शास्त्र-विहित मर्यादा से नियंत्रित होने के कारण 'वैधी' संज्ञाएँ दी हैं। 'वैधी' भक्ति में शास्त्रों के महत्व के साथ वर्णाश्रम धर्म के आचार-व्यवहार, पूजा-विधानों की तत्परता आदि की प्रमुख रूप से मान्यता रहती है। यही शास्त्रीय भक्ति विकसित दशा में नियम और बन्धनों से अतीत होकर 'रागानुगा' की कोटि प्राप्त करती है। वास्तव में इन दोनों का स्वरूप निकट एवं कभी-कभी तो घुले-मिले रूप में मिलता है। एक भूमिका बनाती थी तो दूसरी परमसाध्य की उपलब्धि कराती थी। अतएव अन्योन्याश्रयता का सम्बन्ध

---

१. संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३७५

स्पष्ट रूप से मिलता है। हम कह भी आये है कि हिन्दी के भक्त-कवियो की रचनाओं में यह घुला-मिला रूप स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य में स्तोत्र और उनके पांच प्रकार : इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे एक ओर शृंगारी भाव-विधान के अन्तर्गत समाहित होनेवाला काव्य लिखा गया, जिसमें सामान्यतः कवि अपने और अपने आराध्य के मध्य की रेखा को मिटा देता है और उसके एकान्त जीवन के रस-चित्रो में रमण करने और उन्हे उद्घाटित करने मे ऐसा डूब जाता है जैसे वह किसी अपने ही जैसे लौकिक प्राणी की जीवन-लोला मे रस-स्नात हो रहा हो। परन्तु मर्यादावादी कवि एक सम्मानजनक दूरी पर स्थित होकर अपने हृदय का अर्घ्य अर्पित करते है। उनकी रचनाओ में हृदय की कृतज्ञता, लघुता, अज्ञानता एवं दीनता आदि भावो की तुलना मे आराध्य की उदारता, महत्ता, सर्वज्ञता और सर्व सामर्थ्य आदि गुणो का वर्णन रहता है। इन दूसरे प्रकार के भक्त कवियो का काव्य आदिकालीन स्तोत्र-साहित्य के सर्वाधिक निकट है। मध्यकाल के हिन्दी साहित्य में इसका कलेवर बिखरा हुआ और अल्प होने पर भी प्रायः सभी कवियों की रचनाओ में उपलब्ध हो जाता है। विषय और शैली की दृष्टि से इसके पाँच प्रकार किये जा सकते है।

पहला प्रकार स्तुति है, जिसमें ईश्वर, देवता या देवी की स्तुति रहती है। यह स्तुति आत्म-विषयक या निष्काम भाव से हो सकती है, दूसरा है मंगलाचरण। ग्रंथारंभ के समय प्राय. सभी मध्यकालीन कवियों ने लिखा है। इन्हे आंशिक स्तोत्र के रूप मानना ही अधिक समीचीन होगा। तीसरे प्रकार के स्तोत्रो का विषय वंदना या गुण-कथन होता है। चौथे प्रकार के स्तोत्रों में प्रार्थना और विरुद् वर्णन तथा पाँचवे प्रकार के स्तोत्र 'सुमिरिनी' माने जा सकते हैं, जिनमें आराध्य के पर्यायवाची नामो को बार-बार दुहराया जाता है।

भगवंतराय के स्तोत्र : सुमिरिनी को छोड़कर भगवन्तराय की प्राप्त रचनाओ में स्तुति, गुण-कथन, प्रार्थना या विरुद-वर्णन तथा मंगलाचरण, ये चार प्रकार के स्तोत्र प्राप्त है। इस प्रकार उनकी प्रकृति व निष्ठा स्तोत्र-साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्त दिखाई पड़ती है। मध्यकालीन हिन्दी स्तोत्रकारो में उनका स्थान इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक श्रेष्ठ स्तोत्रकार होने के लिए जिस निविड़ निष्ठा की कवि में आवश्यकता होती है भगवन्तराय में उसका अभाव नही। उनकी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं के विवेचन के प्रसंग में इस विशेषता को प्रकाश मे लाया गया है। यहाँ हम आलोच्य कवि के हनुमानजी के नख-शिख पर ही विचार करेंगे।

संस्कृत साहित्य में नख-शिख परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती का नख-शिख वर्णन किया है। इस वर्णन के परिष्कृत रूप में किसी पहले से चली आई परम्परा का संकेत मिलता है। इसके बीज वैदिक साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं। आलम्बन का स्वरूप वर्णन काव्य का प्रिय विषय रहा है। वह प्रेमी-प्रेमिका अथवा देवी-देवता किसी का भी हो सकता है। इस प्रकार नख-शिख वर्णन काव्य का सहज और सामान्य धर्म है। नख से लेकर शिख तक पूरे शरीर का वर्णन करना इसके अन्तर्गत है। भक्ति को लेकर चलने वाले या लौकिक प्रेम का निर्वाह करने वाले दोनों ही प्रकार के कवियों को नख-शिख वर्णन अभिप्रेत रहा है क्योंकि इसके मूल में ध्यान और तन्मयता का स्थान रहना है। इस प्रकार नख-शिख वर्णन के माध्यम से जाना जा सकता है कि कवि कितना समर्थ रूप-चित्र प्रकट करता है एवं इस सबके पीछे उसके हृदय की प्रेरणा कितनी बलवती है! भगवन्तराय ने अपने सुन्दरकाण्ड में (जिसके 'हनुमानजी के कवित्त' या 'हनुमान पचासा' नाम दिये गए हैं) हनुमान जी का नख-शिख वर्णन किया है। यह प्रकरण भाव और ध्यान की गहराई का पूर्णरूप से प्रमाण प्रस्तुत करता है। कवि ने अपने शब्दों के सहारे जो चित्र बनाये हैं, वे अत्यधिक प्रभावशाली, अभिव्यंजक एवं भावपूर्ण हैं। आलंबन के जिस किसी अंग पर कवि अपनी दृष्टि गड़ाता है, उसके साथ पूर्णरूप से भाव-तादात्म्य करता है और उसमें निमग्न हो जाता है। सौन्दर्य का वास्तविक आधार भावात्मक लगाव है जो कवि-स्वभाव के अनुसार कई कारणों पर निर्भर करता है। उन सबका स्मरण करने से भाव की गरिमा बढ़ जाती है। कवि हनुमानजी के नेत्रों का वर्णन करते समय कितना भाव-विभोर हो गया है, यह अवलोकनीय है:

सील भरे सुखद सनेह भरे सोभियत
जगत उज्यारे प्यारे जानकी के कंता के
कृपा भरे त्रपाभरे निपट निकाई भरे
रक्षा भरे सांतरस मंडली के रंता के

तथा

लक्ष लक्ष विघन जे तक्षन विडारिवे को
वंदौ पिंगलोचन जे रक्ष अक्ष अंता के।

कवि अपने इष्टदेव हनुमानजी के नेत्रों का वर्णन करता है। केवल आकार और रंग आदि का कथन करने से आलम्बन के साथ आन्तरिक लगाव नहीं प्रकट किया जा सकता, इसके लिए तो गुण और व्यापार पर दृष्टि गड़ाकर उसका साक्षात्कार करना होता है। कवि ने यही देखा है और यही दिखाया है। उसके आराध्य के

नेत्र शील के कारण सुखद हैं और 'स्नेह' के कारण शोभायमान। जानकीजी के कंत रामचन्द्रजी को प्रिय उनके ये नेत्र संसार में उजागर (प्रकाशित या प्रसिद्ध) हैं। इसके अनन्तर उनके नेत्रों में कृपा, त्रपा, निकाई और रक्षा आदि गुणों की स्थिति है जिसके फलस्वरूप उनके प्रति बड़े ही स्वाभाविक रूप से अनुराग की उत्पत्ति होती है। अन्त में कवि इसी कवित्त में हनुमानजी के नेत्रों का सामर्थ्य और शूरता का स्मरण करता हुआ अपनी वंदनांजलि अर्पित करता है। यह वर्णन-क्रम कितना स्वाभाविक, भावपूर्ण और तारतम्यमय है। कवि अंग-विन्यास में ही नहीं अटकता वरन् उनकी तह में निहित करुणा-कृपा आदि गुणों को उभार कर सामने लाता है। यह विशेषता उन्हें हिन्दी के श्रेष्ठ स्तोत्रकारों की कोटि में स्थापित करती है।

देवताओं के नख-शिख वर्णन के कारण पुरुष-सौन्दर्य की जिस रमणीयता का प्रकाशन होता है वह भारतीय साहित्य की निजी विशेषता है। इस धारा की एक श्रेष्ठ रचना होने के नाते भगवन्तराय का 'हनुमानजी का नख-शिख' महत्व-शाली है।

भगवंतराय की भक्ति-रचनायें

भगवंतराय की भक्ति सम्बन्धी रचनायें अधिकांशतः शास्त्रीय मर्यादा का अनुकरण करती हैं। यदि उनके जीवन को भी सामने रखा जाये तो इस शास्त्रीयता की पृष्ठभूमि को समझने में अधिक सुगमता होगी। वे वीतराग तो थे ही नहीं; साधारण गृहस्थ भी नहीं, एक राजा थे। इतना ही नहीं वे जीवन के संघर्षों में प्रवृत्त रहनेवाले एवं अत्यन्त महत्वाकांक्षी भी थे। उनके सामने संसार था और लौकिक सफलता भी महत्व रखती थी; अतएव इन क्षेत्रों में वे स्वाभाविक रीति से सफलता चाहते रहे होंगे। इसीलिए उनकी रचनायें अधिकांश में 'दास्य' और 'आर्त्त' भावों से प्रेरित हैं। रामभक्तों के लिए ये ही स्वर आदर्श रहे हैं :

> 'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'
>
> तथा
>
> 'बालक सम मम दास अमानी' —मानस०

संसार के वास्तविक मर्म को समझनेवालों के लिए भक्ति विषयक यह अन्तर्दृष्टि अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। जीवन-संघर्ष में उतरनेवाले व्यक्ति को उसके उतार-चढ़ाव पार ही करने पड़ते हैं, यह एक अवश्यम्भावी सत्य है। ईश्वर को ही सर्वशक्तिमान समझनेवाला एवं निज को उसी के अनुग्रह पर आश्रित करनेवाला भक्त किसी भी विषम परिस्थिति में रहकर न तो अधीर हो सकेगा और न

निराश्रित। संसार में पाई जाने वाली पराजयों, विफलताओं और कटुताओं को पी कर भी वह जीवित रह सकता है। मीरा के विष के प्याले की घटना-सत्यता चाहे जो कुछ हो पर उसके लक्ष्यार्थ की सत्यता में कोई सन्देह नहीं कि सच्चा भक्त-हृदय विष को भी हर्षपूर्वक अपने प्रभु की इच्छा समझकर पी सकता है। ऐसे विश्वासी भक्तों को सदैव अपने सिर पर शक्तिमान ईश्वर के वरद् हस्त होने की भावना जागृत रहती है। आस्तिकता की अपने आप में यहीं एक अतवर्य उपयोगिता सिद्ध हो जाती है :

'आतप-तापित जीवन-सुख की शान्तिमयी छाया के देश,
हे अनंत की गणना देते तुम कितना मधुमय संदेश'—कामायनी

प्रश्न उठता है कि कठिनाइयों, कष्टों और आतपों के समय मनुष्य कहाँ शरण खोजे? कहाँ विश्राम पावे? ऐसे अवसर के लिए कहा जा सकता है कि दैवी विश्वास ही मनुष्य को अपने अंचल में शांति प्रदान करता है या कर सकता है। यही जीव की अपने में सीमा, दुर्बलता एवं देव की अनंत सत्ता तथा सर्वसमर्थता प्रमाणित हो जाती है। एक दाता रहता है, दूसरा मात्र याचक। भक्त को यह लाभ दास्य-भाव की उपासना में ही मिल सकता है। यहाँ दास्यभाव को व्यक्त करनेवाली भगवंतराय की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती है :

भनै भगवंत पिंगलोचन ललित सोहे
कृपा कोर हेर्‌यो विरुदैत उचैकर को
पवन को पूत कवि कुल पुरहूत सदा
समर सपूत बन्दौं दूत रघुवर को

*　　　　*　　　　*

कैसी भई तोहिंतो हठीले हनुमान वीर
पन को पलैया तैं, जनैया जन-मन को
भ्राता हरिदासन कौ त्राता सरनागत को
प्रभुगुन ज्ञाता प्राणदाता लछिमन को

कवि आर्त्त होकर अपने उपास्य की ओर लोकजीवन की सिद्धि एवं समृद्धि के लिए निहारता है। उसी सर्वशक्तिमान के विरुदों के गायन से उसे पूर्ण मनोरथ होने का एक मात्र विश्वास है। उन्हें अपने समस्त अभावों को पूर्ण करनेवाले आराध्य की शक्ति में अगाध आस्था है। फिर भला वे अपने कल्पवृक्ष जैसे आराध्य की छाया में बैठकर भी जीवन में कुठाओं को क्यों बटोरते।[1] उनका तो विश्वास था

---

१. 'सुर तरु-छाँह बास कर जोई, सह कि दरिद्र जनित दुख सोई' —मानस०

कि आराध्य की कृपा से समस्त चिंताओं का शमन और कामनाओं की सिद्धि होती है। आराध्य की कृपा उस कामधेनु के समान है जिसके स्तन्य में अमृत रहता है। भक्त की ओर आराध्य की कृपा-दृष्टि होते ही उसके राज्य और वैभव का विस्तार होने लगता है। भक्त के हृदय को आनन्दित करनेवाली एवं उसकी समस्त विपत्तियों का नाश करनेवाली दृष्टि कभी अपने इस स्वभाव से डिग नहीं सकती :

सुख भरिपूरि करै, दुखन को दूरि करै
जीवन समूरि सो सजीवन सुधार की।
चिंता हरिबे को चिंतामनिसी विराजै
कामना को कामधेनु सुधा संजुत सुमार की।
भनै भगवंत सुघी होत जेहि ओर देत
साहिबी समृद्धि देखि परत उदार की।
जन मन रंजनी है, गंजनी विथा की
भय-भंजनी नजरि अंजनी के एंड़दार की।

मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापार 'अहं' से ही प्रेरित होते हैं। सभी के मूल में स्वयं को ही रखकर वह विचारता एवं तत्पश्चात् कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। उपनिषदों में भी कहा गया है, सभी कुछ आत्मा के लिए ही प्रिय होता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति'। भगवंतराय की रचनाओं में भी यही स्वर विद्यमान है। वे अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं, उसकी उन्नति के अभिलाषी हैं। लोक-मंगल के लिए सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता रहती है तथा आत्मोत्कर्ष के लिए सद्गुणों की। कवि इन दोनों का ही अभिलाषी है। सूर्य भगवान् की स्तुति में लिखे गए ध्रुपद में उनकी यह भावना अत्यन्त स्पष्ट है :

'सरन है रायभगवंत बलवंत तूं,
राजविद्या महा शक्ति सौरम भरन'

राज्यलाभ से सांसारिक सुख और विद्या से मानसिक ऐश्वर्य सधता है। इस प्रकार आत्मा संस्कृत एव उन्नत होती है। इन दोनों ही की उपलब्धि शक्ति के द्वारा होती है। अतएव उपर्युक्त अभीष्ट साधन के लिए शक्ति की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार तीनों ही समान रूप से काम्य हैं। इन्हें प्राप्त कर कवि सौरभ वितरण करने की अभिलाषा करता है। सौरभ अन्य कुछ नहीं, गुण ही है। गुण से ही मनुष्य की कीर्ति फैलती है। जिस प्रकार सुगंधि से अन्य लोग आनन्दित होते हैं और हृदय से उसकी सराहना करते हैं तथा उसे ग्रहण करना चाहते है, उसी प्रकार कवि भी अपने यश से दूसरों को प्रसन्न करके उनकी प्रशंसा का भाजन बनना चाहता

है। पर-हित में निष्ठ यशोर्जन संसार में वन्दनीय हो जाता है। भगवंतराय की यह प्रवृत्ति लोक-कार्य में उनकी असीम आस्था प्रकट करती है।

उपासक की या भक्त की सबसे बड़ी सिद्धि होती है, अपने उपास्य से तादात्म्य स्थापित करने में। साधक अपने उपास्य से एकाकार कर ले यह निष्ठा की संकुलता से ही संभव होता है। कवि भगवंतराय हनुमान् की उपासना की अवस्था में उपास्य में कुछ इसी प्रकार तन्मय हो जाते थे। वे अपने उपास्य के चरित्र का अनुसरण स्वयं के चरित्र में करना चाहते थे। जिस प्रकार हनुमान् का हृदय लंका के अन्यायी राजा रावण के विरुद्ध युद्धोत्साह में बावला था उसी प्रकार इनका भी हृदय तत्कालीन शासन के प्रति विद्रोही था। आराध्य की आराधना में उनका यह वीर रूप निवेदित मिलेगा :

'ओड़े ब्रह्म अस्त्र को अवाती महाताती वन्दौं
युद्ध मदमाती छाती पवनकुमार की।'

हनुमान् की वीरता और उनका पुरुषार्थ लोक-मर्यादा पर स्थित था जो असन्मार्ग पर प्रवृत्त राक्षसों को विनष्ट करने में संयुक्त हुआ। वीरता के साथ लोकपक्ष सदा जुड़ा रहा है। लोक-हित की साधना ही वीरता का आदर्श है। अन्यथा होने पर वही वीरता बर्बरता कही जायेगी। सत्-समाज को ऐसी उदार वीरता से परम प्रसन्नता प्राप्त होती है। भगवंतराय के सामने ऐसी ही वीरता आदर्श रूप में थी। वीर की ऐसी वीरता का एक पक्ष भयंकर तथा दूसरा कितना मनोहारी होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।[1] लंकादहन में हनुमान् के जलते हुए लांगूल की लपटों में कवि को वसंत ऋतु के पलाश और सेमल के फूले हुए वृक्षों की लालिमा दिखी थी। उत्प्रेक्षा का सहारा लेकर कवि ने यह भी व्यंजित किया है कि वसंत की रक्त (ज्वाला) पुष्पित बनश्री को निहार कर जैसी प्रसन्नता होती है वैसी ही प्रसन्नता हनुमान् के लंका दाहक वीर कर्म को निहार कर लोक-मानस में हुई थी :

सुजन समाज को प्रगट प्रफुल्लित कै
घूमित मरुत चारु केसरी सुतत है
तारापति परम प्रसन्न रहे जासों सदा,
कुमुद सुखेन हरि रिच्छ हितवंत है
भनै भगवंत सीता रामहिं भजत नीके
समर सहाइ उग्र ओजस अनंत है

---

१. तुलना कीजिये, 'चिन्तामणि' भाग-१, 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबंध से

मानगढ़ भंजिबे को महाबालधी को बाल
आयो हनुमान जैसे आवत वसंत है।

कवि की दृष्टि आराध्य के लोक-मंगल साधक रूप पर टिकती है। वह अपने आराध्य से लोक-हित करने की शक्ति की याचना करता है। व्यक्ति का अहं समष्टि में अन्तर्भूत होकर जब सबके साथ अपने को सम्बद्ध करके सोचता-विचारता है, तभी उसके व्यक्तित्व का विकास होता है एवं तभी वह समष्टि के लिए आदर एवं श्रद्धा का भाजन बनता है। भक्ति का आदर्श 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' या 'सियाराम मय' माना गया है। यशःकामी भगवंतराय के सम्मुख यही आदर्श था। वे राम-भक्त थे। राम-भक्तों की दृष्टि में राम के दास राम से भी बढ़ कर होते है। स्वयं रामानंदजी की लिखी 'हनुमान्‌जी की आरती' इसे प्रकट करती है। तुलसी तो इसके उद्घोषक थे, और भगवतराय की रचनाओं में इसकी अनुवर्त्तिता मिलती है। राम-भक्तों में लोक-मंगल की साधना का आदर्श सर्वाधिक रहा है। भगवंतराय अपनी उपासना से शक्ति अर्जित करके अपने आराध्य के चरण-चिह्नों के अनुसरण मे ही निज को समर्पित किए हुए थे। उन्होने भक्ति से अपने जीवन के लोक-हित साधक पक्ष को समुन्नत किया है। वह एक ऐसे साधक थे जो अपने आराध्य को अपने भीतर उतार लेना चाहते है। उनके भक्त हृदय की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

भगवंतराय की भक्ति का स्वर

यद्यपि भगवंतराय की उपलब्ध रचनाएँ अत्यल्प है, फिर भी शास्त्रोक्त नवधा भक्ति के लक्षणों का उनमे निर्धारण आसानी से हो जाता है। उनके कवित्तो में भक्ति के मूल स्वरों की प्रतिष्ठा है। उनकी इस उक्ति 'एतेनहिं काम के जे होहिं न राम के नाम लेवा' से श्रवण-कीर्तन और नाम स्मरण करने की प्रवृत्ति की पुष्टि होती है, साथ ही इनकी भक्ति सम्बन्धी वैसी ही मान्यता निर्धारित होती है, जैसी तुलसी की थी।[1] उपास्य के प्रति हृदय में गहन निष्ठा होने से ही ऐसी भावना जागृत हो सकती है। वे उपास्य के द्रवित एवं कृपालु होने के प्रति पूर्ण आश्वस्त थे :

कैसी भई तोहितो हठीले हनुमान वीर
पन को पलैया तै जनैया जन-मन को

१. जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।
—विनय०

वन्दना एवं दास्य संबंधी भावों को प्रकट करनेवाली पंक्तियाँ अन्यत्र उद्धृत की जा चुकी हैं, अतः कह सकते हैं कि उनकी भक्ति-साधना उच्चकोटि की एवं शास्त्रानुवर्तिनी थी।

आराध्य से याचना करना भक्त का अपना अधिकार है और यह अधिकार उसे अपनी भक्ति पर विश्वास के कारण ही मिलता है। शुक्लजी के शब्दों को यहाँ उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण किया जा सकता—'कोरी श्रद्धा में याचकता का भाव नहीं है, जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है तभी इस भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धावान् श्रद्धेय पर अपने निमित्त किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं चाहता, पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है।'[1] भगवंतराय की अत्यल्प रचनाओं में ही भक्ति के अनेक तत्त्वों का समावेश है जिनके आधार पर उन्हें एक उच्चकोटि का भक्त कवि मानना पड़ता है।

भक्ति-रचनाओं में काव्य-सौन्दर्य

काव्य चाहे जिस भाव में या जिस शैली में लिखा गया हो, पर उसका प्रधान गुण होता है, उसमें अन्तर्निहित कवि का 'आत्म-निवेदन'। गीतों के लिए तो यह अनिवार्य एवं सर्व प्रधान गुण है, परन्तु इसकी महत्ता काव्य की सभी विधाओं में समान रूप से है। भक्त अपने आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन करता है और प्रेम-विमुग्ध प्रेमी अपनी प्रेमिका के प्रति। इसी प्रकार विभिन्न आलम्बनों के प्रति भिन्न परिस्थितियों एवं मनोदशाओं में आश्रय के भाव-चित्र काव्यबद्ध होकर हमारे सामने आते हैं। हृदय पक्ष का जैसा उद्घाटन 'आत्म-निवेदन' के माध्यम से होता है, वैसा अन्य प्रकार से नहीं। भगवंतराय की भक्ति संबंधी रचनाओं में 'आत्म-निवेदन' उनकी निष्ठा की निविड़ता का परिचय देने में पूर्ण समर्थ है।

गजेन्द्र मोक्ष प्रसंग पर लिखा गया उनका केवल एक ही कवित्त प्राप्त है। रत्नाकरजी ने इसी प्रसंग पर 'अष्टक' लिखा है। रत्नाकरजी के आठों कवित्तों को सामने रखकर पढ़िए, भगवंतराय का कवित्त आपको किसी भी प्रकार हलका नहीं दिखेगा। उदाहरणार्थ हमने रत्नाकरजी का ऐसा कवित्त छाँटा है जो वस्तु-प्रतिपादन की दृष्टि से भगवंतराय के कवित्त के सर्वाधिक निकट है। पहले रत्नाकरजी को ही पढ़ें :

गुनि गज भीर गह्यो चीर कमला को तज
त्यौं हरि अधीर परि उमंग अथाह मैं

---

१. चिन्तामणि, भाग-१, पृ० ४०–४१

कहै रत्नाकर चपल चक्र वाहि चले
वक्रग्राह निग्रह के अमित उछाह मैं
पच्छीपति पौन चंचला सों चख चंचल सौं
चित्त हूँ ते चौगुने चपल चलि राह मैं
बारनै उवारि दसा दारुन विलोकि तासु
हुचकन लागे आप करुना-प्रवाह मैं।[1]

गाढ़ परे गैयर गुहारिबो बिचार्‌यो जब,
जान्यो दीनबन्धु कहूँ दीन कोऊ दलिगो
जैसे हुते तैसे उठि धाए करुना के सिन्धु,
अस्त्र सस्त्र बाहन बिसारि कै विमलिगो
भनै भगवंत पाछे-पाछे पच्छिराज धाये,
आगे प्रतिपच्छ छेदि (दै ?) आयुधै उछलिगो
जौलौं चक्रधारी चक्र चह्यो है चलाइवे को
तौलौं ग्राह ग्रीव पै अगारु चक्र चलिगौ।

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों में दीन वत्सलता का उत्कर्षपूर्ण चित्रण है। किन्तु रत्नाकरजी के कवित्त की भाव-संवेदना भगवंतराय से बढ़कर नहीं है। भगवंतराय के कवित्त में स्वाभाविकता और कलात्मकता का बड़ा ही मनोहारी संयोग है। युद्ध आदि के प्रसंग में जब अस्त्रों के प्रयोग की घड़ी होती है, मनुष्य के हाथ को अस्त्रों के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। अस्त्रविहीन व्यक्ति को निहत्था कहा जाता है। मन के उत्साह को प्रकट करने के लिए हाथों का फड़क उठना आदि दिखाया जाता है। भगवंतराय ने भगवान् विष्णु के दीनरक्षरण भाव की तीव्रता को यह कहकर चित्रित किया है कि स्वयं उनका चक्र मन के विचार से भी पहले संचालित हो गया। इतना ही कहकर कवि नहीं रह गया वरन् वह यह भी दिखाता है कि उस चक्र के पीछे-पीछे स्वयं विष्णु भागते जा रहे हैं। कैसी भाव-विह्वलता है। करुणानिधान का इससे समर्थ चित्र और क्या हो सकता है ? यह क्षमता किसी कवि में अपने हृदय की तन्मयता के भीतर से ही फूटती है। भगवान् विष्णु के हाथ मन से भी अधिक शीघ्रता से शरणागत की रक्षा के लिए संचालित होते हैं, यह रत्नाकरजी को कहना पड़ा है परन्तु भगवंतराय ने इसी की चित्र-व्यंजना कराई है। 'पवन' और 'चित्त की चंचलता' कहकर सचमुच विष्णु

---

१. रत्नाकर, भाग-२

की गति की तीव्रता का वैसा समर्थ चित्र नहीं खींचा जा सका है जो भगवंतराय ने अपने निवेदन में उतार दिया है।

उनके भक्त-हृदय की रागात्मकता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है। वे अपने आराध्य के लोक-मंगल विधायक कर्मों में लीन हो जाते थे, जिससे उनकी अभिव्यक्ति बड़ी ही सशक्त हो गई है।

भगवंतराय की शृंगारी रचनायें

भगवंतराय के शृंगार विषयक मात्र चार कवित्त ही अद्यावधि हमें उपलब्ध हुए हैं। विषय की दृष्टि से इनको नायिका भेद के अन्तर्गत ही रखा जायगा। क्रमशः ये सुरतांता, प्रवत्स्यत् भर्तृका, खंडिता और प्रौढ़ा अभिसारिका को लक्ष्य करके लिखे गए प्रतीत होते हैं। संयोग संगठन के लिए इनमें दूती की भी नियोजना मिलती है। प्रवत्स्यत् भर्तृका के प्रसंग में विरह-निवेदन में ऋतु-वर्णन भी आया है। परम्परा रूप से रीतिकाल के कवियों ने ऋतु-वर्णन की जो शैली अपनाई थी, उसे ही इन्होंने ग्रहण किया है। जायसी की नागमती और भगवंतराय की विरहिणी के लिए वर्षा ऋतु के मेघ, बकपंक्ति तथा विद्युत् के प्रभाव एक-जैसे हैं।[1] बारहमासा की यह परम्परा संस्कृत काव्य और लोक-गीतों के माध्यम से अपनाकर रीतिकाल में खूब लोकप्रिय हुई। भगवंतराय की रचनाओं में इसका सुष्ठु साहित्यिक रूप मिलता है। भूषण के एक प्रसिद्ध कवित्त को सामने रखकर भगवंतराय के कवित्त का मूल्य आँकने में सहायता मिलेगी :

मेचक कवच साजि वाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाज रहे दीरघ वदन के
भूषन भनत समसेर सोई दामिनी है,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के
पैदरि वलाकाधुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूनेही सदन के
नाकरु निरादर पियासों मिलु सादर
ये आए वीर वादर वहादर मदन के।[2]

अब भगवंतराय का कवित्त पढ़िए।

---

१. पद्मावत—नागमती का वियोग खंड

२. भूषण०

बदरा न होंहि दल आए मैन भूपति के
बुंदिया न होंहि एरीबान झरलाई है,
दादुर न होंहि ए नकीब चहुँ ओर बोलैं,
मोर ए न होंहि हाँक सूरन सुनाई है
बकुला न होंहि सेत धुजा भगवन्तसिंह
चपला न होंहि समसेरें चमकाई है
बालम विदेस याते बिरहिन मारिबे कौं
घुगुनू न होंहि काम अगिनि जगाई है।

'भूषण' तथा भगवन्तराय की विरहिणियों के लिए वर्षा ऋतु के मेघ ऐसे लगते हैं जैसे वे बैरी की सेना हैं, जो उन्हें अवचट में घेरे खड़ी है। न भाव भिन्न है और उसके प्रकट करने के उपकरण भिन्न हैं। भूषण ने रूपक का आश्रय लिया है तो भगवन्तराय ने 'शुद्धापह्नुति' द्वारा विरहिणियों के चित्त की घबराहट को उभार कर प्रस्तुत किया है।

रीतिकाल में इस प्रकार की उक्तियाँ रूढ़ बन गई थीं। मेघ सभी विरहिणियों का बैरी और चन्द्रमा सब के लिए दाहक था। चन्दन और घनसार से किसी को भी शीतलता नहीं मिलती थी। भगवन्तराय का उपर्युक्त कवित्त रीतिकाल की इसी रूढ़ वर्णन शैली के अन्तर्गत है। इसी प्रकार दूती का प्रौढ़ा नायिका को अभिसार-भवन में लाने के लिए जो शब्दावली अपनाई गई है तथा खण्डिता की अपने पति के प्रति जो उक्ति है वह सब रीतिकाल के सामान्य वातावरण के अनुरूप ही है।

रीतिकाल की इन सँकरी सीमाओं में भगवन्तराय भी खड़े हुए हैं। रीतिकाल में कवि का भाव-क्षेत्र तथा कविता के समस्त उपकरण पूर्वनिश्चित और निर्धारित थे। फलस्वरूप एक ही प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण कई कवियों की रचनाओं से छाँट लीजिए, उनमें कवि के व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति सामर्थ्य की उद्भावना के सिवाय कोई नवीनता न मिलेगी। इतना ही नहीं भाषालंकार आदि में भी बार-बार पुनरावृत्ति दिखेगी। इन सब सीमाओं में रहते हुए भी भगवन्तराय की काव्य-प्रतिभा की विशिष्टता स्पष्ट परिलक्षित होती है। उन्होंने रीतिकाल की सर्व-स्वीकृत अभिधा शैली को छोड़कर, बहुधा लक्षणा और व्यंजना का आश्रय लिया है। संकेत और व्यंजना के विधान उनके काव्य में प्रचुर हैं। इसी में उनकी काव्य-प्रतिभा का प्रमाण मिलता है।

शृंगार की मर्यादा का निर्वाह

भगवन्तराय अपने जीवन को शास्त्र-नियमों से बाँधे हुए थे, परन्तु विवेकहीन होकर उनका अन्धानुकरण नहीं करते थे। उनके स्वभाव में ही क्रांति की ऊर्ज-स्विता थी। उनके जीवन की यह विशेषता काव्य में भी छिपी नहीं रहती। जहाँ उन्होंने एक ओर रीतिकाल की स्वर-साधना का अनुसरण किया है वहीं उसमें यथास्थान अपना व्यक्तिगत वैशिष्ट्य भी समाहित कर दिया है। राम भक्त होने के कारण मर्यादावाद ही उन्हें अभिप्रेत था। राधाकृष्ण के नाम पर कवियों को शृंगारी प्रकृति के प्रकाशन की जैसी छूट थी वैसी राम-भक्ति के क्षेत्र में न थी। इसीलिए राम-भक्ति परम्परा के कवियों के शृंगार-वर्णन अपेक्षाकृत मर्यादित हैं। राधा और कृष्ण नाम के प्रयोग जिन छन्दों में हुए हैं, वहाँ वैसी गंभीरता नहीं आ पाई है, जैसी विष्णु और हनुमान को सम्बोधित करके लिखे गए कवित्तों में है। अति प्राचीन काल से ही कृष्ण नाम के साथ अभिन्न होकर चलने वाला शृंगारी वातावरण ही वास्तव में इसके मूल में है। इतने पर भी इस कवि के संस्कार दूसरे थे—इसीलिए वैसा उन्मुक्त वर्णन इनसे नहीं हुआ जैसा रीति-काल के सामान्य कवि ने किया है। इन्होंने औचित्य को महत्व देकर अपने शृंगार-चित्रों को सम्मुख करते समय एक आवरण का विशेष रूप से ध्यान रखा है। एक ओर ईमानदारीपूर्वक अनुभूत चित्र की रंग-रेखाओं को उभारना तथा दूसरी ओर मर्यादा का पालन करने में इन्होंने बड़ी कुशलता दिखाई है। कवि एक साथ दो लक्ष्य साधता है। दोनों ही ओर वह अपने काव्य को किस रूप में निभा पाया है, इनकी परीक्षा वास्तव में प्रतिभा और क्षमता की परीक्षा होगी। इस निष्कर्ष को प्रतिपादित करनेवाला एक कवित्त हमारे समक्ष है।[1] इसमें भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों तथा वस्तुचित्रण के बिम्बों के लिए जैसी कुशल तूली और रंगों की आवश्यकता हो सकती थी, उसकी इन्होंने संयोजना की है। जिस प्रकार मानस के आरण्यकांड में तुलसी ने सीता के नख-शिख को व्यंग्य-विधान से प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार भगवन्तराय की 'राधिका' के सुरतांत के चित्रण में चित्र की पूर्णता, उसकी रंग-रेखाओं की सफल अभिव्यक्ति औचित्य के भीतर ही व्यंग्य संकेतों और लक्षणा के माध्यम से हुई है। चित्र इस प्रकार है: "प्रातःकाल का समय है। परिपुष्ट यौवना राधिका, रति के समर में प्रवृत्त रहने के कारण श्लथ हो गई हैं। उन्हें स्मर-समर में विजय-सुख मिला है। इसी सुख को आत्मसात किए हुए वे रात की नींद को प्रभात में पूरा कर रही हैं।

१. देखिए परिशिष्ट १, पृ० ३१६ में 'रैन की उनींदी राधे' प्रतीक वाला कवित्त

कवि प्रसुप्त रमणी (राधिका) के संभोग-अलसित सौंदर्य को प्रस्तुत तो कर रहा है, परन्तु नख से शिख तक सारे शरीर को झीने वस्त्रो में ढककर। उच्छल यौवन के सभोग तृप्त-सौदर्य को संकेतो द्वारा दर्शा भी दिया तथा मर्यादा को भंग भी नही होने दिया गया। विहारी की नायिका के से नेत्रों का मनोहारी वर्णन इस प्रकार संभव हो सका।[1] इस झीने पट के भीतर नायिका (राधिका) का उर-प्रदेश है, जिसे उसके ऊपर पड़ी हुई पुष्पों की माला ने ढककर एक ओर शोभा-वृद्धि की है, दूसरी ओर वक्षस्थल की ऊँचाई, शोभा और कोमलता को प्रकट कर के भी निरावृत्त नही होने दिया गया। पीठ से होती हुई श्याम वेणी कण्ठ और उर से होकर जानु प्रदेश से जा लगी है। यह वक्र गति से पड़ी हुई वेणी ऐसी शोभा पा रही है जैसे चंपक कुसुमागी राधिका के शरीर पर गुँथे हुए अलि-वृन्द माला बनकर पडे हों। मानों रति-युद्ध के समय मदन ने राधिका के कायिक धन्वा पर चढाकर अपने पुष्प-बाण चलाए है। "मधुकरन की माल" कह कर राधिका के साथ विहार करनेवाले कृष्ण का सकेत करने में कवि ने अत्यधिक कुशलता दर्शाई है। कृष्ण और राधिका में तत्त्वचिंतकों ने अभिन्नता स्थापित की है। यहाँ वही काव्य में ढाल दिया गया है। कृष्ण(नायक)के लिए "मधुकर" शब्द तथा राधिका के लिए "चम्पा" कह कर भी कवि दोनों को संयुक्त करा देता है। साधारण रूप से यह संयोग नहीं होता। अतः राधा और कृष्ण का मिलन असाधारण और अभूतपूर्व था एवं इससे कवि ने यह भी लक्षित किया कि कृष्ण साधारण नायक नही जो अनायास सभी फूलो पर बैठकर उसका रस ले। 'चम्पक वरनी" नायि-काओ के हाथ वे आसानी से नही लगते। अर्थात् कृष्ण पिछलगुए नही। इसीलिए मदन को स्वयं उन्हें जीतने के लिए अपने धनुष-बाण को लेकर चढाई करनी पड़ी। उन्हें आकृष्ट करनेवाली राधिका ही वह चम्पा-कुसुम है, जो सफल हो सकी है। इस असाधारण विजय का सुख भी असाधारण है। असामान्य उपलब्धि ही असाधारण अनुभूति को जन्म दे सकती है। इस विजय-गर्व में मदन ने तो अपने धन्वा की प्रत्यंचा उतार दी एवं राधिका तृप्ति की सुख-मदिरा पीकर सो रही है। कृष्ण जैसे वीतरागी को जीतने का सुख कितना असाधारण रहा होगा! संभोग-चित्र की पूर्णता कवि ने कम से कम रेखाओं में किस सामर्थ्य से अभिव्यक्त कर दी यह ध्यान देने योग्य है। चंपकागी नायिका धनुप है जिस पर श्याम नायक की प्रत्यंचा चढ़ाकर मदन ने वाण चलाए हैं। अभिन्न हृदयो के संयोग का कितना अभिव्यंजक चित्र है। केवल वाह्य वर्णन तक न अटक कर कवि की दृष्टि अन्तर

---

१. छिप्यो छबीलो मुँ हलसै नीले अंचर-चीर
   मनो कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥

पक्ष तक जाती है और उसका भी सफलतापूर्वक उद्घाटन करती है। 'अरसाय रही सुखते' कहकर रति के पश्चात् के सुख एवं आत्म-शांति का भाव दर्शाया गया है। विजय की अनुभूति भी संयोग का अन्तर पक्ष है, कवि ने इसे भी देखा और दिखाया है।

संभोग के उपरान्त हृदय और शरीर के समस्त दाह समाप्त हो जाते हैं। कवि ने व्यंजना की संश्लिष्टि से इसको भी ओझल नहीं रहने दिया। लतिका-सी नायिका के वक्ष पर पड़ी माला ऐसी लगती है मानो उसी लता में फूले हुए फूल हैं। इस फूली हुई लतिका के ऊपर नागिन की भाँति वेणी विश्राम कर रही है।

रीतिकालीन कवियों में यथार्थ व्यापारों के चित्रण की जो परम्परा थी उसके कारण उसमें अत्यधिक स्थूलता और एक विरसता आ गई थी। जीवन के एकान्त एवं गुह्य व्यापारों को यथातथ्य रूप में सामने रखने की अपेक्षा कविता में इनका बोध कराया जाना चाहिए। जैसे स्वशब्द वाचकत्व दोष के कारण रसास्वाद में बाधा पड़ती है, उसी प्रकार अत्यंत स्थूल चित्रों से संस्कृत रुचि के व्यक्तियों के सौंदर्य-बोध को व्याघात होता है एवं औचित्य की मर्यादा भी टूट जाती है। रीतिकालीन कविता में इस अभाव के कारण उसमें अनेक आक्षेप किये गए हैं। आज भी जब उसके सौंदर्य का उद्घाटन हो रहा है और उसके पक्ष में समर्थ स्वर उठ रहे हैं, पाठ्यपुस्तकों में कहीं भी उस प्रकार की रचनाओं का समावेश हुआ नहीं मिलता जो शृंगार की स्थूलता को सामने लाती हैं। उपर्युक्त रचना में भगवंतराय की औचित्यवादिता को देखने से ऐसा प्रकट होता है कि साधारण रूप से इनकी कविता में शृंगार की वह स्थूलता तो नहीं ही रही होगी जिससे रीतिकाल का अधिकांश कलेवर भरा हुआ है। इसके मूल में इनका रामभक्त व्यक्तित्व ही कारण रूप में रहा होगा।

भूषण से तुलना

भूषण जैसे वीर प्रकृति के कवि ने भी नायिका के प्रगल्भ अंगों का चित्रण किया है। उनकी नायिका ने भी यौवन-समर किया है। श्याम केशों में वहाँ भी श्याम सुभट की प्रतीक योजना है। पर भूषण के श्याम नायिका के पीछे पड़ते हैं, रति के लिए उसे तंग करते हैं, यहाँ तक कि नायिका में मधुर खीझ का भी आभास हो जाता है। नायक यहाँ नायिका के पीछे दौड़ता है। वह संयमी नहीं है। परन्तु भगवंतराय की राधा के नायक कृष्ण संयमी हैं। उन्हें जीतने के लिए नारी को प्रयत्न करना पड़ता है। यही भारतीय मर्यादा है, जिसका भगवंतराय ने निर्वाह किया है। चंपक के लिए भौंरे के सान्निध्य को प्राप्त करने के समान यह

व्यापार भी असाधारण है। भगवंतराय की इस विशेषता को भूषण के इस कविता के सापेक्ष्य में देखा जा सकता है :

नैन जुग नैनन सों प्रथमैं लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नहिं टारे हैं
अड़ि-अड़ि पिलि-पिलि लड़े है उरोज वीर
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति संगर को
भये अंग अंगनिते केते मुठभेरे हैं
पाछे परे वारन को बाँधि कहै आलिन सों
भूषण सुभट एई पाछे परे मेरे हैं[1]

विम्बविधानों की विशेषता और शैली में ओज-गुण

मनुष्य का मस्तिष्क स्मृतियों का भांडार होता है। जिन घटनाओं या दृश्यों से हमारा साक्षात्कार होता है ये सब अवचेतन मन के कोष में एकत्र रहते हैं। कवि किसी दृश्य अथवा भाव का चित्र खींचने के लिए अपने काव्य में ऐसी प्रतिमाओं का निर्माण करता है जिससे उसको पढ़-सुनकर सामाजिक के अवचेतन मन के संस्कार या चित्र उभर कर चेतन मन के विषय बन जायें। कवि की इसी नूतन चित्र निर्मात्री प्रतिभा को काव्य-भाषा में बिम्बविधान कहा जाता है। यह विम्ब-विधान स्वयं कवि की अपनी प्रतिभा और उसकी प्रकृति पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जिन दृश्यों अथवा चित्रों में वह अधिक रम सका है, अथवा उसके हृदय की संवेदनशीलता के जो अधिक निकट हैं, अपने काव्य में उन्हीं का प्रयोग कवि विशेष रूप से करता है।

भगवंतराय स्वयं योद्धा थे और वीर प्रकृति के व्यक्ति थे। परिणामस्वरूप उनके शृंगार-चित्रों में वीरता संबंधी प्रतीक और वीरता संबंधी विम्बों की संघटना है।

'बदरा न होहिं दल आये मैन भूपति के' प्रतीक के कवित्त में जिन प्रतीकों की योजना की गई है वे युद्धक्षेत्र के और सामान्य रूप से वीर-रस के संदर्भ में ग्रहीत प्रतीक-योजना में स्थान पाते है, परन्तु भगवंतराय ने उन्हें वियोगोद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार 'हरि को हराय मानो मैन मधुकरन की घरी है उतारि जेह चम्पे के धनुषते' में भी वीरता के वर्णन मे आने वाला चित्र मधुर भाव में उतार दिया गया है।

---

१. भूषण०

इन दो उदाहरणों के अतिरिक्त **'सुजन समाज को प्रगट प्रफुल्लित कै चूमित मरुत चारु केसरी सुतत हैं'** प्रतीकवाला कवित्त भी उनके वीर-बिम्बविधानों का दिग्दर्शन कराता है। श्लिष्टोपमा अलंकार के माध्यम से कवि ने एक ओर वसंत का सरस शृंगारी वातावरण खींचा है तो दूसरी ओर उसे हनुमान के वीर रूप में घटित कर दिया है।

इस प्रकार के वर्णनों में एक बड़ी शक्तिमत्ता होती है जो वीरता के स्थायी भाव उत्साह के संयोग के कारण बड़ी ही विदग्ध अनुभूति एवं सुखद स्फूर्ति जागृत करते हैं। यह विशेषता कहीं-कहीं तुलसीदासजी में और भूषण में देखी जा सकती है। सीता के वियोग में भगवान् राम की निम्नांकित उक्ति वीरता का बिम्बबोध करानेवाले 'बगमेल' शब्द के कारण कितना सशक्त प्रभाव छोड़ती है—

'बिरह बिकल बलहीन मोहिं
जानेसि निपट अकेल
सहित बिपिन, खग मधुकरन्ह,
मदन कीन्ह बगमेल

भगवंतराय के काव्य में इस प्रवृत्ति का पूर्णरूप से संप्रवेश है जो उनके काव्य को विशेष महत्ता से मंडित करती है। इसकी पृष्ठभूमि में वास्तव में कवि का वीर-रूप ही निमित्त बनकर विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त उनके शृंगार-वर्णन में ओजगुण का भी सन्निवेश हुआ है। ओजगुण से मन में उत्साह और वीरता आदि भाव जागृत होते हैं। भूषण के शृंगार-वर्णन में ओजगुण की स्थिति है पर उन्होंने वर्ण-संघटना की कर्कशता और क्लिष्टता द्वारा ही इस रस की सृष्टि की है जैसे—'अड़ि-अड़ि पिलि-पिलि लड़े हैं उरोज वीर' आदि में इन कर्कश वर्णों के अतिरिक्त वर्गों के आद्य और तृतीय वर्ण भी ओजगुण के उपकारक माने गये हैं, जिन्हें भगवंतराय की इस पंक्ति में देखा जा सकता है—'**बालम बिदेस याते बिरहिन मारिबे को जुगुनू न होहिं काम** अगिनि जराई है' इस प्रकार हम देखते हैं कि इनके शृंगार का ओजगुण कोमल वर्णों पर आधारित है जो इनकी काव्य-कुशलता का प्रमाण है।

इस विवेचन के अनुसार कह सकते हैं कि भगवंतराय के शृंगार में भी उनके व्यक्तित्व का सन्निवेश है जो अपनी शैलीगत विशेषता स्थापित करता है। उनके काव्य में उपलब्ध होनेवाले ये समस्त गुण उन्हें हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों की कोटि में बिठा सकने में समर्थ हैं। इनके कवित्तों की तुलना 'सेनापति' और 'भूषण' से विशेष रूप से की जा सकती है। इनकी अलंकार-कुशलता की चर्चा करते समय हम सेनापति के साथ इनकी तुलना करेंगे।

छंद

काव्य और छंद : भावों के उत्स में कंपन होता है और कंपन से लय का सृजन होता है। यदि भाव शब्दों में व्यक्त होता है तो भाव को तरंगायित करने वाली लय छंद को जन्म देती है। बिना भाव के कविता संभव नहीं होती, इसलिए छंद भी कविता का अनिवार्य अंग है। छंद की मान्यता के सम्बन्ध में महर्षि अरविन्द के शब्दों को उद्धृत करना यहाँ अनुपयुक्त न होगा—"मेरे विचार में यह समझना बड़ी भारी भूल है कि छंद या तुक कृत्रिम तत्त्व है, केवल बाह्य और निस्सार साज-सामग्री है जो काव्यमय रूप की गतिधारा और सत्यता में बाधा डालती है।"[1] छंद शब्द का अर्थ है आच्छादन करना जिस प्रकार ब्रह्म को सांख्य की प्रकृति या वेदान्त की माया प्रकट करती है, उसी प्रकार का अभिप्राय काव्य-शरीरी को प्रकट करने मे छंद से ग्रहण किया गया है।[2] छन्द में ही सारा 'नाम रूपात्मक जगत् बँधा हुआ है, (वह) आत्मा और प्रजापति को आवृत कर लेता है'[3] अतएव मानना पड़ता है कि कविता और छन्द का शाश्वत साहचर्य है।

भिन्न प्रकार के भावों में एक-सा कम्पन नहीं होता, परिणामस्वरूप उनकी लयों में अन्तर पड़ जाता है। यही कारण है कि विभिन्न भावों को बाँधने और प्रकट करनेवाले छन्दों में भावों के अनुरूप भेद हो जाते है। भावास्वाद रसात्मक होता है और संप्रयुक्त छंद रसास्वाद के साधक होते है। इन्हीं सब कारणों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में पाई जानेवाली अपार और वैविध्यपूर्ण छन्द-सम्पत्ति रस और भाव आदि की अनुरूपता के लिए ही उद्‌भावित की गई है। गोस्वामीजी की निम्न चौपाई में इसका संकेत मिलता है :

'भाव-भेद-रस भेद अपारा, कवित दोष गुन विविध प्रकारा"[4]

रस और भाव की दृष्टि से 'कवित्त' का विविध प्रकार से गुण-दोष विचार किया जाता है। ध्यान रहे 'कवित' या कवित्त छन्द मात्र के लिए प्रयुक्त होता रहा है और यहाँ तुलसीदासजी का अभिप्राय छन्द से ही है। कविता के आन्तरिक पक्ष को व्यक्त करने के लिए यदि कवि के पास समर्थ भाषा है तो सम्पूर्ण आन्तरिक सूक्ष्मताओं एवं लय-भंगिमाओं को रूप देने के लिए छन्द की सहायता भी अनिवार्य होती है।

---

१. अरविन्द-३, पृ० १६१, त्रयमासिक आलोचना के आलोचानांक, पृ० २२३ में उद्धृत
२. वैदिक दर्शन, पृ० १८२
३. ऐ० आ० २,१६ ऐ० आ०
४. मानस०

यों भाव की स्थिति किसी न किसी रूप में मनुष्य के प्रत्येक चिन्तन और उसकी प्रत्येक क्रिया के पीछे निश्चित रूपेण रहती है, इसीलिए हर अभिव्यक्ति में किसी न किसी परिमाण में 'लय' खोजी जा सकती है। वैसे तो समाचारपत्रों के गद्य को भी कुछ लोग गाकर दिखा देते है। परन्तु कविता के छन्द में स्वर तथा लय का नियमन रहता है, उसकी गति पर नियंत्रण रहता है, आरोह-अवरोह का एक मानदण्ड रहता है। बिना इन सब अंगों के कविता श्रीहीन प्रतीत होगी।

वास्तव में छन्द भाव सत्ता का वाह्य अनुमापक होता है। अतः कह सकते हैं, छन्द के विधान से भाव-विधान का उत्कर्ष-साधन होता है। भावों का संस्कार एवं परिष्कार करके उनमें एकस्तरीयता स्थापित की जाती है। छन्द के ऐसे ही सामर्थ्य के कारण कवि के भावों को आकार देने और संतुलित करने की शक्ति उसके छन्द प्रयागों द्वारा ही आँकी जा सकती है। इतना ही नहीं, उसका अनुमापन भी इसी आधार पर किया जा सकता है।

प्रत्येक युग में कुछ विशेष छन्द प्रचलित रहे : रीतिकालीन कवियों के सामान्य प्रयोग में आनेवाले छन्दों की संख्या लगभग निश्चित थी। यद्यपि यह ठीक है कि इस सीमा के कारण रीतिकाल की कुछ सम्भावनाओं को आघात हुआ है परन्तु यह स्मरणीय है कि स्वयं कविता के इतिहास से यह तथ्य विज्ञापित होता है कि प्रत्येक युग की भाव-चेतना को वहन करनेवाले उस युग के कुछ विशेष छन्द रहे है। सिद्धों, नाथों, संतों, भक्तों और वीरगाथा काल के कवियों का वास्तविक काव्य-वैभव उनके समय में कुछ विशेष मान्यता-प्राप्त छन्दों में ही आकलित हुआ है। उसी प्रकार रीतिकाल के वातावरण में 'कवित्त' और 'सवैया' को अन्य सभी छन्दों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कवित्त' और 'सवैया' को व्रज भाषा का अपना छन्द माना है।[1] यहाँ हम केवल कवित्त की ही चर्चा करेंगे क्योंकि हमारे आलोच्य कवि भगवंतराय का यह सर्व-प्रिय छन्द था। उनकी जितनी भी रचनायें मिलती है उनमें एक सवैया छन्द है, शेष सभी कवित्त छन्द में है। उनके साहित्यिक सृजन में भी इसी छन्द की प्रमुखता थी यह उनके दो सम्भावित ग्रन्थों के नाम 'कवित्त रामायण' और 'कवित्त सागर' से भी प्रकट होता है।

कवित अथवा कवित्त

यह वर्ण-वृत्त[2] है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई आचार्यों ने विचार किया

---

१. आदिकाल पृ० ११०

२ दे० कविना० पृ० २५

है पर ठीक-ठीक समय नहीं निर्धारित कर सके। डा० नगेन्द्र पल्लव की भूमिका में पन्तजी के मत से बहुत अंशों में सहमति प्रकट करते हुए राजदरबारों में भाटों द्वारा इसका प्रथम प्रयोग स्वीकार करते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि तुलसीदासजी के समय तक यह खूब प्रचलित हो गया होगा तभी उनके काव्य में इसका निखरा हुआ रूप प्राप्त होता है।[१] इसके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है "कुछ कलाविदों की सम्मति में घनाक्षरी कवित्त हिन्दी का औरस पुत्र न होकर पोष्य पुत्र है"[२] परन्तु 'परिमल' की भूमिका में 'निराला'जी ने लिखा है "यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाये तो वह यही होगा।" 'निराला'जी की इस मान्यता को देखते हुए सम्भव जान पड़ता है कि ब्रजभाषा पर यह टिप्पणी करते समय उनके ध्यान में यह 'कवित्त' छन्द भी रहा होगा। "ब्रजभाषा में भाषाजन्य जीवन था, जो बुद्ध के बाद के संस्कृत कवि और दार्शनिकों में नहीं और यही जातीय जीवन भाषा की प्राण-शक्ति होती है।"[३] कवित्त छन्द की विशदता और उसकी गुरुता आदि विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए 'निराला' जी का यह कथन सारगर्भित लगता है। 'ध्रुपद' की गायिकियों के लिए इसकी सर्वाधिक अनुरूपता भी इसका महत्त्व प्रतिपादित करती है क्योंकि 'ध्रुपद' भारतीय संगीत का उत्कर्षपूर्ण विकास है। सम्यक् रीति से विचार करने पर यद्यपि संस्कृत के अनुष्टुप छन्द के साथ इसकी पूर्ण संगति नहीं सिद्ध होती परन्तु दोनों की असंबद्धता भी नहीं प्रकट होती। अनुष्टुप छन्द के कुछ तत्त्वों का निश्चित रूप से इसके अन्तर्गत सन्निवेश[४] हुआ है। 'कवित्त' ध्रुपद के सर्वाधिक अनुकूल है और गायिकों के कुछ रागों के लिए तो यह एक मात्र छन्द है। ध्रुपद गवैयों के घरानों में चली आती अनुश्रुतियों के अनुसार इस छन्द का आविर्भाव ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के आसपास ही हो गया था। परन्तु इस अनुश्रुति की परीक्षोपरान्त ही मान्यता हो सकती है। सम्भव है संस्कृत के अनुष्टुप छन्द में भारतीय संगीत के स्वरों का भी सन्निवेश करके इसे पहले संगीतज्ञों ने अपनाया हो, तत्पश्चात् इसकी प्रभविष्णुता के कारण इसे कवि-समाज ने ग्रहण कर लिया हो। इसका 'कवित्त' नाम पड़ना भी एक सम्मान का विषय जान पड़ता है। कविता के संपूर्ण संभार को 'कविताई' कहते है। इस प्रकार जो कविताई को दर्शा सके वही कवित्त हुआ। सवैया इसकी गम्भीरता के समक्ष हल्का बैठता है। यह अनुमान किया जा सकता

---

१. आदिकाल० पृ० ११०
२. दे० कविता० पृ० २५२
३. प्रबन्ध प्रतिमा पृ० २७०
४. वृहत् पिंगल पृ० २४०

है, उसमें[1] संगीत का साधारणीकृत रूप है। सवैया में शास्त्रीय विशदता के स्थान पर लोकरुचि की चंचलता और माधुर्य का विशेष संयोग मिलता है। इसीलिए रीतिकाल के स्वतन्त्र या संग्रह ग्रन्थों के नामकरण के समय 'कवित्त' को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। बहुत सम्भव है इसका कारण 'कवित्त' नाम में निहित एक विशिष्टता और गरिमा रही हो जो सवैया के साथ कभी नहीं बँध सकी थी। अतएव इस छन्द को रीतिकाल के अन्य सभी छन्दों का शिरमौर कहा जाना अनुचित न होगा। अपनी इन विशेषताओं के कारण यह छन्द भगवंतराय को सर्वाधिक प्रिय हुआ क्योंकि उनके भावों की गुरुता, गम्भीरता और लय की विशदता अन्य किसी छन्द के अंचल में नहीं बँध सकती थी। उनके लिखे जितने भी कवित्त प्राप्त हैं वे सब ३१ वर्णों में हैं, जिन्हें पिंगल ग्रन्थों में 'मनहर' नाम दिया गया है। उनके इन छन्दों में संगीत की अद्‌भुत योजना है। ध्रुपद के अनुकूल गायिकी में स्वर-ताल और लय की गति पर जो ध्यान दिया जाता है, उसमें स्वरों की आन्तरिक अभिव्यक्ति, रागविशेष पर आधारित रहती है। कुछ राग ऐसे हैं जिनमें ध्रुपद की रचना केवल 'कवित्त' छन्द में ही अनुकूल होती है, यह हम कह आये हैं। उन रागों में से यहाँ बिलावल, अड़ाना और बिहाग के नाम लिये जा सकते हैं। देव का कवित्त छन्द में बिलावल राग का एक ध्रुपद कितना सुन्दर बन पड़ा है—

अंजनी को नंदन, आपतों निरंजन, देव—
रामबान ऐसो समरथ जग आन को ?

भगवंतराय के कवित्तों में संगीत-तत्त्व : भगवंतराय के कवित्त रागों की पूर्णता की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट प्रमाणित होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है :

बदरा न होंहि, दल आये मैन भूपति के,
बुँदिया न होंहि, एरी बान झरलाई है,
दादुर न होंहि, ए नकीब चहुँ ओर बोलै,
मोर ये न होंहि, हाँक सूरन सुनाई है
बकुला न होंहि, सेत धुजा भगवंतसिह
चपला न होंहि, समसेरैं चमकाई है
बालम बिदेस याते बिरहिन मारिब कौं
जुगुनू न होंहि काम अगिनि जगाई है।

१. तुलना कीजिये दे० कविता० पृ० २५३

यह कवित्त मल्हारी राग में है। मल्हारी राग ऋतुवाचक है। इस राग को ऐसे स्वरों में नहीं गाया जा सकता जो प्रातःकाल या सायंकाल गाये जाते हैं। यही इसकी विशेषता है।

प्रस्तुत कवित्त में शुद्धापह्नुति अलंकार है। इसमें एक का निषेध करके दूसरे की स्थापना होती है। निषेध और स्थापना को शब्दों के साथ-साथ लय के माध्यम से भी प्रकट किया गया है। निषेधवाचक पद 'बदरा न होंहि' अवरोह लय में तथा स्थापनावाचक पद 'दल आये मैन भूपति के' आरोह में हैं। भावों की गूढ़ता को लय प्रकट करती है। अभिप्रेत भाव को छन्द-विधान में स्वरों की निबंधना से कवि ने अभिव्यक्ति दी है। इन सूक्ष्मताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि भगवंतराय को स्वर-लय के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोगों से संगीतात्मक पूर्णता को 'छन्द' में प्रकट करने में उल्लेखनीय सफलता मिली है। उनके छन्दों में भाव के उतार-चढ़ाव के साथ यतिविधान भी अत्यन्त कुशलतापूर्ण है। पिंगल के नियमों में बँधकर वे आठ-आठ वर्णों पर ही यति-विधान न करके उसे भाव की प्रेरणा पर निर्भर करते हैं, जिससे यति-वैचित्र्य का समावेश हुआ है। जैसे 'बदरा न होंहि' में छह वर्णों पर यति है तथा 'दल आये मैन भूपति के' में दस वर्णों पर यति है। भाव का प्रवाह छन्द के कारण कहीं बाधित नहीं होता वरन् उत्कर्ष को ही प्राप्त होता है। छन्द इस प्रकार भावोन्मेष में सहायक होता है।

भगवंतराय के छन्दविधान को संगीत के सूक्ष्म तत्त्व महत्ता प्रदान कर सके हैं इसमें संदेह नहीं। ध्रुपद की गूढ़ गायिकी के लिए अपने कवित्तों को जितनी पूर्णता से इन्होंने ढाला है, निश्चय ही वह प्रशंसनीय है।

अलंकार, रीति और गुण

भगवंतराय में अलंकरण प्रवृत्ति : भगवंतराय के काव्य के अनुशीलन से सामान्य रूप से यह धारणा बन जाती है कि वे काव्य में अलंकार-योजना को विशेष महत्त्व देते थे। यों तो रीतिकाल के सभी कवियों की प्रवृत्ति अलंकार-सज्जा की ओर विशेष रूप से उन्मुख थी, पर उनमें भी केशव, जसवंतसिंह आदि कवि इस ओर विशेष प्रवृत्ति रखते थे। अलंकार प्रयोग की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों के दो वर्ग मिलते हैं, एक तो वे थे जो काव्य में अलंकार-योजना को ही सर्वाधिक महत्त्व देते थे, दूसरे अपेक्षाकृत कम। इस दृष्टि से भगवंतराय पर विचार करते समय यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनका विशेष झुकाव किस ओर था, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि वे काव्य में अलंकार-योजना की दृष्टि से बड़े ही कुशल और सफल सिद्ध हुए हैं।

अलंकार शोभासर्जक हैं : अलंकारों का महत्त्व काव्य में लगभग सभी ने स्वीकार किया है। इससे काव्य का उत्कर्ष-सधान होता है एवं कवि का अभीष्ट भाव इनके सहारे अधिक संवेद्य और अधिक स्पष्ट होकर प्रत्यक्ष होता है। अलंकारों को काव्य का 'अनित्य धर्म' माना गया है पर यह नहीं भुलाया जा सकता कि श्रेष्ठ कवियों के काव्य में अलंकारों के ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जो सर्वतोभावेन रस के उपकारक होते हैं। इतना ही नही महाकवियों की रचनाओं में रस और भाव तथा अलंकार में अन्योन्याश्रयत्व रहता है। मानस से एक उदाहरण दिया जा सकता है—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी
मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी
पाप पहार प्रगट............
ढाहत भूप रूप तरु मूला
चली विपति बारिधि अनुकूला[1]

गोस्वामीजी ने इस शक्तिशाली रूपक के प्रयोग द्वारा अपने अभिप्रेत भाव को ऐसा मूर्त्त रूप दिया है, जो किसी अन्य अभिव्यक्ति-प्रकार से सम्भव नहीं प्रतीत होता। सिद्धान्ततः अलंकार भले ही काव्यगत सौंदर्य के 'अनित्य धर्म' माने जायें, पर इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने रूपक को 'नित्य धर्म' के स्तर तक पहुँचा दिया है। यह रूपक काव्य-शोभा का सर्जन करता है, केवल श्रीवृद्धि नहीं। अलंकारों के कुछ ऐसे ही उच्चस्तरीय प्रयोग भगवन्तराय में भी मिलते हैं। उनका हनुमानजी के 'नैन वर्णन' का छन्द उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है :

सील भरे सुखद सनेह भरे सोभियत
    जगत उज्यारे प्यारे जानकी के कंता के
कृपा भरे त्रपा भरे निपट निकाई भरे
    रक्षा भरे सांत रस मंडली के रंता के
मनैं भगवंत रीझि खीझि भरे
    भारे रन-रोस तेज भरे खरे रथ अंता के
लक्ष-लक्ष विघन जे तक्षन विडारिवे को
    बन्दौं पिंगलोचन जे रक्ष अक्ष अन्ता के।

इस छन्द में प्रधानता अनुप्रास की है, अर्थालंकार नगण्य है।

अलंकारों के साधु-प्रयोग : अनुप्रासों का विधान ऐसी कुशलता से किया गया

---

१. मानस

है कि उनके द्वारा निर्मित ध्वनियों के आवर्त्त और सभंग स्वर-विस्तार कवि के अभिप्रेत भाव के अनिवार्य अंग बन गये हैं। ध्वनियों के आवर्त्त एक ओर तो कवि के मानस में पुनः-पुनः जागृत होनेवाले हनुमानजी के नेत्रों के ध्यान से उत्पन्न की गई अनुभूति को सुलभ करते हैं तो सभंग स्वर-विस्तार द्वारा कवि के भक्ति-विह्वल चेतोविस्तार की अनुभूति भी सहज प्रेषणीय बन जाती है। सम्भवतः अलंकारों के ऐसे ही प्रयोगों को लक्ष्य करके दण्डी ने 'काव्य शोभा करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'[1] कहा होगा। मम्मट ने कहा है कि कभी-कभी अलंकृति काव्य में नहीं होती पर श्रेष्ठ कवि 'सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[2] जब उसका प्रयोग करते हैं तो वह अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाते हैं तथा गुणों के समान अचल स्थिति प्रतीत होने लगते हैं। भगवंतराय के "नैन बरनन" में कवि-हृदय के भाव-अनुराग, श्रद्धा एवं दैन्य आदि अनुप्रास के सहारे मूर्त्तमान-से हो गये हैं।

शब्दालंकारों के प्रयोग में भगवन्तराय की सफलता और कुशलता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'अनुप्रास' के अनेक **विध प्रयोग** उनके काव्य को प्रभविष्णुता प्रदान करते हैं।

उदाहरण-स्वरूप—

जौलों चक्रधारी चक्र चाह्यो है चलाइबे कौ
तौलो ग्राह-ग्रीव पै अगारु चक्र चलिगो।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'चक्र चाह्यो है चलाइबे कों' में शब्दों की आवृत्ति ध्वनि के आवर्त्त उठाती है। इस प्रकार 'ध्वनि' अर्थ को प्रकट करने में या उसका बोध कराने में सहायक होती है। जिस प्रकार चक्र की गति आवर्त्त बनाती है, उसी प्रकार 'चक्र चाह्यो है चलाइबे कौ' में ध्वनि-तरंगें भी वर्त्तुलाकार उठती है। भगवंतराय की कविता का यह प्रधान गुण है। अंग्रेजी साहित्य में 'ओनो मोटोपिया' —ध्वन्यार्थ व्यंजना—का जो गुण होता है वही भगवंतराय ने अनुप्रास-प्रयोग की कुशलता में प्रमाणित किया है। श्रुत्यानुप्रास के प्रयोग से कर्ण-माधुर्य की सृष्टि की जाती है। मुक्तक रचनाओं का रसास्वादन प्रधान रूप से श्रवण द्वारा ही होता है और इसीलिए काव्यमात्र को आरम्भ में आचार्यों ने 'श्रव्य काव्य' संज्ञा दी थी। चूंकि काव्य विशेषकर मुक्तक का—श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से ही प्रथम सम्पर्क स्थापित होता है, इसलिए कवि के लिए उसे अधिक श्रुतिप्रिय बनाने की समस्या प्रधान रूप से रहती। अलंकार-विधान के अन्तर्गत श्रुत्यानुप्रास द्वारा काव्य को श्रुति-

---

१. काव्यादर्श, २ : १
२. भा० का० शास्त्र, पृ० ७५

मधुर बनाने की सबसे सूक्ष्म और कलात्मक नियोजना सम्भव होती है । इसमें एक ध्वनि बार-बार नहीं आती, पर ऐसी ध्वनियाँ आती हैं, जो एक ही स्थान से उच्चरित होने के कारण ध्वनि-मैत्री का सूक्ष्म और मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रुत्यानुप्रास का सफल नियोजन काव्य की उत्कृष्टता का सहायक होता है। भगवंतराय इसके निर्वाह में सफल हुए है। उनके काव्य के निम्नांकित उदाहरण में देखा जा सकता है कि कवि ने श्रुति-मधुरता को अनुकूल शब्द-प्रयोगों द्वारा कितना अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है—

'दनुज सघन बन दहन कृसानु महा
ओज सो बिराजमान अवतार हर को'

इस उदाहरण में 'त' वर्ग की 'द' और 'न' तथा 'स ध्वनियों की आवृत्ति के द्वारा श्रुतिमधुरता नियोजित की गई है। भगवंतराय के काव्य में ऐसे उदाहरणों की बहुलता है। इस विशेषता का रहस्य भाषा और संगीत पर अधिकार होना प्रतीत होता है। काव्य की यह विशेषता उसे स्मरणीय बनाने में समर्थ होती है एवं रस-बोध के साथ ही अर्थ भी झंकृत कर देती है। भगवंतराय ने श्लेष और श्लेष-पुष्ट उपमा के भी बड़े ही समर्थ प्रयोग किए हैं। हिन्दी के कई श्रेष्ठ कवियों के हृदय में इसकी सिद्धि के लिए ललक रही है। 'केशवदास' और 'सेनापति' के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन अलंकारों में शब्द-प्रयोग द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार काव्याभ्यासी पाठक या श्रोता को थोड़ा-सा प्रयत्न करके अर्थ निकालना पड़ता है। अर्थ को बाँधनेवाली गाँठ के खुल जाने पर मन कवि की कुशलता से अभिभूत हुए बिना नहीं रहता। 'केशव' ने श्लेष-पुष्ट उपमा अलंकार के फेर में जो प्रयास किए है, वे प्रायः बौद्धिक व्यायाम ही प्रतीत होते है, अतः उन्हें काव्य-दृष्टि से अधिक सफल नहीं माना गया। 'पाण्डव की प्रतिमा-सी देखो' छंद का उदाहरण केशव के अलंकार-प्रयोग के भोड़ेपन की दृष्टि से बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ है। 'सेनापति' को इस दृष्टि से विशेष सफलता मिली है। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपनी काव्य-विशिष्टता सिद्ध करने के लिए ही उसकी उद्भावना की थी। दो अर्थों के निर्वाह की कसौटी पर अपने कवित्तों को खरा उतार देने का उन्हें गर्व था :

'सेवक सियापति को, सेनापति कवि सोई
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह को॥'

सेनापति ने बड़ी ही सफलता के साथ इन दो अर्थोंवाले कवित्तों में अर्थ-निर्वाह

---

१. भ० र० पृ०–२

किया है। उनकी समस्त रचनाओं मे ऐसी रचनाओं का परिमाण भी कम नहीं है। यहाँ हम भगवंतराय का एक कवित्त उद्धृत करते हैं जिसमें कवि ने छेकानुप्रास के प्रयोग से अर्थचमत्कार ही नहीं अर्थगौरव की सृष्टि की है। दो-दो ध्वनियों की मैत्री के द्वारा जो छंदानुप्रास की विशेपता है—प्रतिपाद्य अर्थ का बड़ा ही विदग्ध विधान किया है। दो प्रतिपाद्य पक्ष हैं, दो अर्थ हैं और दो-दो ध्वनियों की मैत्री से उसे व्यस्त कराने में कवि ने अत्यधिक कुशलता प्रदर्शित की है। निम्नांकि उदाहरण में 'स', 'म', 'प' और 'र' आदि व्यंजनों की क्रमानुसार आवृत्ति से छन्द में कितनी मधुरता आ गई है यह ध्यान देने योग्य है :

सुजन समाज को प्रगट प्रफुल्लित कै
चूमित मरुत चारु केसरी सुतत है
तारापति परम प्रसन्न रहै जासों सदा
कुमुद सुखेन हरि रिच्छ हितवंत है
भनै भगवंत सीता रामहि भजत नीके
समर सहाय उग्र ओजस अनन्त है
मान गढ़ भंजिवे को महावालधी को वाल
आयो हनुमान जैसे आवत वसंत है।

अब उक्त कवित्त को 'श्लिष्टोपमा' की दृष्टि से देखिये। इसका एक अर्थ वसंत-पक्ष में घटित होता है, दूसरा हनुमान-पक्ष में। लंका-दहन के अवसर पर हनुमान की पूँछ से लाल लपटें निकल रही हैं—वसंत ऋतु में टेसू और सेमल के रक्त वर्ण के पुष्प विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार हनुमान की पूँछ वसंत-ऋतु का प्रतिरूप है। यही से श्लेषगर्भित दोनों अर्थो के सूत्र हाथ लग जाते हैं। वसंत मानियों के मान रूपी गढ़ को भंजित करता है तो हनुमान ने लंका-गढ़ के मान-घमंड को दलित किया है। वसंत ओज (शुक्र) को उग्र करके समर-स्मर की सहायता करता है तो हनुमान अपने हृदय में अनंत ओज (उत्साह) भरकर समर-युद्ध-भूमि के बहुत बड़े सहायक है। उधर वसंत ऋतु में तारापति चन्द्रमा सदैव प्रसन्न रहता है (अधिक उज्ज्वल और प्रकाशयुक्त दिखाई पड़ता है) तो हनुमान से तारापति सुग्रीव प्रसन्न हुए हैं। वसंत के आगमन से कुमुद सुखेन-सुखी हो जाते हैं; अर्थात् खिल उठते हैं, तथा वन-पशु, वन्दर और भालुओं का भी हित-साधन होता है। (फल-फूल होने से उनका उदर भरता है) तो इधर हनुमान से कुमुद, सुखेन और राम-सेना के अन्य वानर-भालुओं का हित-साधन हुआ है। (अर्थात् उनके प्राणों का संकट कटा है) वसंत ऋतु में पवन के संयोग से चारों ओर केसर बिखर जाती है, जिससे सुजन-समाज को हर्ष होता है, तो इधर हनुमान

का लंका-दाहक रूप देखकर राम-पक्ष का समर्थन करने वाले साधु व्यक्तियों को परम आनन्द की प्राप्ति हुई है और सुन्दर केसरी-सुत हनुमान को पवन प्रफुल्लित होकर चूम रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से भगवंतराय के अलंकार-कौशल पर प्रकाश पड़ता है। सेनापति के किसी भी श्रेष्ठ कवित्त के साथ उनके इस कवित्त की तुलना की जा सकती है।

अलंकारों को प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। एक 'भाव सहजात' होते हैं, दूसरे, 'भाव अनुजात'। भाव के ही साथ जब उसी गहराई से अलंकारिकता उद्भूत होती है तथा अभिव्यक्ति को समृद्धि बनाकर उसकी प्रभावोत्पादकता में योगदान करती है तब अलंकार अपने पूर्ण गौरव पर प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार भाव की संवेद्यता में वृद्धि होती है एवं अर्थबोधिनी क्षमता भी अधिक आ जाती है। इस स्थिति में अलंकार 'हारादिवत्' अर्थात आरोपित नहीं होते। ये अलंकार काव्य के अंतरंग के ही व्यक्त अथवा प्रकट रूप होते हैं। और ऐसे ही अलंकारों के प्रयोग किसी कवि की कसौटी होते हैं।

कवि भगवंतराय को ईश्वर की दीनवत्सलता की अभिव्यंजना करनी इष्ट है। दीन के रक्षणार्थ हृदय में उठनेवाली आतुरता प्रत्येक दशा में असामान्य और असाधारण होगी। लोक में घटित होनेवाले साधारण व्यापारों से उस सर्वशक्तिमान के गुणों का बोध नहीं कराया जा सकता। ईश्वर का वह सामान्य स्वभाव भी लोक-दृष्टि में कितना असाधारण होगा! इस असाधारण व्यंजना के लिए कवि को जिस युक्ति का आश्रय लेना पड़ेगा वह लोक में अतिशयोक्ति से भी बढ़कर 'अत्यन्तातिशयोक्ति' होगी।

निम्नांकित उदाहरण में देखिये कि 'अत्यन्तातिशयोक्ति' अलंकार भी भाव के साथ ही उद्भूत हुआ है—

'जौलों चक्रधारी चक्र चाह्यो है चलाइबे कौं
तौलों ग्राह-ग्रीव पै अगारु चक्र चलिगो।'

इसी प्रकार लंकादहन के प्रसंग पर हनुमान की पूंछ ऐसे कौतुक करती है कि अनेक विस्मयकारी भावों का उदय होता है। विस्मय भाव की तीव्रता इतनी अधिक है कि बुद्धि निश्चयात्मक स्थिति मे नहीं पहुँच सकती। अतएव जब वह संदेहात्मक ढंग से कुछ भी कहेगा तो वह हृदयगत भाव की सच्ची अभिव्यक्ति होगी। इस प्रकार स्वाभाविक भाव की सम्प्रेषणीयता बढ़ गई है यह ध्यान देने योग्य है:

रामदल बादल को इन्द्रधनुराजे कैंधों
फहरैं फतूह यों निसान बड़े सान को

कै अपार पारावार नापिबे को दंड कैधों
कै अखंड कालदंड घोर घमसान को।'

इस प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भगवंतराय को अलंकार-प्रयोग में बहुत अधिक सफलता मिली है। उन्हीं के समय में उनकी प्रतिभा प्रमाणित हो चुकी थी। दलपतिराय एवं वंशीधर के 'अलंकार-रत्नाकर' में उदाहरण रूप मे उनके कवित्तों का ग्रहण किया जाना इसे पुष्ट करता है।

गुण

भगवंतराय के काव्य में 'दश' गुणों की स्थिति : अलंकारों के अतिरिक्त भगवंतराय की रचनाओं में समस्त काव्य-गुणों का सुन्दर समावेश है। गुण काव्य के नित्य धर्म कहे गए है। नित्य धर्म का तात्पर्य है कि काव्य की स्थिति में इनकी अनिवार्यता रहती है। इसीलिए रस को काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म कहा है। गुणों के कारण ही चित्त द्रवित, दीप्त और परि-व्याप्त होकर रस-दशा को प्राप्त होता है। इस प्रकार काव्य में गुणों का सन्नि-वेश उसके सिद्धत्व का परिचायक होता है, इसमें दो मत नहीं। यह अवश्य है कि कोई उसे रस का विषय मानते है और कोई शैली का। हिन्दी के दो आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास क्रमश. इन्हीं मान्यताओं के पक्ष में अपने विचार प्रकट कर गये है।

इसके अतिरिक्त गुणों की संख्या नियत करने में भी आचार्यों में मतैक्य नही हुआ। सामान्यतया मम्मट के बताये दश गुणो की मान्यता ही अधिक है। इन दश गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में करके कुछ लोग केवल तीन गुण, माधुर्य, ओज और प्रसाद को ही प्रमुख मान्यता देते है। यहाँ भगवंतराय की रचनाओं में मम्मट के ही बताये दश गुणों का उद्‌घाटन किया गया है।

माधुर्य गुण में आह्लाद और चित्त को द्रवित करने की शक्ति होती है। श्रुति सुखदता, समास-रहित सत्ता और भावमयता के कारण निम्न पंक्तियों में इसका अवलोकन किया जा सकता है :

"जनमन रंजनी है गंजनी विथा की, भय भंजनी नजरि अंजनी के ऍंड़दार की।"

अथवा

"छपा को छपाय छपि जान दे छपाकर को
जाऊँगी कन्हैया पै जुन्हैया नेक जान दे।"

छपा, छपाकर, कन्हैया और जुन्हैया शब्द अत्यन्त मधुर ध्वनिव्यंजक होने के साथ एक वाल-सुलभ तुतलाहट का संकेत एवं उसका भोलापन भी दर्शाते है। माधुर्य

बदरा न होंहि, दल आपे मैन भूपति के
बुंदिया न होंहि, एरी बान झर लाई है।"

उक्त कवित्त में अर्थ को संगीत द्वारा ही सिद्ध किया गया है। इसमें एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में ठीक ढंग से आरोपित किया गया है, यह भी द्रष्टव्य है।

रीति

विषयानुसार रीतियों के प्रयोग : रीति शब्द शैली या मार्ग के विशिष्ट अर्थ में गृहीत है। 'गत्यर्थक रीङ् धातु से करण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होने से रीति शब्द की निष्पत्ति हुई है। भोज की रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा इस प्रकार है— 'रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते' यह रीति गुणों से सम्बन्धित होती है। इसमें शैली तत्व भी निहित रहता है, जो कवि-स्वभाव पर निर्भर करता है। इस प्रकार गुण और पद-रचना को रीति के अंतर्गत मान्यता मिली है। गुण रस के धर्म माने जाते है और पद-रचना तो स्वरूप का निमित्त मात्र होता है। इन्हीं पर आधारित होने के कारण रीति की स्थिति सत्काव्य में अत्यन्त व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। स्वरूप से लेकर आत्मा तक उसकी पैठ रहती है और वह दोनों को प्रभावित करती है, इसीलिए कुछ आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।

रीति का वर्गीकरण करने में भी अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार आचार्यो में मत-वैभिन्य रहा है। सामान्यतया इनकी संख्या तीन मानी जाती है जो वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामों से अभिहित की गई है।

भगवन्तराय की रचनाओं में 'दश गुणों' की स्थिति देखी जा चुकी है, इसलिए उनकी रचनायें एवं गुणलंकृता वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। दण्डी और वामन आदि आचार्यों ने इसे सर्वश्रेष्ठ रीति ठहराया है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी गुणों की स्थिति रहती है।

वैदर्भी रीति के साथ भगवंतराय की रचनाओं में गौड़ी रीति का भी ग्रहण है। वीर, रौद्र और भयानक आदि रसों की निष्पत्ति के लिए कवि को इसका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। सुन्दरकाण्ड के लंकादहन प्रकरण में गौड़ी रीति के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

"संकौ कुंभकरन उदंको हियो रावन को
लंक हहरानी डंका सुने हनुमान को"

इस प्रकार भगवंनराय का काव्य अलंकार, गुण और रीति की सुन्दर और साधु-योजना के कारण कलात्मकता और उत्तमता को प्राप्त करता है।

भाषा

मिश्रित भाषा की परम्परा : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने यह ठीक ही लिखा है कि 'प्राचीनकाल में जो रचनाएँ हिन्दी में हुई उनका विचार साहित्य की दृष्टि से न करके भाषा की दृष्टि से किया गया।'[१] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का आविर्भाव होने के पूर्व अपभ्रंश साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित थी। उसमें साहित्य का निर्माण सं० १०५० तक और उसके बाद भी होता रहा। आचार्य शुक्लजी ने इसे प्राकृताभास हिन्दी कहा है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि जिस प्रकार अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य शौरसेनी अपभ्रंश में है, उसी प्रकार आदिकाल का अधिकांश हिन्दी साहित्य भी शौरसेनी संबलित या व्रजरंजित भाषा में है। इसका कारण यह है कि 'शौरसेनी या मध्यदेशी भाषा का आधार सर्वसामान्य काव्यभाषा में सदा से कुछ न कुछ रहा है। विद्यापति का अवहट्ठ तो शौरसेनी रंजित है ही, उनके गीत भी शौरसेनी संवलित या व्रजरंजित हैं। यही स्थिति सार्वदेशिक थी। कोई रचना हिन्दी के अन्तर्गत क्यों मानी जाय, इसके लिए आधार था उसकी भाषा का व्रजरंजित होना। रासो ग्रन्थों की भाषा व्रजरंजित है, अतः वे हिन्दी के आभोग में ही आते हैं। आचार्य शुक्लजी ने अपभ्रंश की जिन रचनाओं को प्राकृताभास हिन्दी कहा है, उनका सामान्य गुण भी यही है कि वे व्रजरंजित हैं।

आदिकाल के दो कवियों ने अपनी काव्य-भाषा के विषय में संक्षिप्त निर्देश दिए हैं—उनमें एक हैं चन्द और दूसरे विद्यापति। विद्यापति अपनी भाषा के विषय में लिखते हैं—

> **वालचंद विज्जावइ भाषा इनहिं न लग्गइ दुज्जन हासा।**
> **देसिल वयना सबजन मिट्ठा मैं तैसन जंपइ अवहट्ठा।**

विद्यापति का अवहट्ठा शौरसेनी अथवा व्रजरंजित है, यह पहले बताया जा चुका है। पर चन्द ने स्वयं रासो की भाषा के सम्बन्ध में एक समस्यामूलक कथन किया है जो इस प्रकार है :

> **उक्ति धर्मविशालस्य राजनीति नवं रसाः।**
> **षडभाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया॥**

चन्द का कहना है कि रासो में समाविष्ट धर्म, राजनीति नवरस, पुराण और कुरान की ये उक्तियाँ षड्भाषा में कही गई हैं। ये षड्भाषा कौन है ? श्री सूर्यमल्ल बारहट ने वंशभास्कर में 'षड्भाषा' का निर्माण करते हुए संस्कृत प्राकृत

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम खण्ड, पृ० ३१
२. हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम खण्ड, पृ० ३१

(महाराष्ट्री) व्रजभाषा (शौरसेनी) अपभ्रंश और पैशाची का नाम लिया है। छठी भाषा का नाम वे छोड़ गए है, शायद उसका निर्धारण वे नही कर सके। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है कि रासो की छ: भाषाओ मे से पाँच है—संस्कृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री, शौरसेनी और पैशाची। चन्द की छठी भाषा के संबध में वे लिखते है कि उनकी छठी भाषा या तो फारसी हो सकती है या डिंगल। फारसी के अनुमान का कारण है उपयुक्त श्लोक का कुरान शब्द, और डिंगल के अनुमान का कारण उसमें प्रयुक्त डिंगल के अनेक शब्द और प्रयोग। रत्नाकरजी का कहना है कि "अपने महाकाव्य में प्रतिष्ठित करके जिस भाषा को चन्द ने राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा कहलाने का गौरव प्रदान किया वह छ: भाषाओं संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय, अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं के मेल से बनी थी। अतः वह षड्भाषा कहलाती थी।" (कविवर बिहारी, पृ० ३६)

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि आदिकाल के कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्य की भाषा के दो मुख्य कारण हैं—(१) व्रजरंजितता (२) मिश्रित रूप। दूसरी विशेषता अर्थात् मिश्रित भाषा के प्रयोग की परम्परा भक्तिकाल मे भी बराबर चलती रहती है। भिखारीदासजी ने तो कहा है—

> **तुलसी गंग दुवो भये सुकबिन के सरदार।**
> **इनकी कविता में मिले भाषा विविध प्रकार।**

तुलसी और गंग की ही भाषा मे नही वरन् सूरदास की भाषा भी इस मिश्रण से अतीत नही है। उन्हे 'तत्सम, अर्द्ध तत्सम, तद्भव, देशज, देशी-विदेशी, नये-पुराने, किसी भी शब्द से काम लेने में संकोच नही' पर सूरदास की भाषा में तुलसी की अपेक्षा भाषा का मिश्रण कम है।'

भक्तिकाल में व्रजभाषा मे अन्य अनेक प्रान्तीय शब्द तथा रूप सम्मिलित हो गये, जिससे वह बड़ी ललित और व्यापक भाषा बन गई। व्रज प्रान्त की बोलचाल की भाषा की अपेक्षा उसका रूप विलक्षण हो गया। इसका सकेत भिखारीदास के इस कथन मे निहित है :

> **व्रज भाषा हेत व्रज बास ही न अनुमानों**
> **ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सो जानिये**

दासजी ने रीतिकालीन काव्य-भाषा के आदर्श का निरूपण करते हुए लिखा है :

---

१. सूर की भाषा, पृ० ५७६

भाषा व्रज भाषा रुचिर, कहै सुकवि सब कोइ
मिले संस्कृत पारसिहुँ, पै अति प्रगट जु होइ
व्रज मागधी मिले अमर नाग जमनि भाषानि
सहज पारसीं हूँ मिले, षट विधि कवित वखानि

इसका अर्थ करते हुए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—'व्रज (शौरसेनी) मागधी (अवधी) अमर (संस्कृत) नाग (अपभ्रंश) जमन (खड़ी) और पारसी (फ़ारसी) ये षट् भाषाएँ व्रजभाषा में मिलती है। पर संस्कृत या अरबी-फारसी बहुत प्रकट (प्रचलित) ही मिलती है। पारसी के साथ सहज की शर्त लगी है, पर 'जमन' के साथ नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'जमन' से कोई दूसरी भाषा अभिप्रेत है। इसलिए 'जमन' भाषा का अर्थ पैशाची या खड़ी बोली जान पड़ता है।'[1] इससे यह सिद्ध होता है कि रीतिकाल में भी व्रजभाषा में अनेक भाषाओं के शब्दों को मिलाकर लिखने का आदर्श कवियो के सामने था। दास भी चन्द की तरह षड्भाषा आदर्श के प्रकार-भेद के समर्थक प्रतीत होते है। यह मिश्रित भाषा का आदर्श बहुत व्यापक हो गया था। राजस्थानी कवि श्री स्वरूप-दास ने अपनी 'पांडव यशेन्दु चंद्रिका' में लिखा है :

पिंगला डिंगला संस्कृत सब समझन के काजा।
मिश्रित सी भाषा कही क्षमा करहु कविराजा।

इस प्रकार हम देखते है कि रीतिकाल तक पहुँचते-पहुँचते मिश्रित भाषा लिखने की परम्परा सुप्रतिष्ठित हो गई है। भगवन्तराय और उनके मंडल के कवि भाषा की दृष्टि से इसी सीमा के भीतर आते है। मिश्रित भाषा लिखने से हिन्दी के शब्दकोष की वृद्धि हुई और उसकी अभिव्यंजना शक्ति भी समृद्ध हुई। पर मिश्रित भाषा लिखने का जोश इस सीमा तक पहुँच गया कि कवियो ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा, उनके कारकचिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौन्दर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धान्त के अनुसार नही। करना के भूतकाल के लिए वे छन्द की आवश्यकता के अनुसार 'कियो' 'कीनो' 'कर्‌यो' 'करियो' 'कीन' यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता प्राप्त न हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है।[2]

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० ६६
२. हिन्दी इतिहास, पृ० २२२

भगवंतराय की भाषा में मिश्रण और शब्दों की तोड़-मरोड़ : भगवन्तराय की भाषा में उस परिमार्जन का स्पष्ट अभाव दिखता है जिसकी ओर शुक्लजी ने संकेत किया है। उन्होंने छन्द के आग्रह से शब्दों को मनमानी रीति से तोड़ा है। लाज का 'लाजिनो', भजन का 'भाजिनो', अंतक के 'अंता' आदि रूप गढ़ लिये गए हैं। उनका यह सवैया शब्दों के तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण होगा—

कट्टरो ताजिनो वीनना वाजिनो
भिक्षु कै लाजिनो भाजियो देवा
पूस पास में फूस को तापनो
भूत को जापनो झांझरी खेवा

आवश्यकतानुमार उन्होंने शब्दों को स्फीत और संकुचित भी किया है, जैसे खल-भल्ला, दहल्ला को स्फीत किया है तथा कुद्ध और 'टंका' को संकुचित।

यह कहा जा चुका है कि अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग हिन्दी काव्य में भक्तिकाल से ही होने लगा था। रीतिकाल में वह बढ़ा। भगवन्तराय की भाषा में प्रयुक्त अरबी के नजरि, फतूह, साहिबी और नकीब तथा फारसी के ताजी, समसेर, रुख़ आदि शब्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने इनका प्रयोग खुलकर किया है।

विदेशी भाषा के शब्दों के अतिरिक्त उनकी भाषा में क्षेत्रीय भाषाओं के शब्द भी प्राय: मिलते हैं, जैसे हहलानी, वहेल्ला, तिरहारी बोली के प्रयोग है और 'अवाती' तथा 'ताती' का रूप बघेली के अनुरूप है। उनकी भाषा में देशज शब्दों की काफी बड़ी संख्या है पर उन्होंने इनके प्रयोग से अर्थव्यक्ति और भाषा की व्यंजनात्मकता का अच्छा परिचय दिया है। अतः इससे उनकी भाषा में जीवन्तता आ गई है; जैसे :

'भई लंक ज्यों वहेल्ला होत रावण मुहल्ला पर हल्ला हनुमान को'

तिरहार में वहेल्ला उन गाय-भैंसों के लिए प्रयुक्त होता है जो बनाती नहीं। वहेल्ला संबोधन स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने पर गाली हो जाता है। भगवंतराय ने इस शब्द का प्रयोग लंका के लिए किया है। लंका के निपूती होने का अर्थ है कि वह वीर-विहीन है। अनाथ है। यदि उसके कोई वीर पुत्र होता तो क्या अपने देखते यह दुर्गति होने देता। स्पष्ट है कि इस शब्द के द्वारा बहुत अधिक व्यंजकता आ गई है। ऐसे प्रयोग कवि की सामर्थ्य के द्योतक हैं।

मुहावरे : शब्दों के अतिरिक्त उनकी भाषा की व्यंजना-शक्ति मुहावरों के प्रयोग से भी बढ़ गई है। यद्यपि भाव एवं विषय की उदारता तथा धार्मिक

वातावरण के कारण भाषा में लोकोक्तियों के प्रवेश की अधिक गुंजाइश नहीं रहती। परन्तु भगवन्तराय ने उदात्त भाव-भूमि के काव्य में भी मुहावरों के प्रयोग किए हैं। थोड़े से ही छन्दों में इनकी पर्याप्तता सिद्ध करती है कि इस कवि की भाषा मुहावरों के कारण अत्यन्त व्यंजक एवं परिपुष्ट थी। 'नजर का सूधी होना' कृपालुता के लिए कहा जाता है। 'एड़दार' उस वीर के लिए कहा जाता है, जिसे बाधाएँ नहीं रोक पातीं और जो अपनी आन का पक्का हो। स्तुति के छन्द में ही इसका प्रयोग देखिये :—

…सूधीं होत जेहि ओर देत साहिबी समृद्धि
सूझि परत उदार की

तथा

उदार एड़दार सरदार कपिगन को

भगवन्तराय की भाषा का स्थान : भगवन्तराय की भाषा में व्याकरण और अन्वय दोष भी हैं। क्रिया और कर्त्ता में कभी-कभी इतनी दूरी आ जाती है कि अर्थ में कठिनाई पड़ती है, पर उनकी भाषा में शब्दों की मनमानी तोड़-मरोड़ सबसे अधिक है। शब्दों के एसे स्वच्छन्द प्रयोगों के लिए भूषण और देव का नाम प्रसिद्ध है। इनकी भाषा भी इन्हीं दोनों कवियों की अनुगता होने के लक्षण प्रकट करती है। सब मिलाकर इनकी भाषा एक ओर जहाँ दोषपूर्ण है वहीं उसकी महत्वपूर्ण विशेषतायें भी प्रकट होती हैं। इस प्रसंग में इस तरह की गड़बड़ी के मूल में कवियों का असामर्थ्य उतना काम नहीं कर रहा था जितना व्याकरणिक व्यवस्था का अभाव। जहाँ कहीं सचेत होकर उन्होंने भाषा का व्यवहार किया है, वहाँ की पदावली प्रायः प्रसन्न और व्यवस्थित दिखाई पड़ती है।[1] यह कथन ऐसा लगता है जैसे इन्हीं की भाषा को लक्ष्य करके कहा गया हो। मिली-जुली खिचड़ी भाषा का आदर्श हिन्दी के आदिकाल से ही चलने लगा था और वही मान्यता रीतिकाल में भी बनी रही। भगवन्तराय उसके अपवाद नहीं हो सके। परन्तु इसके साथ-साथ शब्दों के मनमाने प्रयोग से अर्थ समझने में कठिनाई पड़ती है। जहाँ-जहाँ यह स्खलन है वहाँ प्रवाह और अर्थ में गाँठें पड़ गई हैं। इस दोष के कारण काव्य के रसास्वाद में बाधा और अर्थ निकालने में बड़ा आयास और अनुमान का पल्ला पकड़ना पड़ता है। दुहराने की आवश्यकता नहीं कि उनकी भाषा का आदर्श देव और भूषण के अनुरूप है।

---

१. बृहत इतिहास, भाग ६, पृष्ठ २७२

नीतिपरक रचना

नीति और काव्य : भक्ति और श्रृंगार की धाराओं के अतिरिक्त भगवन्तराय ने नीति-विषय को भी छन्दोबद्ध किया है। 'नीति' जीवन के व्यवहार पक्ष से सम्बन्धित विषय है। यह शब्द 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है ले जाना, पथ दिखाना इत्यादि। समाज-मंगल के लिए ऐसे साहित्य की उदभावना अतीत काल से निरन्तर चली आ रही है। अधिकांश विद्वान इसे काव्य-क्षेत्र से परे का विषय मानते हैं, किन्तु यह धारणा पूर्णत. नहीं स्वीकार की जा सकती। स्वयं हिन्दी का कुछ नीतिसाहित्य काव्य दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। वास्तव में इसका रहस्य यह है कि कविता विषय-वस्तु से ही नहीं, अभिव्यक्ति से विशेष सम्बन्ध रखती है। साधारण से साधारण विषय को भी अभिव्यक्तिक्षमता के कारण कवि उत्कृष्ट काव्य बना देते हैं। कवियों के व्यक्तिगत जीवन की कड़वी-मीठी अनुभूतियाँ और तीखी संवेदनायें जब हृदय की गहराई में रस-रिक्त होकर अभिव्यक्त होती हैं, उस समय काव्यात्मक सरसता उनमें ओत-प्रोत हो जाती है। तुलसी और रहीम के नीति-विषयक अनेक दोहे इस विशेषता से मंडित होकर काव्य की निधि बन गए हैं। इस इंगित से यहाँ हमारा प्रयोजन इतना ही है कि 'नीति' को कथ्य बनाकर भी श्रेष्ठ काव्य की रचना हुई है; और हो सकती है। नीति-काव्य के कर्त्ता में कुछ विशेषतायें होती है। वह एकान्त जीवन की अपेक्षा सामाजिकता की ओर अधिक उन्मुख होता है तथा लोक के कार्य-व्यापारों को महत्व देता है एवं उनमें रुचि रखता है। इसके अतिरिक्त वह जीवन के संघर्ष-काल में प्राप्त अपने अनुभवों को परवर्ती पीढियों के पथ-प्रदर्शन-हेतु छोड़ जाना चाहता है जिससे जन-समाज की कठिनाइयों से रक्षा हो सके। ऐसे कवि में लोकदृष्टि और लोक-संग्रह का भाव प्रमुख रूप से रहता है। नीतिकार अपना और अपने समाज का अन्तः-प्रेक्षण करता है। यह ठीक है कि उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और बहुधा यह प्रवृत्ति निराशा या पराङ्मुखता की अवस्था में बनती है परन्तु नीतिकार स्वयं को अपनी परिस्थितियों और अपने समाज को समझना चाहता है यह उसकी जीवन्तता का चिह्न भी हो सकता है।

सिद्धान्त और अनुभव पक्ष : चूंकि नीति सम्बन्धी रचनायें कवि के व्यक्तित्व, उसके अनुभव और उसकी मान्यताओं एवं उनकी लोक-जीवन सम्बन्धी धारणाओं की पृष्ठभूमि पर निर्मित होती हैं इसलिए भगवन्तराय के नीति छन्द का महत्व बढ़ जाता है। इसके आधार पर हम अपने निष्कर्षों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है कि भगवन्तराय में—

(क) जीवन-संघर्ष और उसके परिणामों पर विचार करने की अंतश्चेतना थी।

(ख) अनुभवों की सम्पन्नता और उसे लोकग्राही रूप में व्यक्त करने की क्षमता थी और था :—

(ग) लोक-हित का भाव।

इन सामान्य निष्कर्षों के अतिरिक्त भगवन्तराय के व्यक्तिगत जीवन पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है जैसे वे तुलसी के समान रामभक्त थे। राम के विमुख लोगों का उनके निकट कोई स्थान न था। साधु-जनों की सम्पत्ति के अपहरण को वे जघन्य पातक मानते थे एवं गीता के वचनों की भाँति 'स्वधर्मं निधनं श्रेयः' के सिद्धान्त के मानने वाले थे। नीचे हम उनके नीति-सवैये को उद्धृत करते हैं :

कट्टरो ताजिनो वीनिना वाजनो भिक्षुकै लाजिनो भाजिनो देवा
पूस के मास में फूस को तापनो भूत को जापनो भाँझरी खेवा
कहै भगवंत इते नहिं काम के, राम के नाम को होहिं न लेवा
साधु को लूटनो धर्म को छूटनो, धूम को घूटनो सूम की सेवा

आलोचना : नीति-काव्य भारतीय साहित्य की अपनी विशेपता है। संस्कृत, पाली और प्राकृत आदि भाषाओं की आदिकालीन परम्परा का हिन्दी-साहित्य में भी ग्रहण हुआ है और सिद्धनाथ तथा सन्तों की वाणियों से अपने को विभूषित किया है। तुलसी और रहीम ने तो सचमुच उसे काव्यात्मक गहराई प्रदान की है। हिन्दी के सम्पूर्ण नीतिकाव्य को शैली की दृष्टि से प्रमुखतः उपदेश, अन्योक्ति और सूक्ति—इन तीन शैलियों में अलग किया जा सकता है।

काव्य की दृष्टि से इन तीनों ही शैलियों में उपदेश का स्थान सबसे निम्न है। बाबा दीनदयाल आदि की चर्चा करते समय हृदय की अनुभूति की दुर्बलता के कारण ही आचार्य शुक्ल ने उन्हें सूक्तिकार तथा दूसरे जो उपदेश मात्र देते हैं, उन्हें केवल 'पद्यकार' कहा है। अन्योक्ति शैली उपदेश शैली की अपेक्षा सरस होती है क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति अलंकारिक होने के कारण प्रभावशली और मुग्धकारी हो जाती है। नीतिकाव्य का श्रेष्ठतम रूप सूक्तियों में दृष्टिगोचर होता है जहाँ कवि उपदेश को वाग्वैदग्ध्य के सहारे प्रकट करता है। कबीर तुलसी और रहीम तथा वृन्द आदि कवियों की अनेक रचनायें इस कोटि में आती हैं। भगवंतराय के उपर्युक्त छन्द में वाग्वैदग्ध्य नहीं है। सामान्यतया उसे उपदेश शैली के अंतर्गत रखा जायेगा। कवि ने सीधे-सादे ढंग से अपने हृदय के भावों और परम्परानुभूत निष्कर्षों को

१. हि० इतिहास, पृ० ३८७

प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु इतना अवश्य है कि लोक में अत्यधिक प्रचलित मत्तगयंद सवैया, छन्द में श्रुत्यानुप्रासों के योग से पूरे कथ्य को गेयता और श्रुति-मधुरता प्रदान करने में सफलता पायी है। साधारण लोगों के लिए सीधी-सादी बात जिसे वे समझ लें और आसानी से स्मरण कर ले, अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। पर इस छन्द के काव्योपदानों के महत्व से भी बढ़कर प्रत्यक्ष होने वाली बात है कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशन। भगवंतराय के विचारों और उनके मानसिक गठन की इस छन्द में झलक दिखाई देती है, एवं उनकी लोक-संपृक्त चिन्तनप्रवृत्ति का प्रकाशन भी हो जाता है। यही इसकी विशेषता है। नीति-साहित्य वास्तव में अपने कर्त्ता के जीवन व विचारपक्ष को ही सबसे अधिक प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से उसका महत्व कभी भी न्यून नहीं किया जा सकता।

संगीत

संगीत की प्राचीन परम्परा ग्रहण : भगवंतराय जीवन की अनेक उदात्त साधनाओं में प्रवृत्त थे। संगीत उनमें से एक है। संगीत की साधना को भारतीय संस्कृति में बहुत ऊंचा पद दिया गया है।[१] नाद ही ब्रह्म का व्यक्त रूप बताया गया है। यह जगत शब्द का या नाद का ही परिणाम है।[२] नाद ब्रह्म की उपासना में मुक्ति मिलती है।[३] संगीत की शक्ति अपार है। शिव के लास्य और ताण्डव नृत्यों में भारतीयों ने सृष्टि और प्रलय होने की कल्पना की है इसका लाक्षणिक अर्थ यही लिया जा सकता है कि संगीत की शक्ति को हमारे यहाँ अपार और सर्वोपरि माना गया है। संगीत के अधिष्ठाता और आचार्य रूप में अनेक देवी-देवता, ऋषि तथा पुण्यश्लोक राजाओं के नाम पुराणेतिहासों में प्रसिद्ध है।

मध्यकाल के हिन्दी भक्त कवियों ने भक्ति के प्रचार और हिन्दू जाति मे आत्मविश्वास बनाये रखने के लिए संगीत का ही सहारा लिया था। भक्तों का अधिकांश साहित्य पदावलियों में है जो राग-रागिनियों में रचा गया है। इन राग-

---

१. चैतन्यंसर्वभूतानां विवृतं जगदात्मनां। नाद ब्रह्म तदानन्द मद्वितीयमुपास्यहे नादोपासनया देवा ब्रह्म विष्णु महेश्वरा:। भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेने तदात्मका: — प्रणव भारती, पृ० ३

२. शब्दस्य परिणामोऽयमित्यान्यायविदो विद: — प्रणव भारती, पृ० ४

३. वीणावादन तत्वज्ञ : श्रुति जाति विशारद: ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्ष मार्ग निगच्छति। — याज्ञवल्क्य स्मृति० ३।११५

रागिनियों के माध्यम से भक्त अपने संदेश को सामान्य जनता के हृदय के अधिकाधिक निकट पहुँचा सके। यह उनकी दूरदर्शिता का ही परिणाम था क्योंकि संगीत का प्रभाव सीधे हृदय पर पड़ता है। इस भक्तियुग में संगीत के कारण जातीय जीवन में सरसता और माधुर्य की स्रोतस्विनी प्रवाहित रही और हमारा भावलोक सरस तथा स्फूर्तिमय बना रहा है। भगवंतराय का संगीत उसी भारतीय परम्परा से अनुप्राणित है। वे उसे विजातीय प्रभाववश केवल मनोरंजन और मनबहलाव तक ही न सीमित कर संगीत को आत्म-विकास, आत्मोत्थान एवं आत्मोद्धार का साधन मानते थे।

प्राप्त सामग्री (कोष्टक और ध्रुपद)

श्री भरत व्यास को छतरपुर के लाली गुरु से भगवंतराय का बनाया हुआ राग-रागिनियों का कोष्टक मिला है। कोष्टक के आरंभ वचन हैं—'कोष्टक श्रीमन्त बलवंत महाराजधिप श्री भगवंतराय वीरवर'—इसमें ६ रागों तथा तीस रागिनियों का वर्गीकरण है। इसमें पहले रागों का परिचय और उनकी सिद्धि के लिए ऋतु और समय का विधान बताया गया है। राग की सिद्धि के पश्चात् उसकी रागि-नियों की सिद्धि के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था बताई है। राग-रागिनियों की सिद्धि की धारणा बहुत प्राचीन काल से मान्य रही है जिसका इस कोष्टक में उल्लेख अथवा उद्धार किया गया है।

हमारे देश की तान्त्रिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक रागिनी की सिद्धि के लिए नक्षत्रों के विशेष योग की अनुकूलता को अनिवार्य माना गया है। नक्षत्रों के योग और रागिनियों की सिद्धि की पृष्ठभूमि में तंत्रशास्त्रों का ही प्रभाव है जो भगवंतराय पर भी पड़ा। अनुश्रुतियों के अनुसार उनकी शक्ति सिद्धियों पर आश्रित थी।[1] कहा नहीं जा सकता कि इसमें सत्यता अथवा वैज्ञानिकता का कितना अंश है।

भगवंतराय के कोष्टक के अनुसार राग और ऋतु का निकट सम्बन्ध है। जिस ऋतु का जो राग है वह उसी ऋतु में सिद्ध किया जा सकता है। ऋतु में भी रागों का समय निश्चित रहता है। राग-सिद्धि के पश्चात् उनकी रागिनियों की सिद्धी की जाती है। ये रागिनियाँ ज्योतिष के अट्ठाइस नक्षत्रों से सम्बन्धित हैं और प्रत्येक राग की अलग-अलग रागिनियों के लिए उन्होंने इन नक्षत्रों की अनु-कूलता का विधान सामने रखा है। वर्गीकरण का स्वरूप समझने के लिए मालकोश-राग एवं उसकी ५ रागिनियों का वर्गीकरण यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

१. दूसरा अध्याय (भगवंतराय की जीवनी) देखें।

मालकोश	पार्वती के मुख से निकला	मध्य स्वर इसकी सिद्धि है	ऋतु शिशिर	समय सूर्योदय	दो नायक धीरोदात्त दक्षिण

इसकी सिद्धि कृत्तिका और भरणी में होती है

टोड़ी	दिनका प्रथम प्रहर	नायक वीर शांत	परकीया कन्या मध्य यौवना	नक्षत्र मृगशिरा	
गौरी	दिन का अंत	धीरललित	स्वकीया मध्या प्रौढ़ यौवना प्रोषित भर्तृका	आर्द्रा नक्षत्र	
गुण कली	रात्रि का अंत	धीरोदात्त	मुग्धा मानमृदु अभिसारिका	पुनर्वसु और रोहिणी	
खंभावती	मध्यरात्रि	धीरललित	स्वकीया विरहोत्कंठिता सामान्य वासक सज्जा	तिष्य नक्षत्र और मघा	
कुकुभ	दिन का	धीर प्रशांत	सामान्या समस्त रस कोविदा नायिका	अश्लेषा	

इस वर्गीकिरण के अनुसार सिद्ध होता है कि इन्होंने राग पुत्र और राग बधु को नहीं माना। रीतिकाल के कुछ संगीतज्ञों ने इसको मान्यता दी है पर उसका कारण विदेशी प्रभाव है।

व्यासजी को भगवंतराय के तीन ध्रुपद भी मिले हैं। तीनों ही ध्रुपद धार्मिक एवं उपासना विषयक हैं। क्रमशः सूर्य, भैरव और हनुमान के प्रति इनकी रचना की गई है। हनुमानजी के प्रति लिखा गया ध्रुपद बंगाल भैरव राग में हैं। भैरव के प्रति लिखा गया ध्रुपद तांत्रिक है। भैरव युद्ध के देवता हैं। अतः व्यासजी का अनुमान है कि यह ध्रुपद भैरव को सिद्ध करने के लिए ही लिखा गया होगा।[1] सूर्य के प्रति लिखा गया ध्रुपद पड़ा छन्द में है। पड़ा छन्द में सफलतापूर्वक ध्रुपद की रचना करने वाले स्वामी हरिदास एवं उनके प्रिय शिष्य मदनराय ही थे। श्वास स्वर, भाषा-भाव और छन्द इत्यादि पर जिस अधिकार की इस रचना के लिए आवश्यकता होती है उसका पूरा कर सकना साधारण क्षमता वाले रचनाकार के वश की बात नहीं होती।

सूचित सामग्री

इस सामग्री के अतिरिक्त व्यासजी ने यह भी बताया है कि भगवंतराय के समकालीन किसी परिष्कृत रुचि के पर्यटकक ने इनके अनेक-पदों को लिख लिया था। वह पुस्तक रूप में पिलानी के भैरवप्रसाद कम्पाउण्डर के पास विद्यमान है। उक्त पुस्तक को श्री भगवतशरण उपाध्याय को दिखाने के लिए कम्पाउण्डर साहब लाए थे, तभी व्यासजी ने भी उसे देख लिया था। व्यासजी का कहना है कि उसमें में ध्रुपद संगीत की दृष्टि से बड़ी ही उत्कृष्ट रचनाएँ संकलित हैं।[2] उक्त संग्रह में भगवंतरात के भी अनेक ध्रुपद छंद हैं अतएव कह सकते हैं कि भगवंतराय ने काफी ध्रुपदों की रचना की थी। उनके तीन छन्दों का तीन स्रोतोंसे मिलना भी सिद्ध करता है कि वे छन्द बिखर गये थे। संभवतः मौखिक गवैयों ने परम्परा में ही उनको प्राप्त और स्मरण किया होगा। इस प्रकार उनकी एक बड़ी संख्या के नष्ट होने का भी अनुमान किया जा सकता है। दूसरे, उपासना, विपयक रचनाएँ होने के कारण उन्हें सर्वसाधारण के पास पहुँचने भी न दिया गया होगा। उस सयय की कट्टर पवित्रतावादी धार्मिक प्रवृत्ति इसे नहीं स्वीकार कर सकती थी।

---

१. व्यासजी भैरव और हनुमान के प्रति लिखे गये ध्रुपदों को देने मे किसी भी प्रकार राजी न हुए। उन्हे इनके प्रति अत्यधिक मोह है, वे इन्हें अपने संग्रह के बीच 'रत्न' की संज्ञा प्रदान करते हैं।

२. कम्पाउण्डर के अत्यधिक आर्थिक लोभ के कारण वह पुस्तक प्रकाश में नहीं आ सकी।

आलोचना : भगवन्तराय की संगीत सम्बन्धी रचनाओं के देखने से प्रकट होता है कि उन्हें संगीत के शास्त्रीय और कला दोनों पक्षों का ज्ञान था। इतना ही नहीं संगीत की तान्त्रिक परम्परा ने भी उन्हें प्रभावित किया था। उनके कोष्टक में राग-रागिनियों के नायक-नायिकादि का वर्गीकरण रीतिकालीन संगीत की सामान्य मान्यताओं की ओर संकेत करता है, जो उस समय के साहित्य से पूर्णतया प्रभावित है। इसमें राग-रागिनियों की सिद्धि के लिए नक्षत्रों का निश्चित करना ही कुछ नयी सामग्री देता है, जो तांत्रिक प्रभाव को प्रकाशित करता है।

जहाँ तक उनकी रचनाओं का सम्बन्ध है वे बड़ी ही प्रौढ़ है। उनमें संगीत के अलंकार, अनुप्रास योजना, शब्दों का गुम्फित और नियन्त्रित प्रयोग कवि-सामर्थ्य का प्रमाण देते है। भाषा के साथ-साथ भावपक्ष भी उतना ही सबल और समर्थ है। शब्दों के द्वारा भाव को चित्रित कर देना और संगीत की ध्वनि से वातावरण उतार देना ही संगीत की विशेषता है जो सूर्य के लिए लिखे गए ध्रुपद में स्पष्ट है।

जयति जय बलि सूर सूरज, जय जय दिवाकर
महि मंडल सुख करन
तेज महिमा अमित नक्षत्र दल बल सबल देखि,
तम हटक फट पल सकल
सरन हे राय भगवंत बलवंत तूं राज विद्या महाशक्ति सौरभ भरन

देखा जा सकता है कि भाषा कितनी सधी हुई परिमार्जित और भावानुकूल है। अनुप्रास-योजना से भाषा का लालित्य बढ़ गया है। ओज गुण का स्वरूप छोटे-छोटे सरल और अकृत्रिम शब्दों में किस प्रकार चित्रित हो जाता है 'अमित नक्षत्र दल बल सबल देखि, तम-हटक फट पल सकल।' इसमें भाषा के तत्सम रूप और परिष्कृत स्वरूप का बड़ा ही सुघर उदाहरण मिलता है। भाव और लक्ष्य की मैत्री पूरे छंद में सुन्दरता के साथ निवही है।

रागात्मकता और तन्मयता गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषतायें है। ये गुण इनकी रचनाओं में देखे जा सकते हैं। कवि अपने भाव में विभोर हो गया है। अपने आराध्य की अमित शक्ति और विश्व-कल्याणकारी शक्तियों का ध्यान करता हुआ अपने को शरणागत करता है।

जहाँ उनका कला-पक्ष इतना समृद्ध है वहीं उनका भाव-पक्ष धार्मिक और उपासनापरक है। इससे प्रकट है कि वे संगीत को अत्यन्त पवित्र और उपासना की वस्तु समझते थे। यह परम्परा भारतीय ऋषियों की थी। इसी का विकास उनमें हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

भगवंतराय खीची के मंडल के कवियों का वृत्त

महाकवि देवदत्त 'देव'

देव और भगवंतराय के सम्बन्धों का अनुमान : हिन्दी साहित्य के अब तक के इतिहासलेखकों तथा अनुसंधानकर्ताओं ने देव और भगवन्तराय के सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया। यहाँ उन सूत्रों का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे हमें इन दोनों के बीच सम्बन्ध की सम्भावना प्रतीत हुई।

१—देव और भगवन्तराय समकालीन थे (देव का कविता-काल संवत् १७४६ से १८२४ वि० तक है और भगवंतराय का राज्यकाल सम्वत् १७७२ से १७९२ वि० है)।

२—देव आश्रय की खोज में आरम्भ से लेकर अन्त तक इधर-उधर भटकते रहे और भगवंतराय कवियों के बीच अपनी गुणग्राहकता और उदाराशयता की प्रसिद्धि के कारण 'कल्पद्रुम' कहे जाते थे।

३—इटावा और असोथर निकटस्थ प्रदेश हैं। सोलह वर्ष की लघु वय में जो व्यक्ति आजमशाह के समक्ष उपस्थित होने के लिए जा सकता है, वह अपने समीप के ही एक गुण-ग्राही राजा को कैसे न थहाता ?

४—देव के जितने ग्रन्थ शोध द्वारा प्रकाश में लाये गये हैं, देव काव्य के सभी विद्वान् उनकी संख्या प्राप्त ग्रन्थों से अधिक ही स्वीकार करते हैं। अतः उन अप्राप्त ग्रन्थों के शोध के साथ ही देव से सम्बन्धित जानकारी भी विकसित होगी। जिस प्रकार देव के ग्रन्थ केवल उतने ही नहीं हैं जितने शोध द्वारा सामने आ चुके हैं, उसी प्रकार उनके आश्रयदाताओं विषयक जानकारी भी आज तक की ही खोज तक परिमित नहीं। इन्हीं सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर किये गये प्रयत्न के परिणामस्वरूप 'जयसिंह विनोद' नामक रचना हमारे हाथ लगी।

यह कृति महाकवि देव की रचना है। इसमें भगवंतराय के पूर्वजों का विशद वर्णन है। अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त बहिःसाक्ष्य भी उपलब्ध हैं कि भगवंतराय

और देव के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ थे।[1] प्राप्त ग्रन्थ का रचना-काल सम्वत् १७७६ और प्रतिलिपिकाल सम्वत् १६१० है। जयसिंह भगवंतराय के तीन पुत्रों में सबसे छोटे थे। उनका देव से विशेष स्नेह था, इसलिए देव ने उनके नाम की प्रसिद्धि के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। इसे स्वयं 'देव' ने ही लिख दिया है।

ग्रंथ के प्रथम विनोद में कवि ने जयसिंह की ११ पीढ़ियों का इतिहास लिखा है। एक स्थान पर एक घटना-तिथि भी दी है। इस वर्णन की ऐतिहासिक उपादेयता और प्रामाणिकता का विचार इतिहास-निरूपण के प्रसंग में किया गया है। यहाँ हम देव और भगवंतराय के सम्बन्धों के आधार पर देव की जीवनी पर प्रकाश डालने वाली बातों पर विचार करेंगे।

ग्रन्थ का नाम जयसिंह पर आधारित है पर वास्तविक आश्रयदाता भगवंतराय ही थे: देवने अपने किसी भी आश्रयदाता का वर्णन इस विस्तार के साथ नहीं किया है, जैसा जयसिंह या कहें भगवन्तराय का। इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वे सम्वत् वि० १७७६ के कुछ समय पहले से असोथर अथवा गाजीपुर में बँधकर निवास करने लगे थे तथा अपने को भगवन्तराय की कुल-परम्परा एवं पूर्वजों के वृत्त आदि से पूर्ण परिचित भी कर लिया था। आश्रयदाता के परिवार के साथ कविका घनिष्ठ और आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया था। भगवन्तराय के स्थान पर जयसिंह के नाम पर ग्रंथ का नामकरण इसका प्रमाण है। जयसिंह भगवन्तराय के तीन पुत्रों में सबसे छोटे थे। भगवन्तराय की आयु का अनुमान उनकी जीवनी लिखते समय किया गया है, जिसके आधार पर देव के इस ग्रंथ के रचना-काल तक जयसिंह १५ वर्ष के लगभग माने जा सकते हैं। अतएव प्रश्न उठता है कि देव ने जयसिंह के नाम पर ही अपने ग्रन्थ का नाम क्यों रखा? जबकि जयसिंह न राजा थे और न युवराज। इतना ही नहीं वे स्वतंत्र रूप से किसी कवि को संरक्षण प्रदान करने की स्थिति में भी संभवतः नहीं रहे होंगे। अतः इस शंका पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रश्न का उत्तर अनुमान के ही आधार पर दिया जा सकता है। असोथर मे जैसिंह के नाम केसिवा उनके बारे में कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं है। शायद वे किसी युद्ध में अल्पायु में ही काल-कवलित हो गये हों। सजरे में उनकी शादी व उनके वंश का भी कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी दशा में उनके नाम की प्रसिद्धि के लिए देव का अपने ग्रन्थ का नामकरण

---

१. पिलानी के भगवानदास कम्पाउण्डर के पास श्री भरत व्यास ने एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक देखी थी। उक्त पुस्तक मे भगवन्तराय के यहाँ के ११ प्रसिद्ध संगीतज्ञों मे देव का नाम भी है। देव को यहाँ 'देवराज' कहा जाता था।

करने का एक कारण यह सम्भव प्रतीत होता है कि शायद जयसिंह की काव्य-शिक्षा का भार भगवन्तराय ने देव को ही सौंपा हो, जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने इस ग्रंथ का प्रणयन किया। जयसिंह इस प्रकार के सम्पर्क के कारण देव को अधिक प्रिय भी हो गये होंगे। राजकुमार वे थे ही अतः उनके लिए प्रशंसापूर्ण कुछ उक्तियों में कवि क्यों कोताही करता? दूसरी सम्भावना यह है कि जहाँ तक ज्ञात होता है भगवन्तराय को कवियों की निज-प्रशस्ति के लिए उत्साहित करना प्रिय एवं रुचिकर नहीं था। इतने अधिक कवियों से उनका सम्पर्क था फिर भी उनके जीवनकाल में स्वयं भगवन्तराय के नाम पर लिखे गये किसी ग्रंथ का परिचय अभी तक नहीं मिल पाया। ऐसी स्थिति में देव ने यदि उनके पुत्र के नाम के बहाने ही उनकी कुछ प्रशस्ति अभीष्ट की हो तो आश्चर्य क्या? 'जयसिंह विनोद' में भगवन्तराय के ही पौरुष इत्यादि के प्रसंगों को विशेष रूप से कवि ने सामने रखा है न कि स्वयं जयसिंह के। जयसिंह की उस अल्पवय में ऐसी प्रशंसा के लिए सामग्री भी क्या रही होगी। इस प्रकार हमें देव को भगवन्तराय का ही आश्रित कवि मानना अधिक न्यायसंगत एवं तर्कपूर्ण दिखता है। 'जयसिंह' का नाम होने से उनके आश्रित होने का भ्रम न किया जाय, इसीलिए यह स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया।

'जयसिंह विनोद' और महाकवि देव :

(देव के सम्बन्ध में प्रकाश डालने वाले 'जयसिंह विनोद' में प्राप्त होने वाले तथ्य)

देव ने अपने ग्रंथों में अपने सम्बन्ध में विस्तार के साथ कहीं भी नहीं लिखा है। जो कुछ लिखा, वह अल्प है। इस ग्रंथ में भी उसी प्रवृत्ति का अनुसरण है। उन्होंने सभी कृतियों में रचना-तिथि का उल्लेख भी अनिवार्य रूप से नहीं किया। परन्तु जहाँ भी उल्लेख किया है उससे देव-साहित्य पर उनके अनुसंधान करनेवालों में प्रमुख डा० नगेन्द्र को निश्चित आधार मिल गया है, जिसके अनुसार उन्होंने देव की अन्य रचनाओं के रचना-काल के निर्धारण का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में हमें देव के व्यक्तित्व एवं उनके 'जाति विलास' के रचना-काल पर प्रकाश डालनेवाले कुछ आधार भी मिलते हैं। निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१—आश्रयदाता के वर्णन-विस्तार से कवि और आश्रयदाता के सम्बन्ध और घनिष्ठता तथा सम्बन्ध विच्छिन्न होने के कारणों का अनुमान।

२—देव का आत्म-परिचय।

३—ग्रंथ की रचना-तिथि और वर्ण्य-विषय नायिका-भेद के आधार पर

'जाति विलास' की रचना तिथि और उनकी देशव्यापिनी यात्रा की परीक्षा। तथा :—

४—यात्रा जन्य अनुभव के आधार पर नायिका-भेद वर्णन की परीक्षा।

अब तक देव के जितने आश्रयदाताओं की चर्चा सामने आई है, उनमें भगवंतराय का ही व्यक्तित्व सबसे प्रभावशाली एवं समर्थ था। हम यह भी कह सकते है कि इनके साथ कवि के सम्बन्ध अन्यों की अपेक्षा अधिक गहरे एवं आत्मीयतापूर्ण थे। सम्भवतः देव ने असोथर-गाजीपुर में अन्य आश्रयदाताओं के यहाँ की अपेक्षा अधिक समय तक निवास भी किया होगा। देव ने अपने जिन अन्य आश्रयदाताओं के वर्णन जहाँ कहीं किये है, उनकी तुलना में भगवन्तराय के प्रति जो वर्णन किया गया है वह कहीं विशद है, जिसके आधार पर नीचे लिखे निष्कर्ष निकाले जा सकते है :

१—भगवन्तराय के पूर्वजों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत वर्णन।

२—भगवन्तराय के स्थान पर उनके प्रिय पुत्र के नाम पर ग्रंथ का नामकरण (इससे कवि के आश्रयदाता के साथ पारिवारिक सम्बन्ध प्रकट होते है)।

३—निज आश्रयदाता भगवन्तराय की कीर्ति-कथन के लिए कवि ने जितना मनोयोग लगाया है उतना किसी अन्य आश्रयदाता के लिए नहीं। इसलिए स्वीकार करना पड़ता है कि देव भगवन्तराय के आश्रय में कई वर्षों तक रहे।

१७७९ वि० में जब कवि ने ग्रन्थ को पूरा किया था तब तक हुए कवि और आश्रयदाता के सम्बन्ध आकस्मिक न होकर घनिष्ठ और आत्मीय हो चुके थे। ये सम्बन्ध ग्रंथ-समाप्ति के शीघ्र बाद ही न टूट कर बाद को भी कुछ समय तक अवश्य बने र[illegible] यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि १७८३ वि० के पूर्व ही
है. सम्बन्धों का उच्छ. भी हो गया था।[1] सम्बन्ध टूटने के कारण कुछ गहरे रहे
अनु होंगे क्योंकि पुनः वे नहीं जुड़ सके। भोगीलाल की नाम प्रसिद्धि के लिए लिखे गए
उनके ‘र-विलास’ में देव के हृदय से भोगीलाल के लिए जो कृतज्ञता उमड़ी है वह किसी
कवलित संवेदनशील आघात के बाद आश्रय देने वाले के प्रति ही सम्भव हो सकती
है। ऐसी दश निज हृदय के भाव-प्रकाशन द्वारा देव ने न केवल राजाओं और दरबारों
के प्रति संताप प्रकट किया है वरन् वह विरक्ति-भाव, संसार से भी दूर
करता है। ‘जयसिंह विनोद’ में कहीं भी विगत जीवन की असफल-
लाल के प्रति किए गए आत्म-निवेदन से इसकी पुष्टि होती है।

१. पिलानी के भग
लिखित पुस्तक
संगीतज्ञो का न
नास मे

ताओं एवं विरसताओं का संकेत नहीं मिलता। वे अचानक 'रस-विलास' की पृष्ठभूमि में इस प्रकार कैसे फूट पड़ीं ? इस प्रश्न का यही उत्तर समझ में आता है कि देव जैसे भावुक संचेत्य कवि को कहीं अप्रत्याशित आघात लग चुका था; जहाँ तक प्रकट है इसके पूर्व का सम्बन्ध भगवन्तराय से था अतः यहीं से वे वितृष्ण होकर हटे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। इसी समय उन्हें भोगीलाल का उदार आश्रय मिला अतः उनके प्रति उनका गद्‌गद हृदय उमड़ पड़ा :

भूलि गयो भोज वलि विक्रम बिसरि गये, जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं
राजा, राइ, राने, उमराइ उनमाने, उनमाने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं
भोगीलाल भूप लख, पाखर लिवैया जिन, लाखन खरचि खरचि आखर खरीदे हैं

यहाँ स्पष्ट रूप से कवि कहता भी है कि उसे भोगीलाल के यहाँ से अन्यत्र इतना अधिक आत्मीय सम्मान भोज, वलि और विक्रम के यहाँ भी नहीं मिला। अवश्य ही मानना पड़ता है कि कवि ने वड़े ही विख्यात जनों के प्रति कटाक्ष किया है। भगवन्तराय और देव के सम्बन्ध ऐसे टूटे कि फिर नहीं वने। भगवन्तराय की मृत्यु पर सम्पूर्ण अन्तर्वेद विह्वल हो उठा था तब भी देव की वाणी शायद मौन ही रही। प्रमाण मिलते हैं कि सुखदेव मिश्र जैसे कवि अपने क्षोभ को भूल गए थे पर देव का इस सम्वन्ध में लिखा अभी तक कुछ भी प्रकाश में नहीं आया जिससे उनके हृदय की प्रतिक्रिया का अनुमान लगाया जा सके।

युग के दो प्रमुख व्यक्तित्वों के बीच आई इस खाई का क्या कारण था आज कुछ ज्ञात नहीं। अनुश्रुतियाँ भी नहीं मिलतीं। देव की प्रकृति आत्म-केन्द्री और संवेदनशील थी। भगवन्तराय में दृढ़ता और कृतसंकल्पता का प्राधान्य था, असम्भव नहीं यदि कभी टकरा गये हों। अन्यथा देव जैसे अंतरंग और सम्मानित कवि के साथ भगवन्तराय के संवंधों का अन्तर नहीं आ सकता था।

इस रचना द्वारा सामने आनेवाला दूसरा प्रश्न है देव का अपना परिचय। उन्हीं के शब्दों में :

नगर इटाए बास जिहि काश्यप वंस प्रमोद
देवदत्त कवि कृत सरस श्री जयसिंह विनोद

इस दोहे में कवि ने अपने सम्बन्व में दो बातें प्रकट की है। (१) कवि का जन्म काश्यप वंश मे हुआ है तथा (२) कवि का निवास स्थान इटावा है। कवि के प्रपौत्र भोगीलाल ने भी लिखा है 'काश्यप वंश द्विवेदी कुल' अतः कवि के सम्बन्ध में भोगीलाल द्वारा दिया गया परिचय प्रमाणित एवं पुष्ट हो जाता है। वे कान्य-कुब्ज थे।

देव इटावा के रहनेवाले थे। भोगीलाल के कथन के आधार को डा० नगेन्द्र

ने अपने ग्रन्थ 'देव और उनकी कविता' में उद्धृत किया है जिसके अनुसार वे २६ वर्ष की अवस्था में कुसुमरा जाकर रहने लगे।[1] किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं देव के कथन को प्रमाण मानना अधिक संगत है। दूसरे, देव कुसुमरा रहकर भी पितृभूमि के नाते अपने को इटावा वासी कहते रहे हों तो आश्चर्य क्या? आज भी साधारणत: लोग पितृभूमि के आधार पर ही अपने को अमुक स्थान का रहनेवाला बताते हैं।

'जयसिंह विनोद' द्वारा सामने आनेवाली महत्व की बात है ग्रन्थ की रचना-तिथि-सम्वत् १७७६ वि०। इस कारण से दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है—(१) जाति विलास ग्रंथ का रचना-काल और (२) देव की देश-व्यापिनी यात्रा, जिसके अनुभवों के फलस्वरूप उन्होंने 'जाति-विलास' की रचना की।

भगवन्तराय और देव के सम्बन्धों को देखते हुए इतना तो मान ही लेना पड़ेगा कि यदि देव 'भवानी-विलास' की रचना करके चर्खी दादरी में कई वर्षों तक रहे हैं[2] तो उन्हें कम से कम गाजीपुर असोथर में अवश्य ही तीन-चार वर्ष तक रहने का समय मिला होगा। इसमें सम्वत् १७७६ के पूर्व के दो-तीन और बाद के एक वर्ष की अवधि को समेटा जा सकता है। बाद की अवधि कम से कम माननी चाहिए क्योंकि इसी बीच मतभेद के कारण सम्बन्ध विच्छेद हुआ होगा। डा० नगेन्द्र ने अनुमान से जाति-विलास की रचना-तिथि का आधार यह बताया है कि जाति-विलास और रस-विलास ग्रन्थ एक ही प्रकार की मानसिक पृष्ठभूमि में लिखे गए हैं।[3] जाति विलास पहले लिखी गई होगी; क्योंकि उसमें दी गई सामग्री में वह निखार नहीं है जो रस-विलास में सुलभ है। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि डा. नगेन्द्र की तिथि थोड़ा-बहुत इधर-उधर खिसकाई जा सकती है। केवल ध्यान में यह रखना है कि इन दोनों कृतियों का रचना-क्रम न टूटे। क्रम का ध्यान आवश्यक भी है क्योंकि यदि कवि ने एक विशेष विषय के वर्णन की एक निश्चित पद्धति अपने अन्तस में बैठा ली थी तो उसका आभास प्रयत्न करने पर भी इन दोनों के मध्यकाल में लिखी गई रचनाओं में अप्रकट नहीं हो सकता था। 'जयसिंह विनोद' में नायिका-भेद का वर्णन किया गया है किन्तु देश-भेद का विस्तार यहाँ समाहित नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि निश्चय ही 'जाति-विलास' की रचना बाद

१. दे० कविता पृ० २०
२. तुलना कीजिए, दे० कविता पृ० ४६
३. तुलना कीजिए, दे० कविता पृ० ५२

में हुई है और वह १७८० के बाद ही कभी १७८३ के पूर्व समाप्त हुई होगी। यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि देव जैसे समर्थ प्रतिभा वाले कवि के लिए इस प्रकार के दो ग्रंथों की रचना एक वर्ष के भीतर भी सम्भव थी। प्रमाण भी है कि १६ वर्ष की किशोर वय में ही 'भावविलास' और 'अष्टयाम' जैसे ग्रंथ एक ही वर्ष के भीतर देव ने लिख डाले थे। अब तो उनकी वय-बुद्धि आदि सभी कुछ प्रौढ़ था। अतः सम्भव है कि उन्होंने एक वर्ष के भीतर ही दो ग्रंथ रच लिये हों।

अब इसको प्रमाणित मान सकते हैं कि कवि देव वि० संवत् १७७९ के दो-तीन वर्षों पूर्व से १७८० तक असोथर में रहे। इस समय के पश्चात् उन्होंने 'जाति-विलास' और 'रसविलास' की रचना की। पर यहाँ प्रश्न जातिविलास की रचना-तिथि का अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रमुख प्रश्न है देव की देश-व्यापिनी यात्रा का, जिसके अनुभव के परिणाम-स्वरूप इन दोनों ग्रन्थों में नायिका-भेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह तो संभव नहीं है कि देव सं० १७८० से १७८३ के बीच में कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर और भूटान के प्रदेशों को घूम आए और उसी बीच अपनी रचना भी लिखकर समाप्त कर दी। यदि कहें कि असोथर में निवास के पूर्व उन्होंने ऐसी यात्रा सम्पन्न की थी तो वह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि उस यात्रा के अनुभव के परिणाम-स्वरूप उन्हें जातिविलास जैसे ग्रन्थ का नायिका-भेद प्रस्तुत करना था तो वह जयसिंह विनोद के नायिका-भेद में क्यों नहीं प्रकट हो सकता था? परन्तु वैसा नहीं हो सका है। अतः यहाँ यही मानना होगा कि देव ने देशव्यापिनी यात्रा नहीं की थी। इस प्रमाण के अतिरिक्त देव की रचनाओं से अन्त साक्ष्य भी हम अपने कथन के समर्थन में दे सकते हैं। जातिविलास मे किये गये नायिका-भेद के वर्णनों में ऐसी कोई गहराई नही दिखाई जा सकती जिसके लिए यह मानने को बाध्य होना पड़े कि वैसा वर्णन कर सकने के लिए बिना पूरा देश घूमे हुए ही किसी कवि के लिए सम्भव नही था। देव ने 'जातिविलास' और 'रस विलास' में देश के विभिन्न अंचलों की नायिकाओं का वर्णन किया है, केवल इस आधार पर उनकी यात्रा की बात प्रमाणित नहीं हो सकती। संभव है उन्हें अपनी रचनाओं की सामग्री संस्कृत साहित्य के नायिका-भेद और कामशास्त्र में वर्णित नायिक-भेद से या किसी पर्यटक साथी अथवा किसी अन्य सूत्र से मिली हो। वरन् कहा तो यह जाना चाहिए कि देव जैसी तल-स्पर्शी प्रतिभा का कवि जब पल्लवग्राही वर्णनों पर ही टिका रह जाता है तब उसकी प्रेरणा ऐसे ही साधारण संसर्गों से मानी जायगी। हम यह क्यों मान लें कि देव जैसा सहृदय संवेदनशील कवि पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक देश की नदियों, पर्वतों, ग्रामों और वनों में छहों ऋतुओं को व्यतीत करता हुआ

सौंदर्य की भूमियों मे विचरा तो अवश्य पर उससे विशेष रूप से प्रभावित न हुआ। वास्तव में यह अप्रत्यक्ष रूप से देव की काव्य-प्रतिभा की ही अवहेलना होगी। देव की पकड़ अत्यन्त पैनी थी। संवेदनों को ग्रहण करके उन्हें सजीव वर्णनों में प्रस्तुत करने में उनकी प्रतिभा बेजोड़ है। देव की वह जागरूक प्रतिभा समस्त देश में प्रकृत-जीवन के ग्रहण और चित्रण के लिए कुंठित और जड़ क्यों बनी रही ? फिर कवि की वाणी में यदि इस विपुल और संकुल रमणीयता का संस्कार व्यस्त हुआ तो वह केवल नायिक-भेद की ही डिब्बी में बन्द होकर। 'जातिविलास में' जितना सजीव वर्णन मछली बेचने वाली नायिका का देव ने किया है क्या वैसा ही वर्णन वे समुद्र-तट के नारियल-वृक्षों के बीच के रसमय जीवन का नहीं कर सकते थे ? सावन का जैसा प्रभावपूर्ण चित्र उन्होंने खींचा है क्या वैसे ही हृदयग्राही उत्सव-पर्वों के चित्र अन्य प्रदेशों से वे नहीं निकाल सकते थे। देव के पाठक के गले के नीचे यह बात सरलता से नहीं उतर सकती। उनके 'वृक्ष-विलास' ग्रन्थ की कोई प्रति सम्प्रत्ति प्राप्त नही है। परन्तु पं० कृष्णविहारीजी मिश्र ने उसे देखा था। उस ग्रंथ का एक छन्द उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'देव और बिहारी' में उद्धृत भी किया है। देव की इस रचना के बारे में जब तक पूर्ण जानकारी न हो तब तक उसकी विषय-वस्तु का मात्र अनुमान करके ही कुछ टिप्पणी करना व्यर्थ होगा। यदि देव ने पूरे देश की वनस्पतियों और वृक्षों को देखा होगा तो उसकी छाया इस पुस्तक में छिपी नही रह सकती, ऐसा मानना उचित होगा।

देव की इस देश-व्यापिनी यात्रा के जिन कारणों का अनुमान किया गया है वे भी संतोषप्रद नहीं प्रतीत होते। कहा जाता है इसका उद्देश्य आश्रय की खोज, तीर्थाटन अथवा परिभ्रमण इन तीनों में से कोई अथवा मिला-जुला हो सकता है।[1] यदि उन जैसा कवि कही भी बाहर गया होता तो उसे अवश्य ही कोई-न-कोई गुणग्राही मिला होता अथवा उन्होंने ढूंढ निकाला होता जिसका उल्लेख भी उनकी रचनाओं में कहीं-न-कहीं तो अवश्य हो मिल गया होता। परन्तु इटावा से दो सौ मील के भीतर के ही प्रदेश में उनके सभी आश्रयदाताओं के ठिकाने मिल जाते हैं। चिन्तामणि और भूषण ने सिद्ध कर दिया है कि उस युग में हिन्दी कवि का आश्रय महाराष्ट्र तक था। वे घूमने वाले व्यक्ति थे और परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं मे इस कथन के समर्थन में अनेक संकेत हैं, किन्तु देव की रचनाओं में प्राप्त सूचनाओं से देव को कही बाहर आश्रय मिला, इसकी पुष्टि नही होती।

धार्मिक यात्रा की बात भी लचर है। यदि धर्म की आस्था लेकर अपने शरीर

---

१. तुलना कीजिये, दे० कविता० पृ० २८

को वे १५ वर्ष तक इस निष्ठा से कष्ट देते रहते कि बीच में प्राप्त होने वाले सारे लौकिक आकर्षणों को जो आश्रयदाताओं से अपेक्षित है, की उपेक्षा करते हुए एक निष्ठा-वश उनको त्याग कर आगे बढ़ते जाते तो अवश्य ही उनकी परवर्ती रचनाओं में भक्ति और वैराग्य के स्वरों को प्रधानता मिलती न कि नायिका-भेद की जैसा कि हुआ है। भोगीलाल के प्रति जिस रूप से आत्म-क्षोभ का निवेदन उन्होंने किया है वह भी न हुआ होता। क्योंकि कवि को किसी से कुछ लेने-देने का प्रयोजन ही न रहता। 'जाति विलास' और 'रसविलास' में उनकी भक्ति का पुष्टीकरण नहीं हो पाता है। यदि कहा जाय कि कवि ने अपने चित्त की नैसर्गिक सौंदर्य भावना के आग्रहवश ही यह कष्ट उठाया तो उसका भी कोई सशक्त या विश्वसनीय आधार नहीं है। देव के तथाकथित यात्रा-काल (अर्थात् संवत् १७६५ से १७८३) में जैसा ऊपर विचार किया गया है, तीन काव्य-रचनाओं के किये जाने का साक्ष्य मिलता है। यदि इन रचनाओं को देव के देश-व्यापी यात्रा-काल या उसके तुरन्त बाद का माना जाय तो इसे प्रमाणित कैसे करेंगे ? इन तीनों रचनाओं में देव की प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति विशिष्ट रुझान का संतोषजनक प्रमाण नहीं मिलता। वैसे देव ने ग्राम-सौंदर्य या प्रकृति का जो थोड़ा-सा वर्णन किया है वह उनके गहरे सौंदर्य-बोध एवं सुरुचि का परिचायक है। किन्तु यह बोध उनकी काव्य-प्रतिभा में अन्तर्निहित है। इन रचनाओं में मध्य देश से बाहर के स्थलों के प्राकृतिक सौंदर्य या जीवन-वैशिष्ट्य के बारे में कोई निर्देश नहीं है। उनके वर्णन पर कोई बाह्य प्रभाव भी नहीं दिखाई देता।

महाकवि देव की जीवनी

देव के सम्बन्ध में सेंगरजी से लेकर अब तक के सभी इतिहास-लेखकों ने बड़ी ही सतर्कता से अपनी लेखनी चलाई है। मिश्रबंधु, डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल एवं पं० कृष्णबिहारी प्रभृति विद्वानों की समर्थ लेखनियों ने महाकवि देव की जीवनी और उनके काव्य पर प्रकाश डाला है। इनके अतिरिक्त श्री गोकुलचन्द दीक्षित एवं डा० जानकीनाथसिंह 'मनोज' आदि के कार्यों को भी इस दिशा में कभी नहीं भुलाया जा सकता। श्री दीक्षितजी की देन, अव्यवस्थित भले ही हो, परन्तु देव-सम्बन्धी अनुसंधान के अगले चरण के लिए बहुत ही उपादेय सिद्ध हुई है।[1] देव सम्बन्धी अपने से पूर्ववर्ती समस्त सामग्री का वैज्ञानिक परीक्षण करके डा० नगेन्द्र ने अपने शोधग्रंथ में देव संबंधी अनुसंधान कार्य को एक निश्चित स्वरूप दिया है। यह सामग्री डा० नगेन्द्र के शोधग्रंथ 'देव और उनकी कविता'

---

१. तुलना कीजिये, दे० कविता० पृ० १०

तथा उनके द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६ मे उपलब्ध है। यहाँ 'जयसिंह विनोद' से प्राप्त देव के जीवन सम्बन्धी सूचनाओ की कसौटी पर उपर्युक्त सामग्री को परखेंगे और उसके प्रकाश मे उनके उस जीवन-वृत्त को प्रस्तुत करेंगे जो इस ग्रंथ से प्रकाश मे आता है।

महाकवि देव सनाढ्य ब्राह्मण न होकर काश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज थे।[1] उनके पिता का नाम बिहारीलाल दुबे और जन्मभूमि इटावा थी।[2] इसी इटावा नगर के लालपुरा मोहल्ले मे उनका घर था जिसके अवशेष आज भी विद्यमान है। उनकी जन्म तिथि संवत १७३० विक्रम थी। जन्म-तिथि का निश्चय कवि के ही शब्दो मे प्रमाणबद्ध है।[3] कम-से-कम अपने आरम्भिक जीवन के ४६ वर्षो तक देव इटावा में ही निवास करते रहे। संभव है शेष जीवन को उन्होने कुसुमरा मे बिताया हो या इटावा और कुसुमरा दोनो ही स्थानो मे। इटावा छोडकर देव कुसुमरा के अधिवासी बन गए हो यह सम्भावना हमारी दृष्टि मे अत्यन्त क्षीण है। एक पुत्र के वहाँ रहने के कारण देव कुसुमरा आते-जाते रहे हो या कभी लबे समय तक भी रह जाते रहे हो, यह दूसरी बात है। जब एक पुत्र पितृ-भूमि में रह रहा है और दूसरा अन्यत्र चला गया है तो पिता भी पूर्णरूप से अन्यत्र ही जाकर टिक जाय यह समझ मे नही आता। यदि कुसुमरा जाने वाले देव के पुत्र की वही ससुराल रही हो तब तो देव का वहाँ जाकर स्थायी रूप से निवास करना और भी क्लिष्ट कल्पना होगी। एक सम्भावना यह है कि कुसुमरा किसी के यहाँ से देव को भेट स्वरूप मिला हो, ऐसी स्थिति मे वह गाँव देव के नाम से ही प्रसिद्ध रहा होगा। बाद को उनके वशजो ने अपने गौरव के लिए उसे ही देव का बाद का निवासस्थान घोषित कर दिया हो, यह बात भी सभावना से परे नही।

उन्हे आश्रय की खोज मे दिल्ली से लेकर इलाहाबाद के बीच तक के प्रदेश मे कई जगहो मे अपनी भाग्य परीक्षा करनी पडी थी। अवध और ब्रज दोनो ही प्रदेशो मे वे रहे। इसी समस्त प्रदेश के भीतर उनके सभी आश्रयदाताओ के ठिकाने आते है,जैसे आजमशाह (दिल्ली), भवानीदत्त वैश्य (चर्खी दादरी, बुलन्दशहर), कुशलसिंह (फफूँद, इटावा) इन आश्रयदाताओ के यहाँ रहने के पश्चात् देव गाजीपुर असोथर के भगवन्तराय के यहाँ पहुँचे। यहाँ वे काफी समय तक बड़े सम्मान के साथ रहे। भगवन्तराय स्वय साहित्यकार और सगीतज्ञ तथा इन

---

१. तुलना कीजिये, हि० इतिहास, पृ० ३२०

२. दे० कविता० पृ० १८

३. दे० कविता० पृ० १६

कलाओं के मर्मज्ञ थे। उनके दरबार में साहित्यकारों और संगीतज्ञों का जमघट रहता था। इस सम्पर्क के कारण देव की प्रतिभा में अवश्य ही निखार आया होगा। भगवन्तराय के यहाँ रहकर उन्होंने संगीत को माँजा होगा। ऐसा लगता है कि यहीं उन्होंने अनेक श्रेष्ठ ध्रुपदों की रचना की एवं गान विद्या में निपुणता प्राप्त की। अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के कारण देव की प्रतिष्ठा यहाँ बढ़ी और उन्हें 'देवराज' की उपाधि मिली। भगवन्तराय राम के भक्त थे। इसका भी उनपर प्रभाव पड़ा तथा उन्होंने रामायण के कथानक को लेकर भी अनेक छन्दों एवं ध्रुपदों की रचना यहाँ की थी।[२] यहाँ देव निश्चित रूप से कितनी अवधि तक रहे यह तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर सम्भावना यह है कि इतनी लम्बी अवधि तक वे अन्य किसी आश्रयदाता के यहाँ शायद ही रहे होंगे। यहीं देव और भगवन्तराय के आपसी सम्बन्धों में शायद किसी कारण फाँस पड़ गई और देव उनका आश्रय त्याग कर चले गए। देव जैसे संचेत्य और स्वाभिमानी प्रकृति के कवि के लिए ऐसा कर देना अस्वाभाविक और असामान्य न था।

भगवन्तराय के यहाँ रहकर उन्होंने 'जयसिंह विनोद' की रचना की थी। ऐसा लगता है यहाँ रहकर उन्होंने और भी रचनाएँ की होगी किन्तु अभी तक इसका प्रमाण नहीं मिला। यह कथन अनुमान मात्र है। भगवन्तराय और देव के संबंध निश्चित होने तथा जयसिंह विनोद की उपलब्धि से उनकी देशव्यापिनी दीर्घ यात्रा निराधार सिद्ध होती है। इसका विवेचन हम कर चुके हैं।

यहाँ से हटने पर देव को भोगीलाल का संरक्षण मिला। भोगीलाल के यहाँ देव को पर्याप्त धन और सम्मान प्राप्त हुआ। भोगीलाल के यहाँ से वे डौंडिया खेरे के उद्योतसिंह के यहाँ पहुँचे। उद्योतसिंह के यहाँ से एक वार वे पुनः दिल्ली की ओर मुड़े जहाँ सुजानमणि की छत्रछाया मिली। सुजानमणि के यहाँ से वापस आने के बाद से वे बँधकर किसी के यहाँ नहीं रहे। डा० नगेन्द्र का अनुमान है कि वे कभी-कभी अलवर, भरतपुर के राजाओं के यहाँ आते-जाते रहे होंगे। उनके अन्तिम आश्रयदाता पिलानी के अकबरअली खाँ थे। अकबर अली के साथ

---

१. जैसाकि कहा भी जा चुका है कि पिलानी के भगवानदास कम्पाउंडर के यहाँ प्राप्त हस्तलिखित पुस्तक में लिखा है कि भगवन्तराय के यहाँ रहनेवाले कवि देवराज सर्वश्रेष्ठ गायक थे। इसके अतिरिक्त स्वयं भगवन्तराय अच्छे संगीतज्ञ थे अतः उनके संसर्ग में देव के संगीत-ज्ञान का परिमार्जन संभावनायुक्त है।

२. जयसिंह विनोद में रामायण के कथानकों पर आधारित कुछ छंद इसका संकेत करते हैं।

हुए उनके सम्बन्ध की तिथि पर विचार करके देव की मृत्यु-तिथि निश्चित करने का आधार ग्रहण किया गया है। इस सम्बन्ध में 'जयसिंह विनोद' से कुछ संकेत मिल जाते है, जिसके अनुसार हम अपने अनुमान को यहाँ प्रकट कर सकते है। अकबरअली का राज्यारोहण १८२४ विक्रमी है। इस प्रकार देव का जीवनकाल इस समय तक तो निश्चित हो ही जाता है। परन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कवि अपने ग्रंथ को अकबरअली के सिंहासनारोहण के समय ही तैयार करके ले गए होंगे। देव जैसे वरिष्ठ आयु के अत्यन्त प्रसिद्ध और सम्मानित कवि से यह अपेक्षा करनी संगत नहीं प्रतीत होती। पुनः यदि मान लिया जाय कि अकबरअली और देव के पूर्व सम्बन्ध थे अथवा अकबर अली के पिता से उनके सम्बन्ध थे तो यह बात स्वीकार की जा सकती है। यदि हम दूसरी सम्भावना को विश्वसनीय मानते हैं तो यह टिप्पणी निराधार न होगी कि अकबर अली के सिंहासनारोहण के पूर्व ही सुख सागर तरंग उन्हें उसी प्रशस्ति कथन के साथ समर्पित किया जा सकता था। देव के ही अन्य ग्रन्थों से इसके समर्थन में प्रमाण मिल जाते है। आजमशाह की बात जाने दीजिये भवानीदत्त ही कौन से राजा थे ? वे तो राजा के पुत्र भी नहीं भतीजे थे। परन्तु उनके प्रति भी अपनी श्रद्धा निवेदित करने या उनके यश-विस्तार में क्या कवि ने कुछ कोताही की है ? जयसिंह अत्यन्त लघुवय के थे जब कवि ने उनके नाम पर अपने ग्रंथ को प्रचलित किया। इसी प्रकार उद्योतसिंह भी उस समय[1] युवराज ही ठहरते हैं, जब कवि ने उन्हें प्रेम-चन्द्रिका समर्पित की थी। इन तथ्यों के समक्ष होने पर यही मानना उचित होगा कि 'सुख सागर तरंग' का सम्पादन १८२४ वि० में ही पूरा हुआ, निर्विवाद नहीं। अत: हम देव की आयु निर्धारित करने में अभी संदिग्ध है। संभव है आगे होनेवाले अनुसंधान इस प्रसंग को अधिक प्रामाणिकता और पूर्णता के साथ उपस्थित करें।

देव का व्यक्तित्व

देव अत्यन्त प्रतिभावान कवि थे। युग की काव्य-प्रवृत्तियों को उनके काव्य मे पूरा प्रतिनिधित्व मिला है। शृंगार भक्ति एवं वैराग्य की धाराओं ने उनके संवेदनशील मस्तिष्क को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इन प्रवृत्तियों ने उनके

---

१. देव और उनकी कविता के पृ० ५६ मे इसका रचनाकाल संवत् १७९० के आसपास अनुमानित किया गया है। उन्नाव गजेटियर के अनुसार ई० १७४०, संवत् १७९७ मे मर्दनसिंह ने अपने तीन पुत्रों मे अपना राज्य बाँटा था। इस प्रकार प्रेमचन्द्रिका के रचनाकाल तक उद्योतसिंह युवराज ही थे।

व्यक्तित्व को बहुमुखी तथा उनके काव्य के लिए विस्तृत भाव-भूमि प्रस्तुत की है।

भावुक हृदय की संवेदन-शीलता भी उनके भीतर भरपूर थी। जीवन-संघर्षों में वे १६ वर्ष की वय से ही बड़े आत्म-विश्वास के साथ प्रवृत्त हो गए थे। इससे प्रकट है कि अपनी प्रतिभा और अपनी श्रेष्ठता को वे स्वयं भा पहचानते थे। एक ओर अपनी दृष्टि में उनकी ये समस्त विशेषताएँ स्पष्ट थी दूसरी ओर लोकजीवन की असफलताएँ, इसलिए स्वभाव प्रतिक्रियावादी बन गया था। वे व्यावहारिक कभी नहीं बन सके। फलस्वरूप अपने वर्तमान और भविष्य को कहीं भी आश्वस्त नहीं कर पाये। अतः प्रकट है कि उनका जीवन भी करुण बना रहा। परन्तु इस संघर्ष में उनकी प्रतिभा संवरती और निखरती गई। साथ ही साथ एकान्तप्रियता एवं सामाजिक निस्संगता भी प्रबल होती रही। देव किसी के बनकर न रह सके। और न किसी को अपना बना सके। न तो वे किसी राज्याश्रय में टिक सके और न किसी शिष्य को अपना सके। कारण यही है कि देव जीवन में अत्यधिक आत्म-केन्द्रित हो गए प्रतीत होते हैं। वे स्वाभिमानी और अक्खड़ तथा भावुक थे। जिस पर प्रसन्न हैं उसे बहुत ही महत्व दे डाला और भरपूर बखान किया उसका। जब खटक गई तो फिर वे किसी की सुननेवाले न थे।

वास्तव में देव रीति और भक्ति-धारा के कवियों के बीच अवस्थित थे। वे न तो दरबार से दूर थे और न दरबारी वातावरण में घुले-मिले। वे सर्वोपरि अपने भावुक व्यक्तित्व को ही स्थान देते थे और इसी की आवाज पर अपना व्यवहार स्थिर करते थे। उन्हें किसी का हस्तक्षेप कभी प्रिय न लगा होगा। खिन्न होने पर या कहें इस व्यक्तित्व के वाधित होने पर वे राम का स्मरण करते तथा वैराग्य की शरण लेते थे। कुछ समय वाद ये सारे गत्यवरोध भूल कर पुनः उसी जीवन में प्रवृत्त हो जाते थे। उनकी रचनाओं से इन सबका यथेष्ट परिचय-निर्देशन मिल जाता है। डा० नगेन्द्रजी का मत ठीक है कि एक की प्रतिक्रिया से दूसरे का अवि-र्भाव हो जाता था। वे प्रकृत्या एक कवि थे और एक सच्चे कवि की भावुकता में ही वे जीवन को जिये भी।

अनुश्रुतियाँ : उनके जीवन से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ एक ओर उनका महत्त्व, उनकी प्रतिभा और उनकी विद्वत्ता की सूचना देती है। दूसरी ओर उनके स्वाभि-मानी, अक्खड़ और व्यावहारिक स्वभाव को भी प्रकट करती है। घटनाओं की सत्यता पर भले ही संदेह किया जाय किन्तु इनमें अन्तर्निहित और व्यंजित सत्य कभी भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि साधारण जनता उन्हें कितना सिद्ध और महान् मानती थी। इस धारणा की पुष्टि उनके नाम के साथ प्रचलित अनुश्रुतियों से हो जाती है।

सदानंद

(कवि का परिचय)

'रासा भगवन्तसिंह का' के रचयिता सदानन्द भी भगवन्तराय के समकालीन और उनके आश्रित कवि थे। उनकी जीवनी का प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध नहीं। ग्रियर्सन ने इनका उल्लेख भर किया है। मिश्रबंधु-विनोद में सदानन्द नाम के जिस कवि का उल्लेख है वह भी संभवतः आलोच्य कवि से भिन्न नहीं है। इनके बारे में वहाँ निम्न सूचना है :

'इस कवि के केवल तीन छन्द हमने देखे है। इनके जीवन चरित्र का हमें कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात न हो सका, पर इसका समय संवत् १६८५ के आसपास है।" बाबू ब्रजरत्नदास ने सदानन्द कृत 'रासा भगवन्तसिंह का' नामक रचना का सम्पादन करके उसे ना० प्र० सभा की पत्रिका में छपवाया है। उसमें भी उन्होंने कवि के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में कोई विशेष सूचना नहीं दी, सिवाय इसके कि वह अपने ग्रथनायक भगवन्तराय का समकालीन था। वाह्य प्रमाणों का सर्वथा अभाव है परन्तु इस ग्रन्थ में वर्णित घटना ऐतिहासिक है जो सं० १७९२ में घटित हुई थी और कवि ने रचना-काल भी लिख दिया है अतः कवि का कविता-काल तो स्वयं कवि के मुख से ही निश्चित हो जाता है। सदानन्द अपने समय के उच्चकोटि के कवि थे। भगवन्तराय रासा इसका प्रमाण है। कवि के रूप में उन्हें ख्याति दिलाने में यह ग्रंथ पर्याप्त है। सूदन ने अपने ग्रन्थ 'सुजान चरित' में प्रसिद्ध कवियों की तालिका में सदानन्द नाम के जिस कवि का उल्लेख किया है, वे यही होंगे। इस प्रकार ये भगवन्तराय के समकालीन सिद्ध होते हैं। स्वयं अपनी रचना से भी इनका और भगवन्तराय का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है। कहा भी जाता है कि ये भगवन्तराय के ही यहाँ रहते थे और उनके दिवंगत होने के पश्चात् असोथर से गोंडा चले गये। गोंडा में उन्होंने जैमिनी 'पुराणनामक' ग्रन्थ की रचना की है जिसकी एक प्रति डा० भगवतीप्रसादसिंह, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के पास है। परन्तु हमें वह पुस्तक देखने को नही मिल सकी। इनकी भाषा-शैली अत्यन्त प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। संभवतः रीतिकाल के संग्रहों में जिस सदानन्द के छन्द संगृहीत है वे भी यही है। इन्हीं के समकालीन एक-दूसरे सदानन्द कवि का पता चलता है जिन्होंने 'पुहुपावती' नामक प्रेमाख्यानक ग्रन्थ की रचना की है। इसका रचना-काल संवत् १७८३ के आसपास है। परन्तु सदानन्द नाम की एकता होने पर भी दोनों के एक होने की सभावना नहीं है। 'पुहुपावती' के कवि मुसलमान

---

१. मि० भाग-२, पृ० ४०३

थे जिनका वास्तविक नाम हुसैनअली था। वे 'पुहुपावती' की रचना करने के पूर्व हिजरी १३३८ में मथुरा में वास करने लग गये थे। इन्होंने अपना परिचय भी दे दिया है :

> कुतुवसिताव सुविधि दयो, सव विधि दई वड़ाई
> दरसनि आस भई सफल, सुवस वसे व्रज आई।
> हुसेनअली कवि सैयद जाती करी कथा विनवैं सव भाँती
> वास कठा कहौं हरि गाऊँ, धरौं सदानंद कवि निज नाऊँ"[1]

परन्तु रासाकार सदानन्द इससे भिन्न थे। दोनों कवियों की भाषा-शैली में भी अन्तर है। रासा का काव्य-सौष्ठव 'पुहुपावती' से कहीं श्रेष्ठ है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिन सदानन्द कवि के छन्द रीतिकाल के संग्रह ग्रन्थों में मिलते हैं तथा मिश्रबंधु-विनोद में मिश्रबंधुओं ने जिनका उल्लेख किया है वे कौन थे? इस प्रश्न के उत्तर में उदाहृत छंदों की काव्यगत सुष्ठुता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवंतराय के संरक्षण में ही रहनेवाले सदानन्द होंगे। इस दृष्टि से मिश्रबंधु-विनोद में सदानन्द का जो समय निर्धारित किया गया है वह अशुद्ध जान पड़ता है। मिश्रबंधुओं ने बिना किसी आधार के अनुमान कर लिया है, यह स्वयं उन्हीं के शब्दों से ध्वनित हो जाता है।

परिचय

भगवंतराय रासा के अनुशीलन से प्रकट होता है कि कवि का ग्रन्थनायक भगवंतराय के साथ घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध था। उक्त कृति में वर्णित युद्ध के समय स्वयं घटनास्थल पर उपस्थित होकर अपने नायक के शौर्य को इन्होंने अपनी आँखों से देखा था। इन्होंने अपने संरक्षक से उऋण होने के लिए उसकी कीर्ति को काव्यबद्ध कर दिया और इन्हें अपने प्रयास में अद्‌भुत सफलता मिली। यहाँ से निराश्रित होकर कहा जाता है कि ये गोंडा के बिसेन राजा के संरक्षण में चले गए जहाँ पहुँचकर इन्होंने "जैमिनी पुराण" नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त इनका कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं हो सकता है।

गोपाल

(कवि का परिचय)

कवि गोपाल की 'भगवंत विरुदावली' नामक रचना उपलब्ध है। इनके सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के इतिहासों में कोई सूचना नहीं है। प्रस्तुत कृति में

---

१. गोपालचन्द्र सिन्हा, रिटायर्ड जज—६, फैजाबाद रोड, लखनऊ के पास प्राप्त प्रति के आधार पर।

कवि ने अपने काव्य-नायक भगवंतराय के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके इतिहास-प्रसिद्ध अंतिम युद्ध का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इसकी पृष्ठ-भूमि में कवि ने नायक की अन्य महत्वपूर्ण पिछली विजयों का भी संकेत कर दिया है। इस प्रकार गोपाल की इस रचना के अवलोकन से निश्चय हो जाता है कि भगवंतराय से कभी किसी प्रकार सम्बन्धित थे। कवि ने एक स्थान पर लिखा भी है:

बाइस समर भये गोपाल, इतनै भाखत दीनदयाल[1]

'इतनै भाखत दीनदयाल' पद से यह भी ज्ञात होता है कि इस कृति को कवि ने अपने किसी आश्रयदाता के कहने से रचा था परन्तु कहीं भी आश्रयदाता का परिचय अथवा उल्लेख कृति के भीतर नहीं मिलता। स्वयं कवि ने भी अपने संबंध में कुछ नहीं लिखा है। पर ऐसा लगता है कि यह कृति भगवंतराय के निधन के कुछ ही दिनों बाद लिखी गई होगी।[2]

भगवंतराय से सम्बन्धित गोपाल कवि के सम्बन्ध में फतेहपुर जिले के नियोजन अधिकारी कैप्टेन शूरवीरसिंह ने सन् १६५५ ई० में जिले से निकलनेवाले 'पंचदूत' पाक्षिक में इनका परिचय लिखा था। उसका आधार उसी जिले के यमुना-तट पर स्थित एकडला ग्राम से मिली सूचना थी। एकडला के अग्निहोत्री ब्राह्मण इन गोपाल कवि को अपना पूर्वज बताते हैं। इस समय स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार गोपाल की ८वीं या ९वीं पुश्त चल रही है। अतः इनका समय लगभग भगवंतराय के समय के ही आसपास है। कैप्टेन साहब के बाद हमने भी नरौली ग्राम निवासी श्री जयगोपाल मिश्र के माध्यम से कैप्टेन साहब के विवरण की परीक्षा कराई जो सर्वथा पुष्ट हुई है।

इस प्रकार हम अपने आलोच्य गोपाल कवि का परिचय इस प्रकार दे सकते हैं—इन गोपाल कवि का जन्म-स्थान फतेहपुर जिले में स्थित एकडला ग्राम है। ये अग्निहोत्री ब्राह्मण थे। इनका समय भगवंतराय के ही समय के लगभग था। इन्होंने विरुदावली के अतिरिक्त भी भगवंतराय के सम्बन्ध में कुछ स्फुट रचनायें

---

१. असोथर मे 'भगवंत विरुदावली' की जो हस्तलिखित प्रति हमें देखने को मिली थी उसके पार्श्व में लिपिकार के ही हाथों से यह पंक्ति भी हमे देखने को मिली थी। इनकी एक और पंक्ति भगवंतराय के सम्बन्ध में लोगों को स्मरण है: 'बिनु गोपाल को गाइ है, विरुदावलि भगवंत'।

२. बहुत सम्भव है भगवंतराय की मृत्यु के बाद कवि उनके किसी मित्र राजा के यहाँ चला गया हो जिसके कहने से इस ग्रन्थ की रचना की।

लिखी होंगी जो आज उपलब्ध नहीं होतीं। कुछ यत्र-तत्र की पंक्तियाँ अवश्य उपलब्ध हैं। इनका कविता-काल संवत् १८०० के आसपास माना जा सकता है।

एक प्रश्न यहाँ और विचारणीय है। मिश्रबंधु-विनोद एवं खोज रिपोर्टों में अनेक गोपाल नाम के कवियों के उल्लेख हैं। उनमें से ये कौन हैं? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है। जब तक सभी गोपाल नामधारी कवियों की रचनायें अलग करके उनका सम्यक् अध्ययन न किया जाय; निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हस्तलिखित प्रतियाँ और उनके बिखरी हुई होने के कारण हम यह कार्य नहीं कर सके। फिर इस नाम के सभी कवि साधारण प्रतिभा के हैं, अतः अन्तःसाक्ष्य और शैली तथा भाषा के आधार पर उनको अलग करना भी कठिन होगा।

मुहम्मद
(कवि का परिचय)

मुहम्मद कवि का नाम सबसे पहले कैप्टेन शूरवीरसिंह द्वारा फतेहपुर से प्रकाशित 'पंचदूत' पाक्षिक में सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ था। कवि की एकमात्र रचना 'भगवंतराय खीची का जंगनामा' उपलब्ध है। इसी में कवि ने अपना परिचय व रचनाकाल भी निबद्ध कर दिया है। इसके अनुसार कवि जाति का मुसलमान और गंगा के किनारे स्थित मलौदी ग्राम का निवासी था। यह मलौदी कोड़ा जहानाबाद से दस कोस की दूरी पर जाजमऊ के निकट स्थित था।[1] कवि के ही शब्द हैं:

"मलौदी वतन है मेरा वहाँ से जाजमऊ नेरा
कोड़ा से कोस दस डेरा, निपट गंगा किनारा है"

कवि भगवंतराय का समकालीन था। ग्रन्थ की रचना-तिथि एवं शाहेवक्त की बन्दगी से यह पुष्ट भी होता है:

"चहल-सी चहल सन रहते मुहम्मदशाह के कहते
उसी के राज में रहते वही साहेब हमारा है"

इससे स्पष्ट है कि कवि मुहम्मदशाह का समकालीन था और ग्रन्थ की रचना-तिथि हिजरी ११६० है। कवि के वर्णन से ऐसा लगता है कि वह अपने ग्रन्थ-नायक से बहुत अधिक प्रभावित एवं सम्बद्ध भी था। उसने स्वान्तः सुखाय यह रचना की थी—

---

१. हमने इस ग्राम का पता लगवाने का प्रयत्न किया पर उसका हमें कोई पता न चला। संभव है गाँव कटकर गंगा के गर्भ में चला गया हो या खैर हो गया हो।

२. चहल=४०×सी=३०=१२००—चहल >४०=११६० हिजरी

'ये कर डारा है मन माना
मुहम्मद खां सचारा है'

पूरी रचना पढने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस कवि की सहानुभूति भगवंतराय के लिए थी। भगवंतराय की विजय से उमने प्रजाजन की प्रसन्नता को अभिव्यक्त किया है। स्वयं कवि भी उसे अपने हृदय में अनुभव करता प्रतीत होता है। उसकी ये पंक्तियाँ इस पर प्रकाश डालती है :

विजय भगवंत ने पाई, चिठी सब परगने धाई
मिटा रैयत का सब खटका, कहै भगवंत का करखा
हुई खिलकत सभी राजी, तुही रणखंभ गाड़ा है"
'जगनामा०'

इतना ही नही भगवंतराय के निधन काल पर भी उसकी सहानुभूति प्रकट होती है—'सभी हा-हा पुकारा है' पद में इसकी व्यंजना है। वह अपने नायक को एक महान् आत्मा भी मानता था क्योंकि उन्हें स्वर्ग ले जाने के लिए स्वयं ईश्वर के दूत आए थे —'उसी दम पारषद आये'। इस प्रकार यह कवि भगवंतराय से उपकृत एवं निकट सम्बन्धित सिद्ध होता है।

शम्भुनाथ मिश्र
(कवि का परिचय)

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे शम्भु अथवा "शम्भुनाथ" नाम के अनेक कवि मिलते है। शिवसिंह सेंगरजी ने ही अपने ग्रन्थ में इस नाम के पांच कवियो की सूचना दी है। यह भी हो सकता है "शम्भुनाथ" नाम के कवि कभी-कभी अपने नाम के "नाथ" शब्द की छाप ही अपनी कविताओ में छोड़ देते हों। इस प्रकार इनकी संख्या और अधिक हो सकती है। क्योकि "नाथ" छाप की भी अनेक रचनाये है। स्वयं "नाथ' नाम के भी अनेक कवि हो गये है अतः "शम्भुनाथ" जो भगवंतराय से सम्बन्धित थे उनका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करना यहाँ आवश्यक हो जाता है।[1]

---

१. गुरु और आश्रयदाता के ज्ञात होने से इनके समय का निश्चय हो जाता है। समय निश्चित हो जाने से अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती शम्भुनाथ नामधारी कवियों से ये अलग हो जाते है। इसके अतिरिक्त इनके एक मात्र प्राप्त ग्रन्थ अलंकार दीपक मे गुरु का नाम स्पष्ट है अतः उसके सम्बन्ध मे शंका नही उठाई जा सकती। इस ग्रंथ का ही एक अंश "भगवन्तराय यश-वर्णन है"। अतः वह ग्रन्थ इनका नही, यह भ्रान्ति भी नही पैदा हो सकती। तीसरा ग्रन्थ हमारे देखने मे नही आया अतः उसके सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती इतिहासकारों की बात मान लेनी ठीक होगी। हाँ, इन्हीं के

[क्रमशः अगले पृष्ठ पर]

सेंगरजी ने भगवंतराय से सम्बन्धित "शम्भुनाथ" के सम्बन्ध में लिखा है "शम्भुनाथ" कवि सं० १८०३ में उत्पन्न हुए यह कवि महाराज भगवंतराय खीची के यहाँ असोथर में रहा करते थे। शिव कवि इत्यादि सैकड़ों मनुष्यों को इन्होंने कवि कर दिया। कविता में निपुण थे। रस-कल्लोल, "रस-तरंगिणी", "अलंकार दीपक" ये तीन ग्रन्थ इनके बनाये हुए हैं।[1] बाद के इतिहासकारों ने सेंगरजी के लिखे परिचय से अधिक कुछ नहीं कहा है। मिश्रबंधुओं ने सेंगरजी को ही आधार बनाकर इनका वृत्त लिखा है। कुछ अटकल भी लगा लिया है जैसे "इनके अलंकार दीपक" में दोहा अधिक हैं छन्द कम। इस ग्रन्थ में खीची नृप का यश-गान बहुत है और बढ़िया भी है। इसमें कवि ने गद्य में टीका भी लिख दी है।[2] ग्रन्थों के नाम सेंगरजी के ही ग्रन्थ से उद्धृत किये गए हैं। खोज-रिपोर्टों में भी इनका कोई नया ग्रन्थ नहीं मिलता। ऊपर बताए गए तीन ग्रन्थों में से केवल अलंकार दीपक ही देखने को मिला है। (सरस्वती पुस्तकालय रामनगर, वाराणसी के सौजन्य से) "रसकल्लोल" का केवल वही अंश देखने में आया है जो खोज-रिपोर्ट में उद्धृत है। उसी में प्रक्षिप्त भगवंतराय की विरुदावली ('भगवंतराय का यश-वर्णन[3] के दो-चार छन्द मिले हैं। इनके अतिरिक्त रीतिकाल के संग्रह ग्रंथों में भी कुछ छन्द प्राप्त हो गए हैं।

इस सामग्री के अनुसार हम इनके परिचय में निम्न निष्कर्ष निकालते है :

"शम्भुनाथ मिश्र ब्राह्मण थे। इनके माता-पिता, निवासस्थान व परिवार इत्यादि पर प्रकाश डालने वाले न तो बहि:साक्ष्य हैं न अन्त:साक्ष्य। इतना अवश्य है कि इन्होंने सुखदेव मिश्र से काव्य-शिक्षा पाई थी। सुखदेव मिश्र अपने समय के प्रख्यात कवि व आचार्य थे। अलंकार दीपक में आया यह दोहा प्रमाण है :

"श्री गुरुकवि सुखदेव को चरनन को परभाउ
बरनन को हिय देतु धरि बरनन को समुदाउ"

गुरु के लिए लिखे गए इन शब्दो के अतिरिक्त इन्होने अलंकार दीपक में किसी आश्रयदाता का नाम तक नहीं लिखा। स्वयं अपने विषय में भी उसी प्रकार मौन-

---

समकालीन सुखदेव मिश्र के ही एक शिष्य शम्भुनाथ त्रिपाठी हुए हैं। उन्होंने "वैताल पच्चीसी" ग्रन्थ में अपना "शम्भुनाथ त्रिपाठी" नाम स्पष्ट लिखा है। अतः ये शंभुनाथ मिश्र के साथ नहीं मिलाये जा सकते। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व नाम के घपले में नहीं उलझता।

१. सरोज० पृष्ठ ४६१

२. मिश्र० भाग-२ पृष्ठ ६८१

३. सरोज० पृष्ठ ४६१

व्रत का निर्वाह किया है। अपने गुरु सुखदेव के ही समान इन्होंने भी आचार्य का आसन ग्रहण किया। सेंगरजी ने लिखा भी है "शिव इत्यादि सैकड़ों मनुष्यों को कवि कर दिया"[1]

आश्रय

इनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि ये नियमित रूप से भगवंतराय के ही आश्रय में रहे। इधर-उधर आने-जाने की इनकी प्रकृति नहीं थी। भगवंतराय की मृत्यु के उपरान्त ही इनको जीविका के लिए अवध में बैस राजा "रनजीतसिंह" के यहाँ विवश होकर जाना पड़ा होगा। यहीं इन्होंने "भगवंतराय का यश वर्णन" को समाप्त कर भगवंतराय के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित की। प्रमाण में "भगवंतराय का यश-वर्णन" की उपसंहारात्मक पंक्तियाँ है :

"सदा रनजीत यह बाबू रनजीतसिंह
दीप जंबू दीप को महीप बैसवारे को"[2]

इनका कविता काल सम्वत् १७९२ के आसपास मानना समीचीन होगा।

विशेष

भगवंतराय के समय में असोथर बड़ा साहित्यिक केन्द्र था। स्वयं उनके आश्रय में अनेक विख्यात कवि काव्य-साधना करते थे। इन कवियों में से कुछ की बडी शिष्यमण्डली थी। शम्भुनाथ और उनके गुरु सुखदेव मिश्र के अनेक शिष्यों का उल्लेख मिलता है।

उदयनाथ 'कवीन्द्र'

(कवि का परिचय)

उदयनाथ "कवीन्द्र" के समय को निर्धारित करने के दो आधार हो सकते है। (१) पहला आधार तो उन आश्रयदाताओं का समय है जिनकी प्रशस्ति में इन्होंने कुछ रचनाये की है। (२) 'रस चन्द्रोदय' नामक अपनी कृति में, उसका रचना-काल कवि ने स्वयं दे दिया है जो सम्वत् १८०४ वि० है।

"कवीन्द्र" हिम्मतसिंह, भूपतिसिंह, भगवंतराय खीची और रावराजा बुद्धसिंह हाड़ा के सम्पर्क में आए थे और इन सभी के लिए लिखे उनके छन्द प्राप्त हो जाते है। इन सब का समय विक्रम की १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है अतः कवि का कविता-काल भी यही माना जायगा। "रस चन्द्रोदय" की रचना-तिथि से

१. सरोज० पृ० ४९१
२. खोज० १९[illegible] ई० कवि संख्या-१७२ (ब)

इसकी पुष्टि भी हो जाती है। कालिदास त्रिवेदी और "दूलह" के कविता-काल के अनुसार भी यह समय ठीक जान पड़ता है।[3]

इन सब पक्षों पर विचार करने के उपरांत मिश्रबंधुओं ने इनके समय का जो अनुमान किया है वह निर्भ्रांत प्रमाणित होता है। अतः हम मिश्रबंधु-विनोद के अनुसार ही इनका परिचय देना उचित समझते हैं।

मिश्रबंधु-विनोद के आधार पर हम कह सकते हैं कि ये कानपुर जिले के बनपुरा ग्राम के निवासी और कान्यकुब्ज तिवारी थे। इनके पिता का नाम कालिदास त्रिवेदी और पुत्र का नाम 'दूलह" था। इनके आश्रयदाता अमेठी के राजा हिम्मतसिंह व गुरुदत्तसिंह, रावराजा बुद्धसिंह हाड़ा, भगवंतराय खीची और

हिन्दी के सर्वप्रथम इतिहास लेखक गार्सादतासी ने लिखा है "सुखदेव हिन्दू लेखक का आविर्भाव १६वीं शताब्दी में इलाहाबाद प्रान्त के पुराने नगर ओरछा (Orchha) के एक राजा के आश्रय में हुआ। मर्दन नामक इस राजा के आश्रय में ही इस कवि ने साहित्य-सेवा की। "रसार्णों या रसार्णव" शीर्षक पद्यात्मक रचना उनकी देन है जो, जैसा कि उसके शीर्षक से प्रकट है, काव्यात्मक और नाटकीय रसों की व्याख्या करती है[1]। इस उद्धरण से हमें दो बातें ज्ञात होती है :

१ सुखदेव १६वी शताब्दी के कवि थे जिन्होंने "मर्दन रसार्णव" नामक ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ रस सम्बन्धी था।

२—वे मर्दनसिंह के आश्रित थे जो ओरछा के राजा थे। शिवसिंह सरोज के अनुसार इस नाम के तीन कवि हुए हैं, जिनमें से अन्तिम दो के एक होने का सरोज-कार को सन्देह था। इस सम्बन्ध में सेंगरजी के ही शब्दों में उद्धृत करना संगत होगा।

१—श्री सुखदेव मिश्र कवि (१) कंपिलावासी सं० १७२८ में उ०। यह कवि भाषा-साहित्य के आचार्यों में गिने जाते हैं। प्रथम, राजा अर्जुनसिंह के पुत्र राजा राजसिंह गौर के यहाँ जाकर कविराज की पदवी पाकर 'वृत्त विचार' नाम पिंगल सब पिंगलों में उत्तम ग्रन्थ रचा। तत्पश्चात् राजा हिम्मतसिंह वंधलगोती अमेठी के यहाँ आय छंदविचार नाम पिंगल बनाया। फिर नवाब फाजिलअली प्रकाश नाम ग्रन्थ महा अद्‌भुत रचा। इन तीनों ग्रन्थों के सिवा हमने कहीं लिखा देखा है कि अध्यात्म प्रकाश, दशरथराय ये दो ग्रन्थ और भी इन्हीं महाराज के रचे हुए हैं।"[2]

२—सुखदेव मिश्र कवि (२) दौलतपुर जिला रायबरेली वाले सं० १८०३ में उ० बैसवारे में यह महाराज कवि हो गए। राव मर्दनसिंह बैस डौंडिया खेरे के यहाँ थे और उन्ही के नाम से नायिका-भेद का रसार्णव नाम ग्रन्थ बहुत सुन्दर बनाया है। शंभुनाथ इत्यादि कवि इन्हीं के शिष्य थे।[3]

३—सुखदेव कवि (३) अन्तरवेद वाले सं० १७६१ में उ०

यह कवि महाराज भगवन्तराय खीची असोथर वाले के यहाँ थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि यह महाराज सुखदेव मिश्र दौलतपुर वाले ही हों।[4]

---

१ सरोज० पृ० ४६०

२. सरोज० पृ० ४६०

३. सरोज० पृ० ४६१

४. तासी० पृ ३१६

उपर्युक्त कथन से अपने निष्कर्षों को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

(१) सुखदेव मिश्र (१) का कविता-काल संवत् १७२८ वि० के आसपास था।

(२) इनके आश्रयदाता क्रमश: राजसिंह गौड़, हिम्मतसिंह बंधलगोती तथा नवाब फाजिलअली थे। इन आश्रयदाताओं की सेवा में क्रमश: 'वृत्त-विचार' 'छंद-विचार' तथा 'फाजिलअली प्रकाश' नामक ग्रन्थ कवि ने समर्पित किए।

(३) अध्यात्म-प्रकाश और दशरथराय नामक ग्रन्थ भी इन्हीं महाशय के लिखे थे; इसे सेंगरजी ने कहीं लिखा हुआ देखा था।

सुखदेव मिश्र (२) कविता काल १८०३ वि० के आसपास था। और ये दौलतपुर के निवासी थे। इन्हीं की रचना रसार्णव है जो डौड़िया खेर के राव मर्दनसिंह को समर्पित है। शंभुनाथ आदि कवि इन्हीं के शिष्य थे।

सुखदेव मिश्र (३) का कविता-काल सवत् १७६१। भगवन्तराय खीची के आश्रित। सेंगरजी को सुखदेव कवि नं० २ और ३ को एक ही व्यक्ति होने का सन्देह था।

ग्रिअर्सन ने सेंगरजी के ही आधार पर सुखदेव नाम के तीन कवि बताए हैं। (१) सुखदेव मिसर—कबिराज कपिला के १७०० ई० के आसपास उपस्थित। यह गौड़ राजा अर्जुनसिंह के पुत्र राजसिंह के दरबार में थे और उन्हीं से इन्होंने 'कविराज' की उपाधि पाई। यहाँ वृत्त-विचार नामक पिंगल ग्रन्थ रचा जो अपने विषय के ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। यहाँ से अमेठी के राजा हिम्मतसिंह के यहाँ गए जहाँ इन्होंने छंद-विचार नामक एक दूसरा पिंगल-ग्रन्थ लिखा। वहाँ से वे औरंगजेब के मन्त्री फाजिलअली खाँ के यहाँ गए जहाँ भाषा-साहित्य का अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ फाजिलअली प्रकाश रचा।......ये अध्यात्म-प्रकाश और दशरथराय के भी कर्ता थे। उनके सबसे अधिक प्रसिद्ध शिष्य कपिला के जयदेव थे।

(२) सुखदेव कवि—दोआब के १७५० ई० मे उपस्थित। यह असोथर (फतेहपुर) के भगवन्तराय खीची के दरबार में थे।

(३) सुखदेव दौलतपुर वाले—१७४० ई० मे उपस्थित रसार्णव के कर्ता। शंभुनाथ वंदीजन इनके शिष्य थे।

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सुखदेव मिश्र' शीर्षक लेख लिखा है जो 'प्राचीन पंडित और कवि' नामक पुस्तक में संकलित है। इस लेख में प्राप्त सुखदेव मिश्र सम्बन्धी सूचनाओं और पूर्व के उल्लेखों में बहुत अधिक अन्तर है।

द्विवेदीजी लिखते हैं "ग्रियर्सन साहब और शिवसिंह सेंगर ने इनके विषय में बड़ा गड़बड़ किया है। एक जगह आप इनको सुखदेव मिसर लिखते हैं और कंपिला के रहनेवाले बतलाते हैं। दूसरी जगह आप इनका नाम सुखदेव कवि लिखते हैं और अन्तर्वेद (गंगा-यमुना के बीच का भाग) इनका देश बतलाते हैं। तीसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव मिसर कवि" लिखते हैं और दौलतपुर इनका स्थान बतलाते हैं। इतना ही नहीं आगे और भी लिखते हैं "ग्रियर्सन साहब ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक विशेष करके शिवसिंह सरोज के आधार पर ही लिखी है। कहीं-कहीं तो आपने शिवसिंह के लेख का शाब्दिक अनुवाद कर डाला है। इससे शिवसिंह सरोज में सुखदेवजी के विषय में जो गड़बड़ है वही ग्रियर्सन साहब की पुस्तक में भी है।

यहाँ आचार्य द्विवेदी के मत का संक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक है क्योंकि आगे के इतिहासकारों ने इन्हीं के निष्कर्षो को आँख मूंदकर मान लिया है। यहाँ तक कि ग्रियर्सन साहब के ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद में टिप्पणी देकर जोड़ दिया गया कि ये तीनों कवि एक ही हैं।[1]

१ —आचार्य द्विवेदीजी इन तीनों (या दो) नामधारी कवियों को एक मानते हैं और यह भी कहते हैं कि इस नामधारी कवियों के जितने भी ग्रन्थ हैं वे सब एक ही व्यक्ति के रचे हुए हैं।

२ —ये कंपिला के मूल निवासी हिमकर के मिश्र थे। काशी में विद्या पाई और वहाँ से लौटकर असोथर के राजा भगवन्तराय के यहाँ रुके। शाक्त होने के कारण वैष्णव भगवन्तराय के साथ पटरी न बैठी और ये असंतुष्ट होकर वहाँ से राव मर्दनसिंह (डौंडिया खेर) के यहाँ चले गये। यहाँ से भी किसी कारण से अमेठी के राजा हिम्मतसिंह के यहाँ चले गये। अमेठी से इन्होंने औरंगजेब के मंत्री फाजिलअली का आश्रय ग्रहण किया। जहाँ से मुरार मऊ के बैसराजा देवीसिंह के यहाँ आये और इन्हीं अन्तिम आश्रयदाता के अनुग्रह से दौलतपुर में बस गए।

३ —ग्रन्थ -रसार्णव, वृत्त विचार पिंगल, शृंगारलता और फाजिलअली प्रकाश। रसार्णव मर्दनसिंह के लिए, वृत्त-विचार पिंगल अमेठी के राजा हिम्मत-सिंह के लिए, फाजिलअली प्रकाश नवाब फाजिलअली के लिए और शृंगारलता की रचना राजा देवीसिंह के लिए की। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ स्फुट रचनाओं की भी सूचनाएँ देते हैं।

४ —द्विवेदीजी, दौलतपुर के निवासी कवि के वंशजों की साक्षिता के अनुसार

---

[1]. ग्रियर्सन० पृ० २०१

उनका गौड़ राजा अर्जुनसिंह के दरबार में जाना नहीं स्वीकार करते। अर्जुनसिंह के लिए बनाए गए वृत्त विचार पिंगल ग्रन्थ को इसी कारण से वे किसी अन्य कवि की कृति होने का सन्देह करते है। इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी के ये शब्द हैं : "सुखदेवजी के बनाये हुए ग्रन्थों में ग्रियर्सन और शिवसिंह एक छंदोविचार पिंगल बतलाते हैं। वह शायद किसी दूसरे सुखदेव का बनाया हुआ होगा।" इसके आगे द्विवेदीजी ने लिखा है कि सुखदेवजी ने अध्यात्म प्रकाश और दशरथराय नाम के दो अन्य ग्रन्थ भी बनाए हैं, परन्तु इस बात से भी दौलतपुर बूढ़े-बूढ़े मिश्र अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। द्विवेदीजी ने इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता की सम्भावना किसी दूसरे ही सुखदेव कवि के पक्ष में प्रकट की है।

मिश्रबन्धु-विनोद में इनके परिचय को विस्तार से दिया गया है और सच तो यह है कि स्वतन्त्र विचार के स्थान पर द्विवेदीजी की ही सूचना पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी गई। इतना ही नहीं द्विवेदीजी को जो सन्देह था वह भी यहाँ मिटा दिया गया और अर्जुनसिंह के आश्रित सुखदेव तथा अध्यात्म प्रकाश और दशरथराय के रचयिता सुखदेव समेटकर एक कर दिए गए।

मिश्रबंधु-विनोद भाग दो, पृष्ठ ४७६ की यह सूचना द्रष्टव्य है :

नाम कविराज सुखदेव मिश्र
जन्म भूमि कंपिला
जन्मकाल अनुमान से १६९० वि० के लगभग
कविता काल—१७२८

ग्रन्थ (१) वृत्त विचार, (२) छंद विचार, (३) फाजिलअली प्रकाश (४) रसार्णव, (५) शृंगारलता, (६) अध्यात्म-प्रकाश, (७) दशरथराय, (८) नखशिख, (९) पिंगल।

आश्रयदाता : काशी से विद्याध्ययन करके भगवन्तराय, डौंड़िया खेरे के मर्दनसिंह, नवाब फाजिलअली, अर्जुनसिंह के पुत्र राजसिंह गौड़, अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और अन्त में मुरार मऊ के देवीसिंह के यहाँ इनका रहना क्रमशः स्वीकार करते है।

ग्रन्थ : वे उपर्युक्त सारे ग्रन्थों को एक ही सुखदेव की कृति मानते है (यहाँ ध्यान देने की बात है कि इनमें से ग्रन्थावलोकन केवल १. फाजिलअली प्रकाश २ वृत्त विचार ३. छंद विचार और ४. अध्यात्म-प्रकाश का ही किया गया है।)[१]

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि शिवसिंह सेंगर से लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक सुखदेव नामधारी कवि और उनकी रचनाओं के विषय में जो

१. मिश्र० भाग २, पृ० ४७६-८३

एक व्यक्ति से अधिक होने की अनिश्चितता थी उसे मिश्रबन्धु-विनोद में आँख मूंदकर उपेक्षित किया गया और तीनो (या दो ?) सुखदेव नामक कवियो को एक ही व्यक्ति स्वीकार कर लिया गया।'[1] मिश्रबन्धुओ की इस मान्यता का आधार यद्यपि मूलत: द्विवेदीजी का लेख ही है फिर भी उन्होने स्वयं द्विवेदीजी के सन्देह पर भी तनिक ध्यान न दिया तथा पंडित कृष्णबिहारी मिश्र के मूल्यवान संकेतो की भी उपेक्षा की। पडित कृष्णबिहरीजी ने स्पष्ट लिखा था......"हमारे पास वृत्त-विचार की जो प्रति है वह या तो दौलतपुर स्थित हिमकर के मिश्रो के पूर्वज सुखदेव मिश्र से भिन्न किन्ही दूसरे सुखदेव मिश्र की बनाई है अथवा दौलतपुर के हिमकर वाले मिश्र सुखदेवजी के वंशज नही है या यह भी हो सकता है कि उसके भीतर और कोई रहस्यमय बात हो जिसे हम लोग कोई नही समझ पाये है।[2]'

पूर्व उल्लेखों की परीक्षा और सुखदेव मिश्र कवि का काल-निर्णय : उपयुक्त विवरण के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि सुखदेव मिश्र और उनकी रचनाओं मे एक घपला हो गया है अत. सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता है। हमारे समक्ष विचार करने के तीन आधार है। (१) शिवसिंह सरोज से भी पूर्व के उल्लेख (बहि:साक्ष्य) (२) उन इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियो एवं कवियो का समय जिनके साथ सुखदेव कवि का सम्बन्ध था (३) कृतियों के भीतर छाप और वंश-परिचय एव (४) भाषा-शैली (अन्त.साक्ष्य)।

भगवन्तराय का राज्य-काल सवत् १७७२ से १७९२ वि० तक माना जाता है। उनकी मृत्यु संवत् १७९२ विक्रमी मे हुई। मर्दनसिंह भगवन्तराय के समकालीन और उनके बहनोई थे। उन्होने स्वेच्छा से १७९७ वि० सं० मे अपने राज्य का तीन हिस्सों मे बटवारा करके अपने तीन पुत्रों को सौप दिया था।[3] हिम्मतसिंह का समय भी लगभग इसी समय या इससे १०-२० वर्ष पूर्व मानना युक्तियुक्त मालूम होता है। १७९३ स० मे हिम्मतसिंह के पुत्र भूपतिसिंह राज्यासीन थे।[4] इसलिए हिम्मतसिंह का शासन-काल भी १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' भाग षष्ठ के लेखक ने एव 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' मे डा. भगीरथ मिश्र प्रभृति ने मिश्रबन्धु-विनोद का ही अनुसरण किया है।

२. साहित्य -समालोचक—भाग ३, संख्या १, श्रावण सं० १९८४

३. उन्नाव गजेटियर के विवरण के अनुसार।

४. भूपति सतसई के रचनाकाल और सादत खाँ के युद्ध की तिथि के अनुसार। दूसरे के लिए देखिये ० नवा० फ० ६?

रखना समीचीन मालूम होता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्र-बन्धुओं ने लिखा है इन आश्रयदाताओं के यहाँ से सुखदेवजी फाजिलअली के यहाँ गये। फाजिलअली को समर्पित किये गये अपने ग्रन्थ में कवि ने रचना-काल संवत् १७३३ दिया है।[1] फाजिलअली को इन लोगों ने औरंगजेब का मन्त्री माना है—यह कथन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त असंगतिपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचन से बात घुमाकर यों भी कही जा सकती है कि सुखदेव मिश्र पहले अर्जुनसिंह गौर के पुत्र राजसिंह गौर और फाजिलअली खाँ के यहाँ गये होंगे, और इन दोनों आश्रयदाताओं के यहाँ रहने के बाद वे भगवन्तराय के यहाँ आये। किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं लगता। पहले तो यह कि सुखदेव मिश्र जिन्होंने "वृत्त-विचार" नामक कृति लिखी उन्हें राजसिंह गौर ने "कविराज" की उपाधि से सम्मानित किया। "वृत्त-विचार" की प्रौढ़ता और "कविराज" उपाधि दिये जाने के पूर्व कवि का सम्मान और उसकी वरिष्ठता का अनुमान करना पड़ता है जिससे यह मानना पड़ेगा कि कवि की अवस्था इस समय तक ३० वर्ष से कम न रही होगी। वृत्त-विचार में उसका रचना-काल संवत् १७२८ वि० है।[2] अगर वृत्त-विचार का रचयिता और भगवन्तराय का आश्रित सुखदेव मिश्र एक ही व्यक्ति हैं तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भगवन्तराय की मृत्यु के समय इन सुखदेव की आयु ९४ वर्ष की रही होगी। भगवन्तराय की मृत्यु के बाद भी कवि जीवित रहा। यह द्विवेदीजी के लेख में ही उद्धृत निम्न पंक्ति से स्पष्ट है :

"त्यों भुवकंत, बिना भगवंत लगै अब अन्तर्वेद न नीको"

इस प्रकार यदि "वृत्त-विचार" और "फाजिलअली प्रकाश" के रचयिता सुखदेव को ही "मर्दन रसार्णव" का रचयिता माना जाय, जैसा श्री द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं का विचार है, तो यह मानना पड़ेगा कि सुखदेव मिश्र ने प्रायः ७० वर्ष तक काव्य-निर्माण किया और उनकी काव्य-प्रतिभा ७० वर्ष तक अर्थात् उनके जीवन के ९५ वर्ष तक वैसी ही पैनी और अशिथिल बनी रही। यह बात कुछ जँचती नहीं। इस प्रकार सुखदेव नाम के एक ही कवि मानने में सबसे पहले आयु और कविता-काल के आधार पर सन्देह जागृत होता है। यह सन्देह अन्य

---

1. खोज० (१३वीं जिल्द) १९२६-२८ ई. की संख्या ४६५ ई. के आधार पर।
2. संवत सत्रह सै बरस अठाइस अति चारु,
   जेठ सुकुल तिथि पंचमी उपज्यो वृत्त विचार। वृत्त-विचार०

प्रमाणों से किस प्रकार पुष्ट होता है इसका विवेचन हम निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत करेंगे।

पहली बात जो सामने आती है वह यह है कि वृत्त-विचार के लेखक कंपिला-वासी सुखदेव ने जो अपना वंश-परिचय दिया है वह दौलतपुर निवासी सुखदेव मिश्र के वंशजों से भिन्न है। वृत्त-विचार के कर्ता भारद्वाज गोत्री शुक्ल मिश्र थे जबकि दौलतपुर वाले हिमकर के मिश्र थे।[1]

दूसरा आधार कृतियों में कवि नाम की छाप में मिलता है। वृत्त-विचार और फाजिलअली प्रकाश के कर्ता ने प्रायः "सुखदेव सुकवि" और "कविराज" नामों की छाप छोड़ी है जबकि रस-रत्नाकर, मर्दन रसार्णव एवं छंद-विचार पिंगल के कर्ता ने एक भी जगह "कविराज" छाप का व्यवहार नहीं किया। इतना ही नहीं इन्होंने "मिश्र सुखदेव" की छाप छोड़ी है। कविराज नाम की छाप के दो उदाहरण यहाँ उपयुक्त होंगे :

'कविराज' कहत कट विदिता सो कहै छंद मागधो सोई'

—वृ० वि० पिंगल

'करहु कृपा, कविराज' को कामद कान्ह कुमार

—फाजिलअली प्रकाश

इन्होंने "कविराज" का प्रयोग अपने मूल नाम की भी अपेक्षा अधिक किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ग्रन्थ समापन की पुष्पिका में भी प्रदर्शन-प्रियता का संकेत किया है जैसे ' इतिश्री कवि कुलालंकार चूड़ामनि मिश्र शुकदेव (सुखदेव) कवि-राज विरचिते फाजिलअली प्रकाशः सम्पूर्णः।[2] दूसरी ओर मर्दन रसार्णव के कर्ता सुखदेव ने जो पुष्पिका दी है वह अत्यन्त सीधे-सादे शब्दों मे है, यथा—"इतिश्री मरदन रसार्णो सुखदेव विरचितम् सम्पूर्णम्।"[3]

अन्त में यहाँ हम 'सूदन' के "सुजान चरित" में कवियों की सूची में "कवि-राज" और सुखदेव के पृथक् उल्लेखों का संकेत कर देना उचित समझते हैं तथा[4] आचार्य द्विवेदी के लेख में आये इस वाक्यांश की याद दिला देना चाहते हैं— "परन्तु सुखदेवजी के वंशजों को इस बात की बिल्कुल खबर नहीं। वे कहते है कि

---

१. साहित्य-समालोचक, श्रावण १९८४
२. खोज० (१३वीं जिल्द) १९२६-२८ क्रम संख्या ४६५ टी०
३. सरस्वती पुस्तकालय रामनगर बनारस में प्राप्त प्रति के अनुसार
४. 'सुजान चरित' में सूदन ने १७५ कवियों को प्रणाम किया है। 'कविराज' और सुखदेव पृथक-पृथक लिखे गये हैं।

अस्तित्व दोनों सुखदेवों से अलग प्रतीत होता है। हाँ, यह बात सम्भावना से परे नहीं कि पहले सुखदेव "कविराज" ही अपने परवर्ती काल में विरक्त साधु हो गए हों। इस संन्यास काल में उन्होंने "कविराज" की उपाधि को भी त्याग दिया हो। परन्तु ये अध्यात्म-प्रकाश के कर्ता सुखदेव, हिम्मतसिंह, मर्दनसिंह व भगवन्तराय के यहाँ आश्रय ग्रहण करनेवाले सुखदेव नहीं हो सकते। इस त्याग और संन्यासपूर्ण जीवन को बिताकर न कोई नायिका-भेद का ग्रन्थ लिख सकता है और न दरबारदारी वातावरण ही ग्रहण कर सकता है। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हमारे आलोच्य सुखदेव इन दोनों से भिन्न व्यक्ति थे।

हमारे आलोच्य सुखदेव मिश्र इन दोनों सुखदेव नाम के कवियों से भिन्न व्यक्ति थे। इनके समय को प्रमाणित करने में इनके तीन इतिहास-प्रसिद्ध आश्रय-दाताओं का समय सहायक सिद्ध होता है। जैसा कहा गया है भगवन्तराय और मर्दनसिंह समकालीन और सम्बन्धी थे। भगवन्तराय के साथ मर्दनसिंह उनके अन्तिम युद्ध में भी रहे। हिम्मतसिंह का समय भी लगभग वही था। इस प्रकार इतिहास व समय की दृष्टि से इन तीन ठिकानों में आश्रय ग्रहण करने वाले सुखदेव एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन सुखदेव के तीन शिष्यों—गुमान मिश्र,[1] शंभुनाथ त्रिपाठी[2] और शंभुनाथ मिश्र[3] का समय विक्रम की १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही सिद्ध हुआ है। इनके समय के द्वारा भी सुखदेव का काल निश्चित करने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त दौलतपुर के मिश्रों द्वारा बताई गई बातें सूक्ष्म रीति से विचार करने पर पहले दोनों सुखदेव नामधारी कवियों से इन्हें भिन्न सिद्ध करती है तथा हिम्मतसिंह, भगवन्तराय और मर्दनसिंह के संबंध में प्रचलित अनुश्रुतियाँ इन्हीं सुखदेव को इन तीन व्यक्तियों से सम्बद्ध प्रदर्शित करती है।[4]

इनके पृथक्करण के प्रमाण इतने ही नहीं हैं। इनकी रचना-प्रौढ़ता भी अपने पूर्ववर्त्तियों से कहीं अधिक है। आचार्य द्विवेदी ने इस नाम के कवियों के जितने ग्रन्थ देखे थे, उनसे यह निष्कर्ष निकाला था कि—इनके ग्रन्थों मे 'रसार्णव' की

---

१. वृहत्० इतिहास० पृ० ४६८ में इनका समय संवत् १८०० के आसपास माना गया है।

२. इन्होंने अपने "राम-विलास" और "वैताल पच्चीसी" दोनों ग्रन्थो मे अपने गुरु सुखदेव के उल्लेख के साथ रचना-काल भी लिख दिया है। पहली कृति संवत् १७६८ और दूसरी संवत् १८०६ की है।

३. इनका समय हमने इसी प्रबन्ध मे १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित किया है।

४. 'प्राचीन पंडित और कवि' पुस्तक मे सुखदेव पर लिखा द्विवेदीजी का लेख देखिये।

कविता बहुत ही अच्छी है। उसमें वर्णन किए गए विषय का विचार न करके यह अवश्य कहना पड़ता है कि वह सर्वथा आचार्य के योग्य हुई है।[1]

निष्कर्ष

इस अनुसंधान द्वारा निश्चित होता है कि सुखदेव नाम के तीन कवि हिन्दी साहित्य में एक शताब्दी के भीतर ही प्रसिद्ध हुए हैं। प्रथम 'कविराज' की उपाधि से विभूषित हुए थे। इन्होंने अपने मुख से ही अपना परिचय विस्तार के साथ दे दिया है जो 'साहित्य-समालोचक'[2] में प्रकाशित हो चुका है। दूसरे महाशय कोई साधु प्रकृति के अध्ययनशील पंडित व्यक्ति थे। इन्हें काव्य-प्रतिभा भी उत्कृष्ट कोटि की मिली थी। इनका कविता-काल संवत् १७५५ वि० के आसपास था। हमारे आलोच्य सुखदेव मिश्र दोनों ही से भिन्न थे। इनका कविता-काल लगभग संवत् १७८० विक्रमी के आसपास से १८०० तक मानना उचित होगा। यह समय कवि के आश्रयदाताओं एवं उनके शिष्यों के समय से पूर्ण मेल खाता है। इनके जन्म-स्थान और जन्मकाल के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं।[3] किंवदन्ती के अनुसार शिक्षा-दीक्षा काशी में ही सम्पन्न हुई मानना उचित होगा। इनका अध्ययन गम्भीर और शास्त्रीय था। इसी से भाषा सम्बन्धी परिष्कार इनकी कविताओं की निजी विशिष्टता है। इनके आस-पास शिष्यवर्ग का एकत्र रहना तथा परवर्ती जीवन में अपने शिक्षक और उससे पाई हुई शिक्षा के लिए गर्वानुभूति करना इनके आचार्यत्व और इनके व्यक्तित्व की महत्ता को प्रमाणित करता है।

इनके सर्वप्रथम आश्रयदाता भगवंतराय खीची थे। इनके यहाँ इन्हें अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ। वहीं रहकर इन्होंने संगीत का भी अभ्यास किया तथा ध्रुपद राग के अनेक छन्द लिखे थे।[4] शाक्त होने के कारण इनके और भगवंतराय के

---

१. प्रा० पं० पृ० २०८

२. श्रावण, सं० १९८४

३. प्रा० पं० ग्रन्थ में दौलतपुर के मिश्र लोगों की अनुमतियों के आधार पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इनका जो वृत्त लिखा है उसमें इनके जन्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं मिलता। बाद को दौलतपुर ग्राम में इनका बस जाना स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि यह कवि की जन्म-भूमि न थी।

४. पिलानी के जिन कम्पाउंडर भगवानदास का उल्लेख हम इसी प्रबन्ध में अन्यत्र भी कर चुके हैं, उनकी पुस्तक में भगवन्तराय के यहाँ के संगीतज्ञों में लेखक ने सुखदेव मिश्र का भी नाम लिखा है। उसी पुस्तक से इनके लिखे हुए कुछ ध्रुपद भरतजी ने लिख लिये थे।

संबंध विगड़ गए।[1] भगवंतराय के यहाँ से चले जाने के बाद ये अमेठी या डौंड़िया खेरे गए होंगे। पर संभव यह जान पड़ता है कि वे इन दोनों ही ठिकानों में समान रूप से आते-जाते रहे। हिम्मतसिंह के लिए इन्होंने 'वृत्त-विचार पिंगल' तथा मर्दनसिंह के लिए रस-रत्नाकर तथा मर्दन रसार्णव नामक ग्रन्थों की रचना की है। देवीसिंह और इनके सबंध सबसे अंत में हुए थे और उन्हीं के द्वारा दिए गए दौलतपुर ग्राम के अधिवासी बन गए। यद्यपि इनके निधन-काल का ज्ञान नहीं है पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि ये संवत् १७९२ तक तो जीवित ही रहे। भगवंतराय के प्रति लिखे गए किसी छन्द की यह पंक्ति इसका प्रमाण देती है "त्यों भुवकंन बिना भगवन्त लगै अब अन्तर वेद न नीको"[2]।

व्यक्तित्व और अनुश्रुतियाँ

अनुश्रुतियों के ऐतिहासिक महत्व को आज अस्वीकार नही किया जा सकता। परन्तु वे अपने मूलरूप में ज्यों-की-त्यों भी नहीं ग्रहण की जा सकतीं। इनमें सत्यता जटिल रूप से निहित रहती है। इनमे किसी व्यक्ति या वस्तुस्थिति को परवर्ती काल मे किस रूप में ग्रहण किया गया तथा जन-मानस में उसका क्या प्रभाव पड़ा यह तो व्यंजित ही रहता है। अतः मूल वस्तु को इनके माध्यम से बड़ी सावधानी के उपरान्त ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

श्री सुखदेव मिश्र के सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुतियाँ बड़ी ही रोचक और महत्त्वपूर्ण है।[3] यदि घटनाओ को अलग करके उनके द्वारा प्रकाश में आनेवाले निष्कर्षों को अलग करे तो हम उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

१. सुखदेवजी बड़े ही निष्णात विद्वान् थे।
२. उनमें आश्चर्यजनक प्रतिभा थी। उसके वरद होने की मान्यता मे असाधारणत्व की ध्वनि मिलती है।
३. वे बड़े ही स्वाभिमानी थे। अपने व्यक्तिगत मामलों में किसी का भी हस्तक्षेप वे सहन नहीं कर सकते थे। अक्खड़पन के कारण उनकी आश्रयदाताओं से खटपट हो जाती थी।

---

१. देखिए प्रा० पं० पृ० ८० से १०९

२. भगवंतराय के सम्बन्ध में सुखदेव की लिखी केवल यही पंक्ति प्राप्त है। इसे आचार्य द्विवेदी ने प्राचीन पंडित और कवि पुस्तक के पृ० १०५ मे उद्धत किया है। हो सकता है द्विवेदीजी के पास पूरा छन्द रहा हो, पर आज वह नहीं मिलता।

३. प्रा० पं० पुस्तक मे 'सुखदेव मिश्र' शीर्षक लेख मे द्विवेदीजी ने इनके सम्बन्ध की उपलब्ध समस्त अनुश्रुतियों का उल्लेख कर दिया है। हम उनको पुनः यहाँ उद्धत करके कलेवर-वृद्धि नही करना चाहते।

४. वे तांत्रिक एवं शाक्त थे। उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण असाधारण कार्य किए। यहाँ तक कि उन्होंने एक वार अपने आशीर्वाद से मर्दनसिंह के प्राण की रक्षा भी की थी। वे सिद्ध थे और कुछ भी कर दिखाने में समर्थ।

५. वे अत्यन्त चरित्रवान् थे, अर्थात् उनमें स्त्रियों के लिए दुर्बलता न थी।

इस प्रकार की अनुश्रुतियों का प्रचलन सदैव असाधारण व्यक्तित्व के कारण ही होता है। इनके माध्यम से सुखदेवजी का असाधारणत्व प्रकाशित होता है।

क्या इन अनुश्रुतियोंकी पृष्ठभूमि में दूसरे सुखदेव कवि तो नहीं? : इन अनुश्रुतियों के पीछे प्रथम सुखदेव जो "कविराज" नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं—का व्यक्तित्व लेशमात्र को भी नहीं जान पड़ता। विनय, शक्ति और स्वाभिमान की जो विभूति इन्हें मिली थी वह उनके पास नहीं थी। फिर मर्दनसिंह की प्राण-रक्षा के लिए देवी की प्रार्थना में लिखे गए कवित से तो यह बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है कि अनुश्रुति के सुखदेव मिश्र का सम्बन्ध मर्दनसिंह से था। इसी प्रकार भगवन्तराय के यहाँ मांस का गुड़हल का फूल हो जाना तथा मदिरा का दूध बन जाना भी इन्हीं के पक्ष में सिद्ध होता है। देवी की सिद्धि एवं तांत्रिकता के लिए इन्हें ही स्वीकार करना होगा। हाँ, यदि दूसरे सुखदेव जिन्होंने अध्यात्म प्रकाश की रचना की थी एवं जो साधु और पंडित थे, उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित भी कुछ गाथायें किसी रूप में इनके नाम के साथ की अनुश्रुतियों में घुल-मिल गई हों तो कुछ आश्चर्य नहीं ?

नेवाज

(कवि का परिचय)

नेवाज सम्बन्धी पूर्व-उल्लेखों की समीक्षा : हिन्दी साहित्य के इतिहास में नेवाज नाम के तीन कवियों का उल्लेख है।[१] इन तीनों का जीवन-काल लगभग एक शताब्दी के भीतर था। पहले नेवाज कवि की कृति है—'शकुन्तला नाटक' जिसका-रचना काल सम्वत् १७३७ वि० है।[२] अन्तिम नेवाज कवि की कृति 'अखरावती' है जो संवत १८०७[३] की रची हुई है। इस बीच के तीन इतिहास-प्रसिद्ध संरक्षको के साथ इनके सम्बन्ध स्थिर किए जाते हैं, जिनके द्वारा इनके समय आदि को निर्धारित करने में सहायता मिलती है। संरक्षक है—आजमशाह, छत्रसाल और भगवंतराय। इन संरक्षकों के अस्तित्व के साथ ही यदि तीन

१. देखिए सरोज० पृ० ४४१; मिश्र०—२, पृ० ४६४ तथा हि० इतिहास, पृ० ३१७
२. हिं० इतिहास पृ० ३१७
३. खोज० १९०६, कवि० संख्या २१७

नामों की धारणा का कुछ गोषण हुआ हो तो यह कहना असंगत न होगा। प्रकाश में आई रचनाओं की सख्या भी केवल ती १ है। पहली और अंतिम कृतियों के नाम व उनका रचना-काल लिखा जा चुका है। तीसरी इन दोनो के मध्य की रचना 'छत्रसाल विरुदावली' है।[1] इसके अतिरिक्त नेवाज के लिखे स्फुट छन्द है जो रीतिकाल के संग्रह ग्रन्थों में मिल जाते है। इनके प्रकीर्ण छंदो में शृंगार और वीर दोनों ही रसों का प्रतिनिधित्व होता है। इन्हीं से यह भी प्रमाण मिलता है कि इनका संबंध भगवंतराय से भी था। सेंगरजी ने भगवंतराय के प्रति लिखा इनका एक छंद भी अपने ग्रंथ में उद्धृत किया जो सम्वत् १७९२ वि० में सादत खाँ के साथ लड़े गए युद्ध में भगवंतराय के पुरुषार्थ को प्रकट करता है। परन्तु वही छद 'शृंगार संग्रह' में हेम कवि के नाम से लिखा हुआ है। 'शृंगार संग्रह' में नेवाज का एक दूसरा छंद है जो भगवंतराय की यशप्रशस्ति में कहा गया है। इस प्रकार यह तो पुष्ट हो ही जाता है कि वे भगवंतराय के समकालीन थे और उनका भगवंतराय से सम्बन्ध भी था। शृंगार-संग्रह में भगवंतराय के प्रति लिखा गया इनका छद किसी अन्य प्रसंग पर कहा गया प्रतीत होता है।

छत्रसाल और भगवंतराय के यहाँ रहने वाले नेवाज में कुछ समान प्रकृति के लक्षण : अतः नेवाज नाम के उस कवि की छान-बीन करना आवश्यक हो जाता है जिनका सम्बन्ध भगवंतराय के साथ था। नेवाज नाम के कवियों की कृतियों के अवलोकन से प्रकट होता है कि शकुन्तला नाटक के लेखक नेवाज आजमशाह के समकालीन थे जिन्होंने ब्रजभाषा के अति प्रचलित कवित्त और सवैया छन्दों में शकुन्तला नाटक की रचना की थी जो युगानुसार नायिका-भेद आदि समग्र साहित्यिक वातावरण को प्रस्तुत करता है। अभिनव सूझ-बूझ एवं मौलिक प्रतिपादन के कारण इस कृति को रीति-काल में अत्यधिक प्रसिद्धि मिली। इनकी प्रतिभा अत्यन्त उच्च कोटि की तथा भाषा-शैली अत्यन्त समर्थ और सरस थी। वे संभवतः इस ग्रन्थ को लिखने के बाद अधिक दिनों तक जीवित रहे होंगे अन्यथा परवर्ती काल की उनकी कृतियों को काव्य-रसिक जन आसानी से भुला नही सकते थे। उनके एक इसी ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियाँ आज भी इधर-उधर देखने को मिल जाती हैं। शायद दास ने अपने काव्य-निर्णय में शकुंतला नाटक के लेखक को ही ब्रजभाषा कवियों के आचार्यों में स्थान दिया है। फिर भी आजमशाह और छत्रसाल के समय की निकटता देखकर हमने "छत्रसाल विरुदावली" से शकुतला की भाषा-शैली

---

१. खोज० १९१२, कवि संख्या १२६

मिलाकर देखने का प्रयत्न किया पर 'छत्रसाल विरुदावली' सुलभ न हो सकी।[1] अतः इस सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते हैं। पर भगवंतराय और छत्रसाल के यहाँ रहने वाले नेवाज नामधारी कवियों में द्वित्व सिद्ध करना कठिन होगा। वास्तव में दोनों की अभिन्नता की धारणा का पोषण इनके यहाँ रहने वाले नेवाज की काव्य-गत प्रवृत्तियों में एवं स्वभाव आदि से हो जाता है। भगवंतराय और छत्रसाल की प्रशस्ति में काव्य-रचना करनेवाले "नेवाज" की प्रवृत्ति किसी ऐसे नायक के गुण-कथन की ओर थी जो तत्कालीन दिल्ली के मुस्लिम शासन का विरोधी रहा हो तथा जिसमें हिन्दुत्व को स्थापित करने की अधिकतम शक्ति हो। उसे हिन्दुओं के उत्कर्ष से अपार हर्ष होता था। मुसलमानों के पराभव में उसकी अभिलाषा फलीभूत होती थी।[2] इसके अतिरिक्त छत्रसाल और भगवंतराय समकालीन भी थे तथा सहयोगी भी। अतः इतनी बातों को सामने रखकर कहा जा सकता है कि इन दोनों के सम्पर्क में आने वाले "नेवाज" यदि एक ही व्यक्ति रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि नेवाज और छत्रसाल का सम्बन्ध परवर्ती काल में ही घटित हुआ होगा। तभी भगवंत कवि के पश्चात् उनका छत्रसाल के यहाँ पहुँचना बताया जाता है।[3] छत्रसाल विरुदावली के जो कुछ छंद प्रचलित हैं उनसे भी पुष्ट होता है कि नेवाज कवि यहाँ काफी बाद से पहुँचे होंगे। इतने बाद को कि छत्रसाल की वीरता की धाक जम चुकी थी। उधर परवर्ती काल में भगवंतराय और छत्रसाल दोनों ही अत्यन्त निकट थे अतः एक ही कवि दोनों के सम्पर्क में आ गया हो और दोनों में ही अपने अंतर्निहित भावों की सिद्धि देखकर वह दोनों के प्रति अपने हृदय को निवेदित करता रहा हो तो यह एक दूरारूढ़ कल्पना न मानी जानी चाहिए। अतः भगवंतराय और छत्रसाल के सम्पर्क में रहने

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित खोज-रिपोर्ट सन् १९१२-१४ में मंगनजी उपाध्याय तुलसी चौतरा मथुरा में उक्त ग्रन्थ का होना लिखा है, पर हमें मंगनजी के पुत्र के पास वह ग्रन्थ नहीं मिला। उन्होंने बताया कि उनके यहाँ से यह ग्रन्थ कोई ले गया है, कौन ले गया है, उन्होंने यह भी नहीं बताया।

२. नेवाज कवि का छत्रसाल के लिए लिखा "दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी सी जर आती" प्रतीकवाला छंद और भगवन्तराय के यहाँ लिखे छंद की पंक्ति "जवन दयंतन के जोम को मिटाइबे को निरखी नेवाज तोपैं कौंध की कला सी है" इस प्रसंग में विचारणीय हैं।

३. "भली आजु कलि करत हो, छत्रसाल महाराज
जहँ भगवन गीता पढ़ी तहँ कवि पढ़त नेवाज"   मिश्र० भाग-२ पृष्ठ ३१७ में उद्धृत

वाले नेवाज को इस समय एक ही व्यक्ति मानना उचित है, जो प्रथम नेवाज से भिन्न थे। तीसरे नेवाज कवि जिन्होंने अखरावती की रचना की है, एक साधु थे। उनकी रुचि आध्यात्मिक विषयों में थी। पर यह असम्भव नहीं कि इन दोनो संरक्षकों के दरबारों में रहनेवाले दूसरे नेवाज कवि ही अंत काल में साधु एवं अध्यात्मनिष्ठ हो गए हों। तीव्र धर्म-भावना के कारण उस युग के वातावरण में जो उद्वेग विधर्मी को नष्ट करने के लिए हो सकता था वही यौवन के उत्साह के समाप्त होने पर अथवा असफलता या निराशा के ही मिलते रहने पर एक दूसरी ही दिशा में मुड़ सकता था जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति में विरक्ति अथवा अध्यात्म रुचि प्रकट हो सकती है। इसी दृष्टि से दूसरे नेवाज कवि और अखरावती के रचनाकाल तीसरे नेवाज कवि के अभिन्नत्व को अनुमानित करनेवाली इस कल्पना को सामने रखा जा रहा है। यहाँ हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो की दी हुई सूचना भी इस प्रसंग में आवश्यक रूप से विचारणीय है। इतिहास के अनुसार पहले नेवाज जो शकुंतला के रचयिता हैं अंतर्वेद के निवासी थे,[१] दूसरे बुंदेलखंड के थे जिन्होंने "अखरावती" लिखा है। तीसरे बिलग्राम के जुलहा थे।[२] परन्तु इस निर्णय के लिए आधार कौन सा ग्रहण किया गया है यह कुछ भी स्पष्ट नही। सम्भवतः आश्रयदाताओं के सम्बन्ध के अनुसार अनुमान का ही सहारा लिया गया है। इसलिए भगवंतराय से सम्बन्धित नेवाज कवि का निराकरण करना आवश्यक हो जाता है।

भगवंतराय से सम्बन्धित नेवाज कवि का परिचय

भगवंतराय से सम्बन्धित नेवाज कवि के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते है कि वे शकुन्तला के रचयिता नेवाज से भिन्न थे। सम्भव है वे और छत्रसाल के यहाँ रहनेवाले नेवाज एक ही व्यक्ति रहे हों। इस सम्बन्धानुमान के कुछ सकेतों की चर्चा पिछली पंक्तियो में हम कर चुके है। इतना ही नही यह भी सम्भव हो सकता है कि इन्हीं दूसरे नेवाज कवि ने परवर्ती काल में चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली हो और स्वयं अखरावती की रचना भी की हो।[४] यहाँ नेवाज नाम से भी इस अनुमान की पुष्टि में थोडा बल मिल जाता है। नेवाज नाम हिन्दुओं मे प्रचलित नही

१. हि० इतिहास० पृष्ठ ३१७, परन्तु मिश्र २-पृष्ठ ४६४ मे छत्रसाल के यहाँ रहनेवाले नेवाज को ही शकुन्तला का लेखक माना गया है।

२. मिश्र०-२ पृष्ठ ७०२

३. मिश्र०-२पृष्ठ ७७८

४. खोज० १६०६, कवि संख्या २१७

अतः एक साथ अनेक नेवाज कवियों की कल्पना से संदेह उत्पन्न होता है। फिर कोई साधु अपना नाम नेवाज क्यों रखता ? साधुओं में तो यह नाम अप्रिय भी हो सकता है। अतः बहुत सम्भव है जिन महाशय ने नेवाज नाम से कवि-कीर्ति अर्जित की थी वे ही साधु हो जाने के बाद भी न तो कविता से मुख मोड़ सके और न पूर्व अर्जित कीर्ति को नाम बदल कर विसर्जित ही करना चाहा। मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियाँ तो उनके भीतर हर दशा में छिपी ही रहती हैं अतः यह अनुमान उपेक्षणीय नहीं।

इस प्रकार हम मान सकते हैं कि आलोच्य नेवाज कवि छत्रसाल के आश्रित थे। यहीं से वे भगवंतराय के सम्पर्क में आये। इसके पश्चात् अपने इन दोनों प्रमुख आश्रयदाताओं का निधन होने पर साधु होकर अध्यात्म एवं ईश-चर्चा की ओर अपनी कविता के प्रवाह को मोड़ दिया, इसी के परिणामस्वरूप अक्षरावती की रचना हुई। यही रचना कवि की अंतिम रचना थी जिसके पश्चात् का उनका जीवन और कृतित्व अंधकार में है।

भूधर

(कवि का परिचय)

भूधर नामधारी चार कवि : शिवसिंह सेंगर ने भूधर नाम के दो कवि लिखे हैं जिनमें एक भगवंतराय के आश्रित थे।[1] मिश्रबन्धुओं ने भूधर नाम के चार कवि गिनाये हैं। ये चारों समकालीन सिद्ध होते हैं। इनमें से तीन जैन मतावलम्बी हैं जिनमें से एक का समय मिश्रबन्धु में सम्वत् १७७१ और दो का सम्वत् १७८१ माना गया है।[2] भगवंतराय के यहाँ रहनेवाले का समय सम्वत् १८०६ लिखा गया है।[3] पर इसे वास्तव में सम्वत् १७६२ मानना ठीक होगा।

इस प्रकार ये भूधर नामधारी कवि समकालीन सिद्ध होते हैं। यह ध्यान में रखना होगा कि मिश्रबन्धुओं के तीन भूधर कवि जैन मतावलम्बी हैं। उनके ग्रन्थों से यह भली-भांति प्रमाणित है। बहुत सम्भव है ये तीनों एक ही कवि रहे हों; मिश्रबन्धुओं ने इन्हें पृथक-पृथक् व्यक्ति मानने का कोई कारण नहीं दिया है अतः उनका मत अधिक विश्वसनीय नहीं है। इनमें से दो के लिए वे लिखते भी हैं कि 'ये आगरा के निवासी थे" तथा "शाहगंज, आगरा के निवासी थे' इस प्रकार के कथन में पर्याप्त भ्रम का सन्निवेश मालूम पड़ता है। इन सब जैन कवियों की

---

१. सरोज०

२. मिश्र०-२, पृष्ठ ५३८; ७१३; ८३०

३. मिश्र०-२, पृष्ठ ७८४

रचनाओ मे काव्योत्कर्ष अधिक नही है, यदि है भी तो वह यत्र-तत्र है। खोज-रिपोर्टों मे जितने अंश हमने पढ़े है उन्ही के आधार पर यह धारणा बनी है।

भगवंतराय से सम्बन्धित भूधर कवि का परिचय : अब प्रश्न उठता है कि भगवतराय से सम्बन्धित भूधर कवि कौन थे ? समय को देखते हुए यह सदेह हो सकता है कि सम्भव है इन्ही तीन जैन भूधर कवियों में से कोई भी व्यक्ति उनके यहाँ रहता रहा हो।

परन्तु यह बात सहसा मानने योग्य नही है। सग्रह-ग्रन्थो मे भूधर के जो दो-चार छद रीतिकालीन धारा के प्रतिनिधि-स्वरूप संकलित है वे विरक्त जैन साधु की लेखनी से शायद ही प्रसूत हुए होगे। इस प्रकार भगवतराय के निधन-काल मे शोकोद्रेक रूप से लिखे गये छन्द तथा रीतिकालीन कविता-शैली के छन्द एक-दूसरे कवि के माने जाने चाहिए जो जैन नही था। मिश्रबंधुओ ने भी इसी आधार पर भगवंतराय के आश्रित कवि को अलग किया है।[1] हमारी इस धारणा की पुष्टि बडौदा विश्वविद्यालय के आचार्य डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिह द्वारा खोजी गई भूधर कवि की 'ध्यान बत्तीसी' नामक रचना से हो जाता है। "ध्यान बतीसी" ३२ छंदो की अत्यन्त सुष्ठु रचना है। कृष्ण के प्रति कवि के ध्यान या कहे तन्मयता की दशा के ये छद परिचायक है। ध्यान बत्तीसी का एक छद उदाहरण-स्वरूप यहाँ प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा—

तैसिये लटक मोर चन्द्रिका चटक सोहै
कुंडल झलक अलकनि की कपोल में
तैसिये चिलक चारु तिलक सभाग भाल
गरै मुक्तमाल गुजमाल चखलोल में
तैसिये दमक जो चमक पीत पटतट
कटि काछनीन काछे रुचिरति चोल में
माई नंदलाल की अनूप छवि बाल देखि,
पारवार कहे लेनी मोल हू अमोल में।

—ध्यान बतीसी

इस प्रकार यह तो मानना ही पडता है कि जैन भूधर कवि के समकालीन ही कोई हिन्दू भूधर कवि भी थे। सम्भवत भगवन्तराय के यहाँ रहनेवाले ये ही भूधर कवि होगे। इनकी रचना प्रौढता भगवन्तराय के यहाँ रहनेवाले भूधर कवि से

[1] तुलना कीजिये मिश्र०-२, पृष्ठ ६८४

बहुत अधिक समता प्रकट करती है। भगवन्तराय के निधन पर लिखा गया यह कवित्त यहाँ द्रष्टव्य है—

दान गयो दुनी से गुमान पुरवासिन को
गुनिन के गाँठिन सों मानिक छूटिगो
जूझे भगवंत जू के धरम धरासों गयो
सूर के सिंगारन ते सेत ऐसो फूटिगो
'भूधर' भनत याही हूक होत हिए माँहि
कवि कविताई करिवे से मन हूठिगो
जाचक की मंशा को पूर अब कौन करै
जो तो हतो भूमें कलपद्रुम सो टूटिगो'

—भूधर

ये भूधर कवि भगवन्तराय के समकालीन और उनके अत्यन्त घनिष्ठ रहे होंगे, ऐसा उनकी इस रचना से विदित होता है। इससे अधिक इनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं ज्ञात है। कवि ने ध्यान बत्तीसी में भी अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है।

चतुरेश

(कवि का परिचय)

चतुरेश कवि का नाम इन पंक्तियों के पूर्व प्रकाश में नहीं आया। इनका जन्म-स्थान असोथर था। ये जाति के भाट तथा भगवन्तराय के आश्रित व समकालीन थे। आजकल इनके परिवार के लोग असोथर में नहीं हैं। सम्भव है कहीं अन्यत्र जाकर बस गए हों। भगवन्तराय के अन्तिम युद्ध को लेकर लिखे गए इनके कुछ छंद असोथर में ही मिले हैं। एक छंद मे इन्होंने अपना परिचय भी दे दिया है :

आठ कोस असनी भिटोरा है नवें कोस
पाँचकोस किसुनपुर एकडला के पास है
तीस कोस कानपुर फतुहावाद वारा कोस
वीस कोस चित्रकूट जहाँ राम दास हैं
तीस कोस प्रागराज काशी है साठ कोस
डेढ़ कोस सूर्य सुता करत पाप नास हैं
खीची भगवंत नृप मेरो चतुरेश नाम
गाजीपुर परगना असोथर में वास है

इनका कविता-काल संवत् १७९२ के आसपास मानना ठीक होगा। इनके उपलब्ध छन्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने भगवन्तराय के अन्तिम युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन किया था। इनकी अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं ज्ञात हो सका है।

मल्ल

(कवि का परिचय)

मल्ल कवि के हमें दो छन्द मिले हैं जो उन्होंने भगवन्तराय के विषय में लिखे थे। इन्हीं के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि ये भगवन्तराय के आश्रित थे। इनके परिचय में मिश्र-बन्धुओं ने लिखा है—"......भगवन्तराय असोथर वाले के यहाँ थे। ये महाशय तोष कवि की श्रेणी के कवि थे। याज्ञिक दोहासार नामक पुस्तक के आधार पर इस कवि का समय १७२० के लगभग मानते हैं।"[1] मिश्र-बन्धुओं ने १७२० के आगे सन्, संवत् नहीं लिखा है। संवत् तो ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि भगवन्तराय का निधन संवत् १७९२ में हुआ था। अतः इनका कविता-काल संवत् १७९२ के आसपास मानना ही ठीक होगा। इसके सिवा इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

भगवन्तराय के प्रति लिखा गया यह कवित्त इनकी काव्य-शक्ति का परिचय भी देता है :

आजु महा दानिन को सूखिगो दया को सिन्धु
आजु ही गरीबन को सब पथ लूटिगो।
आज दुजराजन को सकल अकाज भयो
आजु महराजन को धीरज हू छूटिगो।
मल्ल कहै आजु सब मंगन अनाथ भये,
आजु ही अनाथन को करम सो फूटिगो।
भूप भगवंत सुरधाम को पयान कियो
आज कवि गनन को कलपतरु टूटिगो।

सारंग

(कवि का परिचय)

सारंग नामक कवि भगवन्तराय के यहाँ थे। इनका उल्लेख फतेहपुर जिले के गजेटियर में भी है। इन्हें गजेटियर में असोथर का कवि कहा गया है। परन्तु असोथर वालों को इनके बारे में अब कुछ भी याद नहीं है।

---

१. मिश्र० भाग—२, पृ० ६८३

इनका भगवन्तराय के सम्बन्धों को प्रकट करनेवाला जो छन्द प्राप्त होता है वह भवानीसिंह की वीरता का उल्लेख करता है। इस आधार पर यह भ्रम न हो कि ये "भवानीसिंह" के आश्रित थे, इसलिए यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि भवानीसिंह भगवन्तराय के भतीजे और उनके दाहिने हाथ के समान थे। गोपाल, मुहम्मद आदि प्रायः सभी कवियों ने उनकी वीरता का मार्मिक चित्रण किया है, अतः हमारे विचार से सारंग को भी भगवन्तराय का आश्रित कवि मानना ठीक होगा। सारंग कवि के सम्बन्ध में इससे अधिक कोई जानकारी नहीं है। इनका छन्द यहाँ उदाहरण रूप में देना ठीक होगा :

तंगन समेत कारि बिहित मतंगन सो
रुधिर सों रंग रणमंडल में भरिगो
सारंग सुकवि भनै भूपति भवानीसिंह
पारथ समान महाभारत सो करिगो
मारे देखि मुगुल तुराब खान ताहो समैं
काहू अस न जानी काहू नट सों उचरिगो
बाजीगर कैसी दगाबाजी करि,
हाथी हाथा हाथी ते सहादत उतरिगो

ना० प्र० पत्रिका, भाग—६, अंक ३ संवत् १६८२

अन्य कवि

इन कवियों के अतिरिक्त भगवन्तराय के मण्डल में हेम, कंठ, इन्द्र, नाथ और श्यामलाल भी आते हैं। हेम और कंठ के "भगवन्तराय" के सम्बन्ध में लिखे छन्द भी मिलते हैं। अतः भगवन्तराय के साथ इन दोनों के सम्बन्ध निर्विवाद हैं। ये कवि साधारण प्रतिभा के थे। इनकी लिखी हुई अन्य कोई सामग्री नहीं मिलती अतः इनके बारे में कुछ भी कह सकने में असमर्थता है। तीसरे कवि श्यामलाल का भगवन्तराय को सम्बोधित करके लिखा गया एक भी छन्द नहीं मिला। परन्तु "शिवसिंह सरोज" फतेहपुर गजेटियर व स्थानीय अनुश्रुतियों से इनका और भगवन्तराय का सम्बन्ध सिद्ध होता है। असोथर के कुछ पुराने लोगों ने यह भी बताया कि इनके छन्द भी पहले कुछ लोगों को स्मरण थे पर अब वे किसी की स्मृति में नहीं रहे। सूदन के "सुजान चरित" में श्यामलाल कवि का नाम मिलता है। अतः ये सूदन तथा भगवन्तराय के समकालीन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इनको भगवंतराय का समकालीन मानकर उनका आश्रित समझना समीचीन होगा।

पंचम अध्याय

रचनाओं का वर्ण्य-विषय

इस अध्याय में भगवन्तराय के मंडल के कवियो की रचनाओं की विषय-वस्तु का परिचय दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध मे हमने प्रबन्ध के विषय के अनुसार केवल उन्ही रचनाओ को इसके अन्तर्गत समाविष्ट किया है जो या तो भगवन्तराय के संरक्षण काल मे लिखी गई या उनसे सम्बन्धित कवियो द्वारा उनके जीवनकाल के बाद स्वय उनके व्यक्तित्व या जीवन को वर्ण्य बनाती है। इसके अतिरिक्त मडल के कवियो के उन ग्रन्थो का भी सक्षिप्त विवरण दे दिया गया है, जो या तो प्रकाशित नही है या उनके सम्बन्ध मे भ्रमपूर्ण अथवा अत्यल्प जानकारी है। इस प्रकार "जयसिह विनोद," रासा भगवन्तसिह का, भगवन्त विरुदावली, भगवन्तराय खीची का जगनामा का प्रमुख रूप से और मर्दन रसार्णव, छद-विचार, रसदीपक, अलंकार दीपक, रति-विनोद चन्द्रिका प्रभृति रचनाओ का गौण रूप से परिचय दिया गया है।

जयसिह विनोद

प्रति परिचय : राजवैद्य वेरुई के यहाँ से प्राप्त देव की प्रस्तुत रचना "जयसिह विनोद" की प्रतिलिपि सुखनन्दन शुक्ल ने संवत् १८८८ मे की थी। प्रतिलिपिकार ने स्वय ही इसका उल्लेख ग्रन्थ मे कर दिया है। कागज और स्याही देखने मे काफी पुराने प्रतीत होते है अतः प्रतिलिपिकार के शब्दो की प्रामाणिकता पर सन्देह करने का कोई कारण नही जान पडता। इसके पृष्ठों का आकार ८" × ४" है। कुल ३५ पन्नो मे रचना समाप्त होती है। इसके अन्तर्गत सात विनोद (अध्याय) औरछंद-सख्या २९३ है। सबसे अधिक दोहा छद का प्रयोग है जिनकी सख्या १४९ और शेष १४४ मे कवित्त-सवैया छद है।

विशेष : प्रतिलिपिकार सुखनन्दन शुक्ल कम पढ़े-लिखे व्यक्ति जान पड़ते है। इस कमी के कारण रचना मे अनेक दोष व्याप्त हो गये है। कही-कही छंदो की पंक्तियाँ और शब्द छोड़ गये है तो कही विशेष पंक्ति में कुछ अन्यत्र का अंश जोड़ या घटा दिया है। लिखने मे काट कूट और अतिरिक्त लिखावट (over writing)

भी है। देव की इस रचना में उपलब्ध ऐसे छंद या दोहे, जो अन्य रचनाओं में भी देखने को मिल जाते हैं, उनको मिलाकर देखने से यह दोष अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। शब्द रसायन के २८वें पृष्ठ पर मुद्रित इस दोहे को देखिये—

रस, सिंगार हास्य अरु करुना, रौद्र (सु) वीर भयानक कहिए
अद्भुत अरु वीभत्स सांत काव्य मते, ये नव रस कहिए

परन्तु जयसिंह विनोद में इसका पाठ इस प्रकार है—

रस भेद रस सिंगार हास्य अरु करुणा रौद्र वीर भयानक कहिये
वीभत्सो अद्भुत अरु सांत काव्यमृत ए नव रस लहियें।

"काव्य मत" को लिपिकार ने "काव्यमृत" लिख दिया है। यह तो साधारण-सा प्रमाद है, पर कहीं-कहीं तो छंद की पूरी पंक्ति ही भ्रष्ट मालूम पड़ती है। प्रति के अध्ययन में हमने सर्वत्र मूल प्रति का ही अनुसरण किया है केवल कुछ स्थानों पर जहाँ अन्य किसी प्रति में कोई छंद मिल गया है और हमारी प्रति का लेख स्पष्ट रूप से अर्थ का अनर्थ करता प्रतीत हुआ है वहीं पाठ बदला गया है, पादटिप्पणी में इस अन्तर को देने की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि वे लिपिकार के भूल के ही उदाहरण हो सकते थे और कुछ नहीं।

प्रामाणिकता : जयसिंह विनोद की प्रामाणिकता के लिए बहिःसाक्ष्य नहीं प्राप्त होता। न तो देव के ही प्राप्त किसी ग्रंथ मे इस ग्रंथ का संकेत मिलता है और न भोगीलाल एवं शिवसिंह सेंगर से लेकर अब तक देव-काव्य के अनुसंधायकों ने ही इसका कहीं उल्लेख किया। अतः स्पष्ट है कि इसके लिए केवल अन्तः-साक्षियों पर ही निर्भर करना पड़ेगा। इस प्रश्न पर विचार करते समय हम निम्न प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) स्वयं देव ने इस ग्रंथ में अपना परिचय दे दिया है जो अन्यत्र प्राप्त उनके परिचय से पूर्ण रूप से साम्य रखता है। कवि-परिचय का दोहा इस प्रकार है—

नगर इटाए बास जिहि काश्यप बंस प्रमोद
देवदत्त कवि कृत सरस श्री जैसिंह विनोद।

परिचय के अतिरिक्त कवि ने प्रत्येक विनोद (अध्याय) के अन्त में पुष्पिका दी है जो इस प्रकार है "इति श्री महाराजकुमार श्री जैसिंह विनोद देवदत्त कवि विरचिते राजवंश वर्णनपूर्वक शृंगार रस वर्णन प्रस्तावना प्रथम विनोद" ऐसी पुष्पिका उनके अन्य ग्रन्थों में भी मिलती है। ध्यान देने की बात है कि कवि ने प्रायः सभी ग्रन्थों में इस प्रकार की पुष्पिकाओं में अपना पूरा नाम "देवदत्त" ही लिखा है।

(२) देव के सभी ग्रन्थों में छन्दों का उलटफेर मिल जाता है। कुछ नये और कुछ पुराने छन्दों को मिलाकर वे एक नई रचना को जन्म दे डालते थे। जयसिंह

विनोद के काफी छन्द उनके अन्य ग्रंथों में मिल जाते है। वास्तव में इनकी संख्या इतनी अधिक है कि उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। उदाहरण के छन्दों के अतिरिक्त लक्षण के दोहे भी अन्य ग्रन्थों में मिलते है। नायिका के हाव प्रकरण के लक्षण "रस-विलास" से मिलते है तो रस प्रकरण की सारी सामग्री ज्यों की त्यो "काव्य रसायन" में रखी हुई मिल जाती है।

(३) देव अत्यन्त समर्थ कवि थे उनकी भाषा, उनके मुहावरे, उनके बिम्ब आदि रीतिकाल के काव्य में अलग खड़े होकर बोलते है। देव को भाषा और अभिव्यक्ति की कुछ भंगिमायें विशेष रूप से भा जाती थीं और वे अक्सर अपने काव्य में उसका प्रयोग कर दिया करते थे। खिड़की के पास किसी नायिका का झर (लपट) की या चंचला की तरह दिख जाना, अँचै जाना (तृप्त होना) और "बीस बिसे" (पूर्णरूप) जैसे रूढ़ अर्थवाची शब्दों के प्रयोग इनकी भाषा में एक विशेष प्रकार की व्यंजना से सम्पृक्त होकर प्रयुक्त हुए है जिनका प्रस्तुत रचना में पूर्ण नियोग है।

रस विलास की यह पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"को बिरचै कुलकानि अँचैमन कै निहँचै इह चैन चढ़ी है।"

"जयसिह विनोद" में इसी अँचै शब्द का प्रयोग देखिये—"अँचै गये दृष्टि में दृष्टि खुभैकै" वास्तव में दो शब्दों के या दो मुहावरों के प्रयोग भिन्न-भिन्न कवियों में मिल सकते है। परन्तु देव मुहावरों और शब्दों में नया अर्थ भरने में समर्थ हुए है। "अँचवना" आचमन का अपभ्रंश है जो भोजन के पश्चात् हथ धोने की क्रिया के लिए प्रयुक्त होता है। इससे तृप्त होने का बोध होता है। इस शब्द को देव ने शृंगार के रंग में रंग दिया है। रस-विलास की जो पंक्ति ऊपर लिखी गई है उसमें इसका अर्थ है "कुलकानि को समाप्त करना" और जयसिह विनोद में उसी शब्द का अर्थ है "तृप्त होना"—प्रेमी-प्रेमिका ने एक-दूसरे को देखा और अपने हृदय की तृप्ति का भाव जता दिया। इस तरह की भाषा और शैलीगत विशेषताएँ जयसिह विनोद में पर्याप्त रूप से विद्यमान है।

जयसिह विनोद में भगवन्तराय की प्रशस्ति व उनके पूर्वजों की कीर्त्ति भी कवि ने विशेष मनोयोग से लिखी है। देव-काव्य के इन अंशों में भी सर्वत्र उनके व्यक्तित्व की व उनकी शैली की स्वगत विशेषता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जयसिह विनोद के इस छंद को इस दृष्टि से देखिये—

सकल मही जु थिर थाप्यो राज बीजु जाम्यो
पुन्य जल पीजु सुधा सागर की बीची है
चार्‌यो सिन्धु कूल कूल उलह्यो समूल
अनुकूल फूल फल दल साखा सुख सींची है

जाको करिवार परिवार तोलै बैरिन को
दान कर बार दरबार की दरीची है
दिल्ली सुलतान मध्यभूमि भूप भान मानों
मानों सुलतान चहुआन खान खींची है।

अब उपर्युक्त छन्द की तुलना "सुजान विनोद" में पातीराम की प्रशंसा में लिखे गये छन्द के साथ कीजिये दोनों में कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्धि शैली में अपने आश्रय-दाता की कीर्ति का अतिरंजनापूर्ण वर्णन करता हुआ दिखाई पड़ता है। भाषा तथा इस प्रसंग की उक्तियों में भी बहुत कुछ एकस्वरता है :—

पातीराम नन्दन प्रतापी संक तापति को
कीरत कहानी जोति जागती जलप की
शत्रुन के सोखे परिपोखे परिवार तोखे,
'देव' द्रुम वितरनि राखे न कलप की
दान भरि भौन चित चंपत कुबेर धन,
संपति अधीन कीन्ही दासी ज्यों तलप की
श्रीपति के अङ्क जिय सोवै निःसंक लछे,
मान के कलन तर सोना संकलप की।

—सुजान-विनोद

शृंगार का भेद संयोग और वियोग में माना है। वियोग के चार भेद होते है। पूर्वराग की अवस्था में १० दशायें होती हैं। उन दशाओं का कथन करके सखी नायक-नायिका का मिलन कराती है और परिहास में उपसंहार करती है। तृतीय विनोद में नायिका वर्णन है। नायिका के ८ गुण होते हैं। मन, वचन और काया की दृष्टि से नायिका की तीन अवस्थायें होती हैं। मानसिक दशा के विचार से आनन्दा, विमोहा और तृतीय दशा (इसका नामकरण नहीं है) होती है। प्रत्येक अवस्था १२ वर्ष की होती है। इस प्रकार ३६ वर्ष पर्यंत की नायिका का विचार होता है।

उपर्युक्त विभाजन की विशेषता यह है कि कवि ने रस की दृष्टि से वर्णन का आधार ग्रहण किया है। इन तीन अवस्थाओं में नवों रसों का समाहार कर दिया गया है। काया की दृष्टि से दूसरा भेद (कायिक) होता है। जो सात वर्ष के क्रम से पाँच अवस्थाओं को पार करता हुआ नायिका में पेंतीस वर्ष की अवस्था तक रहता है। देवता, गन्धर्व और मनुष्य इन तीन अंशों की दृष्टि से इसका वर्गीकरण किया गया है। इन तीन आधारों का समाहार कवि ने नायिका में गौरी, लक्ष्मी और सरस्वती देवियों की स्थिति में कर दिया है। गौरी पूजा के लिए, लक्ष्मी भोग के लिए और सरस्वती सन्तानोत्पादन के लिए निर्धारित की गई है।

वचन (वाचिक) की दृष्टि से नायिका के स्वकीया, परकीया तथा सामान्या ये तीन भेद होते है। स्वकीया के तीन और परकीया के दो भेद किये गये हैं। स्वकीया के तीन भेदों में से प्रत्येक के दस अवान्तर भेद गिनाये गये है। परकीया के दो भेदों में से ऊढ़ा के संयोग की दृष्टि से बारह भेद होते है। सामान्या के भेद नही किये गये। इस प्रकार देव ने तीस (३०) बारह और एक के क्रम से नायिका के ४३ भेद किये है और इनमें से प्रत्येक के १८ भेद बताकर ३८४ भेद गिनाये हैं।

चतुर्थ विनोद में स्वकीया के सभी भेदों के उदाहरण देकर उसके अतर एवं बाह्य स्वरूप का वर्णन किया गया है।

पंचम विनोद में मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा की दृष्टि से नायिका के भेद किये गये है। मुग्धा की दस दशायें कही जा चुकी है। मध्या की आठ अवस्थाओं के लक्षण और उदाहरण दिये गये है।

प्रौढ़ा के दस हाव होते है। इन हावों में भावों की स्थिति होती है, जो रस के कारण होते है। यहाँ पुनः कवि नायिका-भेद की रस की दृष्टि से सार्थकता सिद्ध करता है।

---

१. स्थायी का लक्षण नही है। संभव है प्रतिलिपिकार के प्रमाद से वह छूट गया हो।

गौण शृंगार : संयोगेतर अवस्थाओं को रौद्र, करुण और दुख आदि के कारण गौण शृंगार कहते हैं। इनकी पाँच अवस्थायें होती हैं। "मान" के तीन भेद बताने के अनन्तर अन्य संयोग दुखिता, और कनिष्ठा इत्यादि के वर्णन हैं।

षष्ठ विनोद में परकीया, ऊढ़ा, ऊढ़ा का उराहना, प्रेमाधीन ऊढ़ा तथा अनूढ़ा के उदाहरण। स्वकीया नायिका में ८ गुणों की स्थिति होती है जबकि परकीया कुल से रहित होती है। वेश्या में इनमें से अनेक गुणों का अभाव रहता है। शुद्ध रस स्वकीया में ही होता है, परकीया में प्रेम तो रहता है पर रस नहीं होता। परकीया के ६ भेदों के लक्षण और उदाहरण।

मुग्धा आदि के क्रम से स्वकीया के १३ भेद परकीया के दो भेद तथा एक-एक सामान्या को मिलाकर १६ भेद होते हैं। प्रत्येक की ८ अवस्थायें करने से १२८ तथा तीन गुण के अनुसार विभाजन करने से ३८४ नायिकायें होती हैं। गुणों के उदाहरण एक ही छन्द में हैं।

इस विवेचन का अन्तिम वाक्य है "इति नाइका मुख्य गौन रसवती प्राचीन मत तीन सौ चौरासी भेद नवीन भेद तीन सौ चवालीस।"

नायिका-भेद वर्णन करने के पश्चात् कवि ने चार प्रकार के नायकों के लक्षण व उदाहरण उनके देकर चार प्रकार बताए हैं। जिस प्रकार नायक का हितू सखा होता है उसी प्रकार नायिका-पक्ष में यह काम सखी करती है जो शिक्षा और संयोग कराने में सहायक होती है। सप्तम विनोद में रस-चर्चा है। स्थायी मान ही रस की स्थिति ग्रहण करता है। विमुख, अनुमान सात्विक संचारी आदि का रस-क्षेत्र में स्थान। नवों रसों के स्थायी भाव और उनके विभाव तथा अनुभाव।

हास्य रस की परिभाषा और उसके तीन भेदों का उल्लेख है। इसी प्रकार करुणा, रौद्र, वीर (इसके लक्षण में युद्धवीर, दयावीर और दानवीर के संकेत निहित है) भयानक, वीभत्स, अद्भुत रसों के लक्षण व उदाहरण दिये गये हैं।

इसके अनन्तर देववंदना, आशीर्वचन और आत्म-परिचय के अनन्तर ग्रन्थ समाप्त होता है।

रासा भगवंतसिंह का

प्रति परिचय : सदानन्द कवि की कृति 'रासा भगवन्तसिंह का' नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में संवत् १६८१ में प्रकाशित हुआ है। हमारे अध्ययन का आधार यही है। बाबू ब्रजरत्नदास को इस रचना की प्रति भिनगा राज्य में मिली थी। इसकी एक प्रति राजा बलरामपुर के पुस्तकालय में भी है परन्तु हमने उसे नही देखा।

प्रामाणिकता : यह रचना कवि सदानन्द की ही है यह तथ्य ग्रन्थ में कविनाम की छाप से विदित होता है। कवि ने छन्द के आग्रह के अनुसार कहीं "नंद" और कहीं "सदानन्द" नाम की छाप छोड़ी है।

रचना-काल : प्रस्तुत कृति में कवि ने रचना-काल नहीं दिया है। परन्तु उसके वर्णन इतने सजीव और आत्मीयतापूर्ण हैं कि कवि का नायक का समकालीन होना सिद्ध होता है। अतः यह कृति भगवन्तराय के निधन के थोड़े ही समय पश्चात् लिखी गई होगी।

वर्ण्य-विषय : कवि सदानन्द ने भगवन्तराय के कोड़े के परगने पर अधिकार और रसूलाबाद की मालगुजारी के प्रश्न पर भगवन्तराय के साथ सादत खाँ के नायब नूरमुहम्मद का संघर्ष और नूरमुहम्मद की पराजय ही सादत खाँ और भगवन्तराय के बीच हुए युद्ध का कारण बताया है।

प्रस्तुत रचना में नायक भगवंतराय के जीवन के अन्य पक्षों पर भी अच्छा प्रकाश पडता है। इस छोटी-सी कृति मे कवि ने रस और छन्दों की नियोजना मे बडा ही कौशल प्रदर्शित किया है। छन्दों में कवि ने दोहा, पद्धरि, मत्तगयंद, त्रोटक, भुजंगप्रयात, कुण्डलिया, गीतिका, लीलावती, चन्द्रकला, त्रिभंगी, ससिवदना, संखनारी, रूपघनाक्षरी, सर्वकल्यान, दण्डक और कवित्त छन्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार छन्दों की रसानुकूल योजना से रचना में बड़ी ही स्फूर्ति आ गई है। रस की दृष्टि से भी कवि की यह कृति अत्यन्त सफल है। भाव, रस और देशकाल के उचित विचार के कारण यह कृति एक सरस और सफल खण्ड-काव्य है। कवि ने प्रकृति चित्रण की नियोजना में अन्तर्वेद के दुर्भाग्य का पूर्वाभास किस कुशलता से इंगित किया है यह द्रष्टव्य है—

"तबहीं सर छांड़ि मराल गये
चकई चकवा बहु सोग लए
अति हर्ष उलूकन नेत्र खुले
सकुचे जल जात कुमुंख फुले" —रासा०

इस रचना में भगवंतराय का दाम्पत्य, उनकी दानवीरता और उनके उत्साह आदि का चित्रण बड़ी हृदयग्राही रीति से किया है। सब मिलाकर काव्य और इतिहास दोनो ही दृष्टियों से यह रचना बहुत ही उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होती है।

भगवंत-विरुदावली

प्रति परिचय : असोथर के आस-पास इस रचना की लोक-प्रियता अपेक्षाकृत

थे। वे इसे प्राप्त करना चाहते थे। ग्रंथाधिकारी ने उनके भय से इसे किसी को दिखाना व बताना भी बन्द कर दिया। श्री शिवनारायणसिंह के बहुत कहने-सुनने पर अपने घर बैठकर उन्हें ही इसकी प्रतिलिपि करने की वैद्यजी ने अनुमति दी थी। हमें श्री शिवनारायणसिंह की दी हुई प्रतिलिपि को अध्ययन का आधार बनाना पड़ा है।

प्रामाणिकता : यह रचना मुहम्मद कवि की है। मुसलमान कवि ने परम्परा के अनुसार रचना का आरम्भ हम्द से किया है। हम्द में खुदा की प्रशंसा की जाती है। हम्द के उपरान्त नात है। नात में पैगम्बर की तारीफ रहती है। हम्द और नात के अतिरिक्त शाहे वक्त की बन्दगी है जो कहीं-कहीं आरम्भ में इन सबके बाद में होती है परन्तु इस रचना में वह अन्त में आई है :—

"मुहम्मद शाह के कहते
उसी के राज में रहते
वही साहेब हमारा है।"

इसके अतिरिक्त भाषा व शैली पर भी फारसी का बहुत अधिक प्रभाव है। रचनाकार की शैली व उसके संस्कार जहाँ एक ओर पूर्ण रूप से मुस्लिम संस्कृति की पृष्ठभूमि को इंगित करते है वहीं भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित है। इसमें विजात छंद का प्रयोग है जो हिन्दी का अपना छन्द है। इस प्रकार यह रचना तत्कालीन दो भाषाओं के साहित्य का समन्वित रूप प्रस्तुत करती है। कवि के वर्णन व नायक के प्रति उसकी सहानुभूति एवं ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता आदि कवि को नायक का समकालीन सिद्ध करने के लिए प्रभूत प्रमाण प्रस्तुत करते है।

रचना-काल : ग्रन्थ के अन्त में कवि ने रचना-काल भी निबद्ध कर दिया है—

"चहल सी चहल सन लहते मुहम्मदशाह के कहते
उसी के राज में रहते, वही साहेब हमारा है"

इस प्रकार रचना-तिथि चहल=४० × सी=३०—चहल=४०—११६० हिजरी है। ईसवी सन् की दृष्टि से यह समय लगभग १७४८ था।

वर्ण्य-विषय : ईश्वर (खुदा) की वन्दना के पश्चात् कवि ने अपने ग्रन्थ-नायक के पौरुष का बखान किया है। घटनाओं की दृष्टि से जहाँ अन्य कवियों ने अपने वर्णनों को केवल भगवन्तराय के अन्तिम युद्ध में ही अपनी रचना को सीमित रखा है वहाँ इस कवि ने कोड़े के फौजदार जाँनिसार खाँ के साथ हुए युद्ध से प्रारम्भ करके भगवन्तराय के अन्तिम चार युद्धों को सविस्तार सामने रखा है। जाँनिसार खाँ की पराजय से पश्चात् वजीर आजम कमरुद्दीन खाँ के आक्रमण में वजीर-पक्ष

की स्थिति का इस रचना में अच्छा परिचय प्राप्त होता है जो इतिहास की गहरी शोध के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है। इस आक्रमण के समय भगवन्तराय बुन्देलखण्ड में बच कर निकल गए और वजीर के दिल्ली की ओर जाते ही पुनः आक्रमण करके अपना पूरा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। इस परिस्थिति में इनके दमन के लिए कमरुद्दीन खाँ ने सादत खाँ को पत्र लिख कर यह कार्यभार सौंपा। सादत खाँ ने गाजीपुर के दुर्ग पर आक्रमण किया और भगवन्तराय ने डटकर उसका सामना किया जिसमें खाँ को मजबूर होकर संधि करनी पड़ी। संधि के पश्चात् भी उसके हृदय से कटुता का भाव न गया और उसने दुर्जनसिंह नामक व्यक्ति को इनका अन्त करने लिए राजी कर लिया। दुर्जनसिंह धोखा देकर गाजीपुर के किले में अपने आदमियों को लेकर प्रवेश कर गया और उसने भगवन्तराय का वध कर दिया। अन्त में कवि ने रचना की प्रेरणा व अपना परिचय, रचना-तिथि तथा शाहे वक्त की बन्दगी में ग्रंथ का उपसंहार किया है।

अलंकार दीपक

प्रति परिचय : प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रति काशिराज के सरस्वती पुस्तकालय रामनगर वाराणसी में प्राप्त हुई है। इसमें केवल दोहा छन्द का ही व्यवहार है जिनकी संख्या ४३५ है। इसका प्रतिलिपिकाल संवत् १८५६ वि० है।

प्रामाणिकता : इस ग्रन्थ के रचनाकार कवि शम्भूनाथ मिश्र ने बहुधा दोहों में अपने नाम की छाप छोड़ी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने गुरु(सुखदेव) की भी ग्रंथारम्भ में वन्दना की है। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि सुखदेव मिश्र के शिष्य शम्भुनाथ मिश्र ही भगवन्तराय से सम्बन्धित थे अतः इस ग्रन्थ के रचयिता शम्भुनाथ मिश्र भी दूसरे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त शिवसिंह सेंगर से लेकर अब तक के समस्त हिन्दी साहित्य के लेखकों ने भी अलंकार दीपक को शम्भुनाथ मिश्र की ही रचना बताया है। कवि ने किसी भी दोहे में किसी भी व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है।

रचना-तिथि : कवि ने रचना-तिथि नहीं दी है। कवि का समय हम निश्चित कर चुके हैं जो विक्रम की १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के पश्चात् भी १०-१५ वर्षों तक रहा होगा। इसी बीच यह रचना लिखी गई होगी। इसके दोहे गठे हुए हैं और उनमें काव्य-सौष्ठव भी पर्याप्त है अतः उसे निरी प्रारम्भिक रचना भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी रचना-तिथि को कवि के कविता-काल के बीच अनुमान के आधार पर ही निश्चित करना होगा।

वर्ण्य-विषय : उपमा, लुप्तोपमा (७ भेद), अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप (५ भेद) रूपक (६ भेद) परिणाम, उल्लेख (२ भेद) स्मृतिमान, भ्रान्तिमान संदेह अपह्नुति (६ भेद)। उत्प्रेक्षा (७) भेद रूपकातिशयोक्ति, सापह्नवा, भेदकातिशयोक्ति (६ भेद) तुल्ययोगिता (४ प्रकार)(भाषा भूषण से अन्तर) दीपक वृत्ति (३ भेद) प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्सना (३ भेद) व्यतिरेक (३ भेद) (भाषा भूषण से भिन्न) सहोक्ति, विनोक्ति (दो भेद) समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष (३ भेद)(भाषा भूषणसे भिन्न) प्रशंसा(भाषा भूषण से भिन्न)अप्रस्तुत प्रशंसा (२ भेद) सम्बन्ध(भाषा भूषणसे भिन्न) (५ भेद) प्रस्तुत अंकुर पर्यायोक्ति (२ भेद) व्याज स्तुति, व्याज निंदास्तुति, रूप व्याजस्तुति, स्तुतिनिंदा, व्याजनिंदा व्याज स्तुति। आक्षेप (३ भेद)विरोधाभास, विभावना(५ भेद) (भाषा भूषण गे भिन्न) विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति (३ भेद) सम (३ भेद) विचित्र, अधिक (२ भेद) कारनमाला (भाषा भूषण में इसे गुम्फ कहा है) एकावली (२ भेद) भाषा भूषण सें अल्प) माला दीपक सार, यथा संख्य, पर्याय (२ भेद) परिवृत्त, परिसंख्य, विकल्प, समुच्चय (२ भेद)कारक दीपक, समाधि, प्रत्यनीक काव्यार्थपत्ति, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास (२ भेद) (भाषा भूषण में इसके भेद नहीं हैं) अनुज्ञा, लेसु (२ भेद) भाषा भूषण में भेद नहीं) मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप (२ भेद) अतद्गुण, अनुगुन, मीलित, सामान्य, उन्मीलित विशेष, उत्तर, द्विविध चित्र (भाषा भूषण में चित्रोत्तर) सूक्ष्म पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, जुगुति, छेकोक्ति, लोकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, (२ भेद) उदात्त (२ भेद) अत्युक्ति(३ भेद)निरुक्ति, प्रतिशेध, विधि, हेतु(३ भेद)

विशेष : शंभुनाथ मिश्र का प्रस्तुत ग्रंथ महाराज यशवन्तसिंह के 'भाषा भूषण' का अनुवर्ती है। अलंकारों के लक्षण उदाहरण और विभाजन में भी उनका बहुत अधिक प्रभाव है फिर भी कुछ स्थलों पर भिन्नता भी है, जैसे—'जसवंतसिंह के गुंफ' और 'अल्प शम्भुनाथ के ग्रन्थ में कारनमाला' और 'सूक्ष्म' नाम से अभिहित हैं। भेद की दृष्टि से 'अवज्ञा' 'श्लेष' सम्बन्ध, तुल्ययोगिता और 'एकावली' में अन्तर है। कवि ने स्थान-स्थान पर अपने ग्रन्थ का आधार 'भरत मुनि' को बताया है।

रस कल्लोल

कवि शम्भुनाथ मिश्र की रस कल्लोल नामक रचना का पता १९२० की खोज-रिपोर्ट से लगता है। यह ग्रन्थ पं० रामप्रताप द्विवेदी ग्रा० गोपालपुर, डा० असनी जिला फतेहपुर के पास था। अब इस ग्रन्थ का पता वहाँ के लोग नहीं

बताते। यह ग्रन्थ रस और नायिका-भेद विषय पर केन्द्रित है। खोज-रिपोर्ट १९१२ में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है जिसमें इसके अन्तर्गत ७७५ श्लोक तथा नायिका-भेद विषय का निरूपण बताया गया है।

भगवंतराय का यश वर्णन
(भगवंतराय की विरदावली)

१९२० की खोज रिपोर्ट मे शंभुनाथ के रस कल्लोल ग्रंथ के साथ ही के २६२ अनुष्टुप छन्दों में 'भगवंतराय का यश वर्णन' रचना का उल्लेख भी मिलता है। परन्तु जैसा कहा जा चुका है कि असनी में अब इन ग्रन्थों का पता नहीं लगता। इस रचना की जो विषय-वस्तु खोज रिपोर्ट में दी गई है उसके अनुसार इतना प्रतीत होता है कि इस रचना को कवि ने बैंसवारे के राजा रनजीतसिंह के आश्रय में रहकर लिखा था।

रसतरंगिणी

इस ग्रन्थ की एक खंडित प्रति काशी नगरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालयमें है। इसमें रस का विवेचन किया गया है जिसमें कवि के गम्भीर अध्ययन की छटा है। इस कृति का विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' भाग षष्ठ के पृष्ठ ४०२-४०३ में दिया हुआ है।

रति-विनोद चंद्रिका

प्रति परिचय : इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति काशीराज के सरस्वती पुस्तकालय में सुरक्षित है। ग्रन्थ तीन 'विनोदों' (अध्यायों) में विभाजित है। ग्रंथ की कुल छंद संख्या १०३ है। सम्पूर्ण वर्ण्य-विषय केवल नायिका-भेद में ही सिमटा हुआ है।

प्रामाणिकता : 'रति विनोद चन्द्रिका' अथवा 'विनोद चन्द्रिका' के लेखक उदयनाथ 'कवीन्द्र' हैं। अपने ग्रन्थ में उन्होंने स्वयं अपने दोनों ही नामों के उल्लेख किए हैं। नाम की छाप के अतिरिक्त कवि की भाषा-शैली और काव्यगत प्रौढ़ता से यह रचना कवीन्द्र की ही कृति प्रतीत होती है। ग्रन्थ में न तो रचना-काल दिया हुआ है और न आश्रयदाता का ही उल्लेख हुआ है, अतः ग्रन्थ-रचना-काल के निर्धारण के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। परन्तु 'कवीन्द्र' की छाप होने के कारण यह "रस-चन्द्रोदय" के बाद ही की रचना मानी जायेगी क्योंकि "रस चन्द्रोदय" की रचना करने पर ही उन्हें "कवीन्द्र" की उपाधि मिली थी। ग्रन्थ रचना का उद्देश्य रसिकों का विनोद तथा ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाकर ख्याति अर्जित करना ही प्रतीत होता है।

वर्ण्य-विषय : प्रथम विनोद में कवि ने स्वकीया नायिका का वर्णन किया है और दूसरे में परकीया का। तृतीय विनोद में नायिका और नायक के सम्बन्धों की दृष्टि से आठ अवस्थायें और उनके उदाहरण दिये हैं।

विशेष : यह ग्रन्थ नायिका-भेद की दृष्टि से भी अत्यन्त सामान्य और चलताऊ है। उदाहरणों की दृष्टि से ही इसका कुछ महत्व हो सकता है। प्रौढ़ा नायिका की विपरीत रति का चित्रण करने से इसमें रुचि का हलकापन है।

रस-दीपक

१९०४ की खोज-रिपोर्ट में उदयनाथ कवीन्द्र के "रस-दीपक" नामक ग्रन्थ के काशीराज के सरस्वती पुस्तकालय में पाये जाने का उल्लेख है। परन्तु अब यह ग्रंथ वहाँ नही है। खोज-रिपोर्ट में इसका रचना-काल कवि के ही शब्दों में १७९९ विक्रमी दिया हुआ है।

"सत्रह सतक निन्यानवे कातिक सुदि बुधवार
ललित तृतीया में भयो, रस-दीपक अवतार"

खोज रिपोर्ट में इस ग्रंथ का वर्ण्य-विषय नायक नायिका-भेद लिखा है। ग्रन्थ की रचना अमेठी के राजा गुरुदत्त सिंह के आश्रय में हुई थी। गुरुदत्त सिंह के समय और रचना-तिथि में कोई विक्षेप नहीं पड़ता, अतः इस ग्रंथ की रचना-तिथि निश्चित है। सम्प्रति यह रचना अप्राप्य है।

रस-चन्द्रोदय

"हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास" भाग ६ के पृ० ४२४ में उदयनाथ कवीन्द्र कृत "रस-चन्द्रोदय" रचना का विस्तृत परिचय मिलता है। हमें यह ग्रन्थ देखने को नहीं मिला। उक्त परिचय के अनुसार यह ग्रन्थ रस और नायिका-भेद विषय का आख्यान करता है तथा इसी का दूसरा नाम "विनोद चन्द्रोदय" भी है।

मर्दन रसार्णव

प्रति परिचय : प्रस्तुत ग्रंथ लीथो में प्रकाशित भी हो चुका है परन्तु अब वह संस्करण अप्राप्य-सा है। काशीराज के सरस्वती पुस्तकालय रामनगर, वाराणसी में इसकी लीथो में मुद्रित प्रति के अतिरिक्त एक हस्तलिखित प्रति भी है। इसका प्रतिलिपि काल संवत् १९५९ है।

प्रामाणिकता : इस ग्रन्थ में कवि ने अपने आश्रयदाता डौंडिया खेरे के राव मर्दनसिंह का परिचय निबद्ध कर दिया है तथा वीर रस के उदाहरणस्वरूप आए छन्दों में भी उन्हीं की प्रशस्ति है। इसके अतिरिक्त अपने नाम की छाप "मिश्र सुखदेव" भी छोडी है।

रचना-काल : कवि ने यद्यपि रचना-तिथि नहीं दी है परन्तु आश्रयदाता के समय के आधार पर उसका अनुमान किया जा सकता है। मर्दनसिंह का समय संवत् १७९७ वि० तक था इसलिए रचना-तिथि इस समय के आसपास ही निर्धारित की जा सकती है।

वर्ण्य-विषय : प्रस्तुत रचना में कवि ने नायिका-भेद और रस का विवेचन प्रस्तुत किया है। आरम्भ में नायिका-भेद, नायक और दूती का वर्णन है इसके पश्चात् रस का प्रकरण है। ग्रन्थ का आधार भानुदत्त की रसतरंगिणी है। उनके लक्षणों से ये बहुत अधिक प्रभावित हैं। उदाहरण सर्वथा मौलिक और अत्यन्त पुष्ट हैं।

विशेष : यह ग्रन्थ सुखदेव मिश्र की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा का परिचायक है। इसकी प्रति लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में भी सुरक्षित है तथा आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने भी इसके काव्य-सौष्ठव की प्रशंसा की है।

छंद विचार अथवा पिंगल छंद विचार

प्रति परिचय : इस ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ प्राप्त हैं। खोज-रिपोर्टों में पं० कृष्णबिहारी मिश्र की खंडित प्रति का उल्लेख है। उस प्रति के खंडित अंश के प्रारम्भिक १७ दोहे भी अब स्वर्गीय डा० ब्रजकिशोर मिश्र के मिल गए हैं। उनके एक शिष्य ने इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसे पूरा किया है। इस ग्रंथ की एक प्रति रायबरेली जिले के तरुण उपन्यासकार व कवि श्री अमरबहादुर सिंह 'अमरेश' को भी प्राप्त हुई है। डा० ब्रजकिशोर मिश्र की प्रति का प्रतिलिपिकाल सम्वत् १९४३ विक्रमी है।

प्रामाणिकता : यह ग्रंथ हमारे आलोच्य सुखदेव कवि का ही लिखा हुआ मालूम होता है। कविनाम की छाप, "मिश्र सुकवि सुखदेव" है, जो उनके मर्दन-र्णव तथा रसदीपक में भी है। इस छाप के आधार पर उन्हें अन्य सुखदेव नाम के कवियों से अलग करने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इनकी शैली व काव्यगत प्रौढ़ता रसार्णव से बहुत अधिक मेल खाती है। हिम्मतसिंह के लिए ग्रंथ-समापन में जिस प्रकार इन्होंने आशीर्वचन कहे हैं वे भी हमारे आलोच्य सुखदेव की प्रकृति के अनुकूल मालूम पड़ते हैं।

रचना-काल : रचनाकार ने इस कृति का रचना-काल नहीं दिया है। अतः हिम्मतसिंह के समय को देखते हुए इसे लगभग सम्वत् १७८० या १७८५ की रचना माना जा सकता है।

वर्ण्य-विषय : जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है कि यह पिंगल विषय का

ग्रन्थ है। कवि ने स्वयं लिखा भी है कि हिम्मतसिंह के आदेशानुसार इस पिंगल ग्रन्थ की रचना उसने की है :—

"नृप हिम्मति के हुकुम ते, मिश्र सुकवि सुखदेव
न्यारे न्यारे कहत है, पिंगल के सब भेव"

—प्रथम वृत्तांत । ३९

इस ग्रन्थ के आरम्भिक ३६ दोहों में विस्तारपूर्वक हिम्मतसिंह का वंश-वृक्ष व उनकी प्रशंसा की गई है। पूरा ग्रन्थ दो वृत्तांतों (खण्डो) मे विभाजित है। प्रथम वृत्तांत में मात्रिक छंदों के लक्षण व उदाहरण है जिनकी छंद-संख्या २७३ है। दूसरे वृत्तांत में वर्णिक छन्द हैं जिनकी छंद-संख्या २३४ है। प्रथम छन्द के लक्षण दोहों में लिखे है पश्चात् उनके उदाहरण है। ग्रन्थ के अन्त के उदाहरणो में हिम्मतसिंह की प्रशस्ति है।

रस रत्नाकर

प्रति का परिचय : इस ग्रन्थ की एक ही प्रति मिलती है जो नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह में विद्यमान है। प्रतिलिपिकार कोई अत्यन्त साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति थे जिन्होंने बहुत अशुद्ध लिखा है। इस कथन के प्रमाण में कहा जा सकता है कि विशुद्ध या विसुद्ध को विसब्व लिखा गया है। इसी प्रकार "कछुक" जैसा सरल शब्द "कक्ष्वक" हो गया है। ऐसी अशुद्धियाँ थोड़ी नही। इनके लिए प्रतिलिपिकार ही उत्तरदायी है।

प्रति खंडित है। प्रारम्भ के १२ दोहे नही है। शेष सब है। ग्रन्थ दोहा छन्द में ही लिखा हुआ है, जिनकी संख्या ३२१ है।

प्रामाणिकता : यह कृति भी परीक्षा करने पर भगवन्तराय और मर्दनसिंह से सम्बन्धित सुखदेव मिश्र की प्रमाणित होती है। कवि ने डौड़िया खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ इसकी रचना की थी। मर्दनसिंह की वीरता के कई उदाहरण वीररस-प्रकरण में संकलित होने से यह सिद्ध होता है :

यह मरदाने राउ को देख्यो सहज सुभाउ
रनमुख सनमुख होत मुख चढ़त चौगुनो चाउ

२४६ दो०

आश्रयदाता के निश्चित हो जाने पर इस कृति का अन्य किसी सुखदेव कवि द्वारा लिखित होने का सन्देह नही हो सकता। दूसरे इस ग्रन्थ के लक्षण के दोहे रसार्णव से कई स्थानो पर मिल जाते है। इससे भी दोनों ग्रन्थों की रचना करने वाले एक ही सुखदेव कवि होने का प्रमाण मिलता है।

रचना-तिथि : ग्रन्थ में कवि ने रचना-तिथि नहीं दी है। परन्तु इसकी काव्य-सामग्री में रसार्णव का सा निखार नहीं है। इस आधार पर इसे रसार्णव से पूर्व की रचना मानना संगत होगा। मर्दनसिंह के ही आश्रयकाल में इसके लिखे होने से इसे रसार्णव के रचना-काल के लगभग ही मानना ठीक होगा।

वर्ण्य-विषय : ग्रन्थ का प्रारम्भ नायिका-भेद से होता है। १०६ दोहों के कलेवर में लक्षण और उदाहरण संपुटित हैं। इस प्रकरण में कोई नवीनता नहीं है। प्रारम्भिक कृति होने के कारण कवि ने कुछ नयी नाम संज्ञायें देने का उपक्रम अवश्य किया था जिन्हें स्वयं उन्होंने ही बाद को रसार्णव में नहीं स्वीकार किया। जैसे सुरति गोपना के प्रतिष्यमान सुरति गोपना, वर्तिष्यमान सुरति गोपना नाम इस ग्रन्थ में तो हैं पर वे रसार्णव में नहीं हैं।

नायक-भेद : नायिका-भेद के पश्चात् कवि ने नायक-भेद प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण में भी रसार्णव से कोई विलगाव नहीं। इसी क्रम में "दरसन" का वर्णन करके रस का प्रसंग उठा लिया गया है।

रस : रस की परिभाषा में निम्नलिखित दोहा दिया गया है जो रसार्णव में में दिए गए दोहे से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

"मिलि विभाव अनुभाव ते संचारी सात्विक आनि
स्वाद सहित भावहिं करै वाही को रस जानि"

२१६ दो०

सभी रसों का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में करके तैंतीस संचारियों का वर्णन एवं ग्रन्थ की परि-समाप्ति है।

अन्य कवियों की रचनायें

भगवन्तराय के मंडल के नेवाज, भूधर, चतुरेश, इन्द्र, कंठ, मल्ल, सारंग, श्यामलाल तथा हेम आदि कवियों की रचनायें स्फुट रूप से या तो संग्रह ग्रन्थों में मिलती हैं या फिर लोगों की स्मृतियों में। पुस्तक रूप में इनकी रचनायें नहीं प्राप्त होतीं।

नेवाज कवि की "छत्रसाल विरुदावली" नामक छोटी सी रचना (८० श्लोक) का पता खोज-रिपोर्ट सन् १९१२ में चलता है परन्तु अब वह रचना दिए हुए पते पर नहीं है। इस प्रकार "अखरावती" नामक कृति को भी जिसका उल्लेख खोज-रिपोर्ट १९०६ में हुआ है—निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह ग्रन्थ हमारे आलोच्य कवि का ही है।

भूधर कवि (जिनका सम्बन्ध भगवन्तराय से था) की रचनाएँ भी स्फुट रूप

से मिलती हैं। परन्तु हाल में इनकी "ध्यान बत्तीसी" नामक रचना प्रोफेसर डॉ० चन्द्रप्रकाशसिंह को गोविन्द गिल्ला भाई के संग्रहालय से मिली हैं। रचना की भाषा-शैली आदि से निश्चित होता है कि ये भगवन्तराय के यहाँ रहने वाले भूधर कवि ही होगे। यह रचना बहुत छोटी है। कुल २३ कवित्त-सवैये छन्द हैं जो कृष्ण और राधिका के ध्यान में लिखे गए हे। कवि की निष्ठा व तन्मयता का सचमुच इसमें पूरा-पूरा निर्देश मिलता है। भूधर नाम के कवि की सुदामा चरित नामक एक रचना का पता त्रयवार्षिक खोज-रिपोर्ट की १४वीं जिल्द में मिलता है। खोज-रिपोर्ट में उदाहरण-स्वरूप जो छन्द दिए गए हैं वे उतने पुष्ट नहीं हैं जितने कि "ध्यान बत्तीसी" अथवा भूधर नाम के कवि के प्रकीर्ण छन्द है, फिर भी इस रचना की परीक्षा की जा सकती है। बहुत सम्भव है यह भी इन्ही भूधर कवि की कृति हो।

इन दो कवियों के अतिरिक्त शेष कवियों के जो भी स्फुट छन्द हमें प्राप्त हुए हैं उनको परिशिष्ट मे दे दिया गया है।

रचनाओं का वर्गीकरण

इस अध्याय मे जिन रचनाओं का परिचय दिया गया है उनमें जो रचनाये भगवन्तराय के जीवन को कथ्य बनाती है या उन्ही के आश्रय काल में लिखी गई हैं, केवल उन्हीं का विवेचन अगले अध्याय में अभीष्ट है।

इस प्रकार जयसिंह विनोद, भगवन्तराय खीची का जंगनामा, भगवन्त विरुदावली, रासा भगवन्तसिंह का एवं वीर मुक्तकों की सामग्री को मुख्य आधार बनाया गया है।

उपर्युक्त रचनाओं मे "जैसिंह विनोद" रस तथा नायिका भेद का ग्रन्थ है जिसमें शृंगारी रचनाये है। शेष सभी रचनायें वीर रस की है। इसके अतिरिक्त जैसा कि रचनाओं के नामों से स्पष्ट है, इनमें विनोद, जंगनामा, विरुदावली और "रासा" आदि काव्यरूप भी है। अतः अगले अध्याय में इनके काव्यरूप के अतिरिक्त शृंगार और वीररस की दृष्टि से इनके काव्य-सौष्ठव पर विचार किया गया है।

इन सभी रचनाओ में नायक के वंश व उसके जीवन-चरित को ही लक्ष्य करके लिखी गई सामग्री की प्रमुखता है जो इतिहास का विषय है अतः इसकी ऐतिहासिकता पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए "इतिहास निरूपण" अध्याय में स्वतन्त्र रूप से इस प्रसंग पर विचार किया गया है।

षष्ठ अध्याय

काव्य-रूप एवं काव्य-सौष्ठव

विनोद

विनोद शब्द का अर्थ : विनोद शब्द वि पूर्वक नुद् धातु में भाववाचक प्रत्यय लगने से बना है। नुद् का अर्थ है हटाना, भगाना, दूर करना। इसलिए विनोद शब्द का अर्थ हुआ हटाने या दूर करने का भाव। माघ के शिशुपाल वध में इसका प्रयोग हटाने या दूर करने के ही अर्थ में हुआ है :

'विनोद मिच्छन्नथ दर्प जन्मनः रण न कण्ड्वाः त्रिदशैः समम्पुनः

संस्कृत साहित्य में यह शब्द अपने व्युत्पत्ति लभ्य इस अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है। इस प्रकार इसका अर्थ आह्लाद, क्रीड़ा और मनोरंजन है। इन अभिप्रायों के परे संस्कृत में विनोद शब्द किसी विशेष अर्थ के लिए कभी रूढ़ नहीं हुआ है।

हिन्दी में विनोद शब्द का प्रचलन विशेष रूप से आह्लाद और मनोरंजन के ही अर्थों में हुआ है। इस शब्द को रीतिकालीन कवियों ने विशेष रूप से अनेक ग्रंथों के नामकरण-हेतु प्रयुक्त किया। ब्रज विनोद, रसिकविनोद, जगद्-विनोद, सुजानविनोद, रतिविनोद चन्द्रिका, जयसिंहविनोद इत्यादि ग्रंथों के नाम यहाँ लिये जा सकते हैं जिनके नामों में यह शब्द ग्रहण किया गया है। हिन्दी में इसी शब्द की भाँति रासो और विलास शब्दों का भी प्रयोग कवियों के ग्रंथ-नामों के साथ जोड़ा है जैसे बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, हम्मीररासो तथा राजविलास, जयविलास, रतनविलास में विलास' शब्द। पर इन ग्रंथ-नामों में यह शब्द अपने सामान्य अर्थ में ही न प्रयुक्त होकर चरित-काव्यों के अर्थ में लिया गया

है।[1] अतः जिन ग्रन्थों के नामों में विनोद शब्द का प्रयोग है उनके आधार पर यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कही इस शब्द को ग्रन्थकर्ताओं ने किसी विशेष अर्थ में तो नही प्रयुक्त किया।

संस्कृत साहित्य में 'विनोद' का कोई रूढ़ अर्थ नही हुआ और हिन्दी के विपरीत वहाँ यह ग्रन्थों के नामों में इस प्रकार लोकप्रिय नही हुआ। परन्तु रीति-काल के ग्रन्थो के नामों में प्रयुक्त होकर भी इसका कोई विशेष अर्थ नही लक्षित होता। सामान्यतया ये सभी ग्रन्थ रस और नायिका-भेद विषय का आख्यान करते है। इन सभी ग्रन्थों में यह शब्द अपने सामान्य अर्थ को ही व्यजित करता है जैसे "जगद्विनोद" जगतसिंह के विनोद के लिए लिखा गया रस-नायिका भेद का ग्रंथ है। इसी प्रकार "रसविनोद" रस की चर्चा द्वारा मनोविनोद के अर्थ को प्रकट करता है। अतः कह सकते है कि विनोद शब्द ग्रन्थों के नामों मे अपने इसी अभिधेयार्थ को प्रकट करता है।

रीतिकालीन ग्रन्थों मे विनोद शब्द के बहुल प्रयोग का कारण सम्भवतः हितोपदेश की यह मान्यता है :

काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम

यहाँ स्पष्ट है कि विनोद के अनेक साधनों में काव्य और शास्त्र द्वारा किये गये विनोद को सबसे अधिक समादृत किया गया है। रीतिकाल के साहित्य-ग्रन्थों का उद्देश्य या तो किसी विशेष व्यक्ति (आश्रयदाता) के माध्यम से लोकरंजन करना था, अथवा इसके अभाव मे वे स्वयं विषय को ही इस रजकत्व के भाव से मडित करके समाज के सामने रख देते थे। अपने ग्रन्थ की इस रजकत्व विशेषता को ही कविगण विनोद और कभी-कभी "विलास" आदि शब्दों को ग्रन्थ-नाम मे जोड़ कर प्रकट करते रहे होंगे। चूकि साहित्य के माध्यम से विनोद करना बहुत पहले से प्रतिष्ठा की वस्तु माना जाता था इसलिए इस शब्द की, ग्रन्थ की प्रवृत्ति निर्धा-रित करने के लिए लोक-प्रियता भी खूब बढी होगी। किस आश्रयदाता के विनोद के लिए काव्य-ग्रन्थ लिखा गया इस भाव को आश्रयदाता के नाम के बाद विनोद शब्द लिखकर प्रकट कर दिया जाता था और इस प्रकार आश्रयदाता भी अपनी प्रकृष्टता मानता रहा हो तो असंभव नही क्योकि यह उसकी परिष्कृत रुचि का ही विज्ञापन होता था।

देव ने अपने कई ग्रन्थों के नामों मे विनोद शब्द का प्रयोग किया है जैसे सुमिलविनोद, सुजानविनोद और जयसिंह विनोद। इन तीनो ग्रन्थों मे रस और

---

१. हि० आदिकाल० पृ० १०८

नायिका-भेद का वर्णन है। इनकी शैली व विषय-प्रतिपादन की अपनी कोई अलग परिपाटी नहीं है। जो शैली भवानीविलास में है वही जयसिंह विनोद में है। तात्पर्य यह है कि एक सामान्य रस-नायिका भेद ग्रन्थ लिखने की जो परिपाटी थी उसी का पूरा-पूरा निर्वाह यहाँ भी है। इसलिए यही कहना पड़ता है कि देव के ग्रन्थ-नामों में भी रीतिकाल के अन्य कवियों की मान्यता के अनुसार यह शब्द अपने साधारण अर्थों में ही आया है।

अन्त में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रीतिकाल में लिखे गये मध्यदेश की ब्रजी के ग्रन्थों में "विनोद" और "विलास" शब्द उनकी श्रृंगारी प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हैं परन्तु यह सम्पूर्ण रीतिकाल की कविता की ही प्रमुख विशेषता थी। अतः यही मानना ठीक है कि हिन्दी के ग्रन्थों में "विनोद" शब्द साधारण अभिप्राय में ही ग्रहण किया गया है। उसमें किसी काव्य-रूप का संकेत ढूंढना व्यर्थ होगा।

जंगनामा

जंगनामा—जंग और नामा दो शब्दों के संयोग से बना है। जंग का अर्थ होता है युद्ध और नामा का अर्थ है पुस्तक। ये दोनों शब्द हिन्दी को फारसी से मिले हैं। फारसी में फिरदौसी का लिखा 'शाहनामा' प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें 'नामा' चरित्र-काव्यों की ओर संकेत करता है। कारण है कि शाहनामा में बादशाहों के चरित्रों का वर्णन है। यह महती रचना ईसा की १०वीं शताब्दी के अंत और ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ के ३० वर्षों के बीच लिखी गई थी। इसके बाद फारसी में 'नामा' शब्द काव्यग्रन्थों के नामकरण के लिए एक प्रकार से प्रचलित-सा हो गया। एक ओर जहाँ यह नाम 'सिकन्दरनामा' जैसे वीर-काव्यों के लिए प्रयुक्त हुआ वहीं उपदेश ग्रन्थों, जैसे 'पन्दनामा' के नामकरण के लिए भी इसका ग्रहण हुआ।

भारतवर्ष में "बाबरनामा" शायद पहला ग्रन्थ है जिसमें 'नामा' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि फारसी में होता था। इसके उपरान्त अकबर के समय में महाभारत का फारसी में "रज्मनामा" नाम से अनुवाद किया गया। रज्म का अर्थ है युद्ध और "नामा" का अर्थ है पुस्तक या किताब। यहाँ भी अर्थ में कोई अंतर नहीं है। इसके बाद बीजापुर दरबार के अली आदिलशाह के दरबारी कवि नुसरत ने "अलीनामा" नाम से अली आदिलशाह की जीवनी उर्दू में लिखी। इसी समय के थोड़े ही बाद औरंगजेब के उत्तराधिकार के युद्धों का वर्णन नेमतअली खाँ ने, जो मुगल दरबार का इतिहासकार था, "जंगनामा" शीर्षक फारसी-बहुल उर्दू में किया। इन रचनाओं की रचना से ऐसा ज्ञात होता

है कि इस समय के उर्दू साहित्य में जंगनामा शब्द लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था जिसका प्रभाव हिन्दी वालों पर पड़ा। हिन्दी के श्रीधर कवि की रचना "फरुखसियर का जंगनामा" भी लगभग इसी काल में लिखी गई है जिससे इस नाम की लोकप्रियता का प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी पड़ने का संकेत मिलता है। इतना ही नहीं, इश्क की किताब में भी "नामा" का प्रयोग करके "इश्कनामा" नाम भी दिया गया है।

परन्तु फारसी में और उर्दू साहित्य में कहीं भी "नामा" किसी विशेष प्रकार की काव्य-रचना के लिए रूढ़ नहीं हुआ। इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उर्दू में अखबार को "खबरनामा" भी कहा जाता है। सामान्यतया "नामा" शब्द वर्णन का बोध कराता है। जैसे बाबरनामा से यह अनुमान होगा कि उसमें बाबर का वर्णन होगा। पन्दनामा से पन्द-उपदेश का और जंगनामा में जंग का। बस यही कहना ठीक होगा कि यह वर्णनात्मकता या आख्यानात्मकता को परिलक्षित करता है। इसका न तो कोई स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है और न विषय-वस्तु की दृष्टि से ही कोई निश्चित धारणा बनाई जा सकती है। उर्दू में जंगनामा नाम की कई रचनायें मिलती हैं, जिनमें कलेवर व वर्णन में स्वच्छन्दता का बोध होता है।

हिन्दी में अभी तक केवल श्रीधर कवि का लिखा "फरुखसियर का जंगनामा" रचना ही उपलब्ध थी—स्पष्ट है कि इसके नामकरण में मुस्लिम दरबार और भाषा के संसर्ग का प्रभाव है। दूसरी रचना "भगवन्तराय खीची का जंगनामा" एक मुसलमान कवि की कृति है तथा एक तीसरी रचना "वीरभद्र का जंगनामा" १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम के अवसर की एक घटना पर आधारित है। इन तीनों का ही स्वरूप अलग-अलग है। श्रीधर की रचना भुजंगप्रयात, हरिगीतिका, कवित्त और छप्पय आदि छंदों में है। मुहम्मद की प्रस्तुत रचना केवल विजात छंद में है जब कि तीसरी रचना "वीरभद्र का जंगनामा" कवित्त-सवैया छन्दों में हुई है। इन रचनाओं में कवि ने वर्णन को ही प्रधानता दी है न कि प्रबन्धात्मकता को। इस प्रकार हिन्दी में भी "जंगनामा" नामक रचनायें रूप की दृष्टि से स्वतन्त्र हैं।

'भगवंतराय खीची का जंगनामा' के स्वरूप निर्धारण के लिए पुनः उर्दू साहित्य के इतिहास की ओर अभिमुख होना पड़ेगा। उर्दू में छोटे-छोटे जंगनामों का स्वरूप मसनवी शैली के मर्सियों के सबसे अधिक निकट है। मर्सिया अरबी से फारसी और फिर उर्दू साहित्य में आया। कुछ लोग तो उर्दू साहित्य का आरम्भ मर्सिया रचनाओं से मानते हैं।[१] मर्सिया पहले छोटी रचनाओं तथा धार्मिक विषय-वस्तु

१. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० १११

विस्तार भी वीरगीति के अनुकूल है। इन सबके अतिरिक्त मर्सिया काव्य की प्रमुख विशेषता "नायक के चरित्र का उभार" इसके अन्तर्गत बहुत ही स्पष्ट है। इन सब विशेषताओं को देखते हुए स्वीकार करना पड़ता है "भगवन्तराय खीची का जंगनामा" मर्सिया की प्रविधि के बहुत अधिक समीप है। इसकी विषय-वस्तु ऐतिहासिक घटना है, जो बाद के उर्दू मर्सियों का ही विषय बन गया था। इसे हम डा. एजाजहुसैन के शब्दों में कह आये है। इसको "जंगनामा" नाम इसलिए दिया गया मालूम पड़ता है कि युद्ध-वर्णनों की इसमें प्रधानता है। अपनी इस नीति-शैली व मर्सिया की प्रविधि के कारण हिन्दी के अन्य दोनों जंगनामो—फरुखसियर का जंगनामा तथा वीरभद्र बहलारी का जंगनामा" से भिन्न है। फरुखसियर का जंगनामा इतिवृत्तात्मक और वर्णन-प्रधान है। हृदयग्राही सरस प्रसंगों की अवतारणा कम है। उसके वर्णन में अंगड़-बंगड़, आवश्यक अनावश्यक सब कुछ एक साथ भरा मिल जाता है। "वीरभद्र बहलारी का जंगनामा" कवित्त-सवैया छन्दों में है। विषय-गठन की दृष्टि से वह भी इसकी कोटि में नही पहुँच पाता। इसका कारण यह है कि आलोच्य जंगनामा में नायक के चरित्र के उभार का पूर्णरूप से निर्वाह है। इससे रचना का महत्व बढ गया है और वर्ण्य-विषय में अंगसौष्ठव आ गया है। इसमें उर्दू की मर्सिया शैली का निर्वाह होने से सम्पूर्ण चित्रण बहुत ही मार्मिक बन पडा है। हिन्दी के लिए मर्सिया शैली की वीरगीत बिल्कुल नई वस्तु है। इस शैली मे कवि की भाव-संवेदना नायक के साथ मिलकर चित्रण में सजीवता उत्पन्न कर देती है। इसलिए इसका महत्व बढ़ जाता है क्योंकि यह अपनी शैली की, अपने युग की अकेली रचना है।

विरुद

विरुद काव्य का आरम्भ और विकास : विरुद शब्द संस्कृत की 'रुद्' धातु मे वि उपसर्ग के लगने से बना है। मोनियर विलियम के शब्दकोश में इस शब्द के दो अर्थ दिए हैं। एक तो धात्वर्थ है—रोना, विलाप करना, चिल्लाना और दूसरा है प्रचलित अर्थ—प्रशस्ति काव्य, राजस्तुति, प्रताप, घोषणा यश या प्रशंसासूचक उपाधि। विरुद शब्द का आदि अर्थ कब बदला या वह नये अर्थ का वाचक कब और कैसे बना यह ज्ञात नही। पर इतना अवश्य है कि प्रशस्ति गायन और राजस्तुति के लिए विरुद शब्द का अत्यन्त प्राचीन समय से व्यवहार होता आया है। राज्याश्रित भाट, चारण, सूत और वन्दीजन ओजपूर्ण और ऊँचे स्वर से मंगल [illegible] युद्धावसरों पर राजा की, उनके कुल की उच्चता और पूर्वपुरुषों के [illegible]तित्वों का वर्णन करते थे। उनकी स्वर-शैली विशिष्ट थी, वर्णन

शैली भी अपनी अलग थी। इसी विशिष्टता ने कालान्तर में रूढ़ होकर विरुद को एक निश्चित पारिभाषिक अर्थ दे दिया।

"विरुद" के अंकुर प्राचीन साहित्य या धर्मग्रंथों में भले ही ढूंढ़ लिये जायें पर इसका व्यापक प्रचलन और स्वरूप-विकास राजदरबारों में भाट-चारणों के द्वारा ही हुआ मानना अधिक संगत जान पड़ता है। संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में सर्वप्रथम साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने ही "विरुद् राजस्तुतिः" कह-कर इस शब्द को निर्दिष्ट किया है। इससे यह लक्षित होता है कि विश्वनाथ के समय में विरुदों में साहित्यिकता समाविष्ट हो गई थी और "राजस्तुति" रूप में इनका व्यापक प्रचार था। इस प्रकार विरुद मौखिक रूप से चलने वाला काव्य था जो पहले दरबारों में और फिर वहां से साहित्य-क्षेत्र समादृत हुआ।

"विरुद" को परिमार्जित कर उसके स्वरूप को निर्दिष्ट करने का सबसे पहला प्रयास बंगाल के मध्यकालीन वैष्णव भक्त रूपगोस्वामीजी ने किया है। बंगाली वैष्णवों में एक अनुश्रुति चली आती है जिसके अनुसार रूपगोस्वामीजी के सामने एक दाक्षिणात्य साधु ने गोविन्दजी को किसी साधारण देवता का शब्दाडम्बरयुक्त शैली में विरुद सुनाया। गोविन्दजी के कंठ की माला इसे सुनते ही कंठ से गिर पड़ी। रूपगोस्वामीजी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनके मन में बार-बार यह प्रश्न कौंध जाता कि आखिर इस साधारण देवता की स्तुति से गोविन्दजी क्यों इतने प्रसन्न हुए। गोविन्दजी ने रात को रूपगोस्वामीजी को स्वप्न दिया कि जिस प्रकार दाक्षिणात्य साधु ने देवता की स्तुति की, उसी शैली में तुम मेरी स्तुति करो। इसी आदेश के पालन के लिए रूपगोस्वामीजी ने गोविंद विरुदावली की रचना की।

इस कथा से ज्ञात होता है कि बंगाली वैष्णवों को विरुदावली काव्य के उपा-दान दाक्षिणात्य साधुओं के सम्पर्क से मिले। दूसरी बात यह कि पहले सामान्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिए इस रूप का व्यवहार हुआ। सम्भावना यह लगती है कि राजदरबारों से सामान्य देवताओं के लिए व्यवहृत होकर यह काव्य-रूप वैष्णवों के हाथ में आया और यहीं से विष्णु या उनके अवतारों के लिए अप-नाया गया। इस अनुश्रुति से भी यही ध्वनि निकलती है कि "विरुद काव्य" लोक से ही साहित्य-क्षेत्र में आया है। साहित्य-दर्पण के कथन की इससे पुष्टि होती है।

राजदरबारों में विरुदों की परम्परा : चूंकि राजदरबारों का विरुद-काव्य मौखिक रूप से ही विकसित होता रहा इसलिए उसके प्रारम्भिक रूप व उसके आरम्भकाल का पता चलना कठिन है। परन्तु भाट-चारण इत्यादि जातियां जो दरबारों में यशोगान करती थीं, उन्हीं के इतिहास के साथ विरुदों का इतिहास

जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार इसे काफी प्राचीन मानना होगा। साहित्य-दर्पण के रचना-काल तक तो यह सुष्ठु रूप प्राप्त कर चुका होगा। वैसे मध्यकाल के अवशेष रूप में चली आती विरुद-परम्परा का कुछ समय पूर्व तक हिन्दू राज दरबारों में अच्छा दिग्दर्शन हो जाता था। औपचारिक दरबार या दशहरा के अवसरों पर बड़े समारोह के बीच भाट-चारणों द्वारा विरुद पाठ होता था। इसकी इसी प्रभविष्णुता को देखकर भक्त लोग इसे आराधना के क्षेत्र में ले गए, यह रूपगोस्वामीजी से सम्बन्धित अनुश्रुति में इंगित है।

वैष्णव आचार्यों के अनुसार विरुदों के सामान्य लक्षण : यह कहा जा चुका है कि वैष्णव भक्त रूपगोस्वामीजी ने लोक प्रचलित विरुद को सुनिश्चित परिपाटी में ढाला। उन्होंने न केवल स्वयं गोविन्द विरुदावली की रचना की थी वरन् 'सामान्य विरुद लक्षणम्" नामक छोटा सा लक्षण ग्रंथ लिखकर विरुद का स्वरूप निश्चित किया तथा अपने सम्पर्क के अन्य वैष्णवों को विरुद रचना की ओर प्रेरित किया। फलस्वरूप जीवगोस्वामी ने गोपाल विरुदावली, गोस्वामी रघुनन्दनजी ने गोविन्द विरुदावली की रचना परिपाटी पर गौरांग विरुदावली का प्रणयन किया। गोस्वामी कृष्णजी की कृष्ण विरुदावली तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की निकुंज विरुदावली नामक रचनायें भी इस प्रसंग में स्मरणीय हैं।

इन वैष्णव आचार्यों ने वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण की कीर्ति-प्रताप, शौर्य, वीर्य, सौंदर्य आदि की गुण-गरिमा को ही विरुदों का मुख्य विषय माना है। उनके अनुसार :

कलिका श्लोक विरुदैःयुक्ता विविध लक्षणैः
कीर्त्तिप्रताप शौर्य्य सौन्दर्योन्मेषशालिनी।
कलिकाद्यन्त संसर्गी पद्या दोष विवर्जिता
शब्दाडम्बर संवद्धा कर्तव्या विरुदावली

—सामान्य विरुद लक्षणम्

इस प्रकार विरुद के छन्दविधान, ताल-लय और उसके शब्दविधान के साथ स्वरूप-शैली और विषय-वस्तु का उपयुक्त लक्षण में निर्देश है। विरुद में कलिका[१]

[१]. कलिका—ताल के द्वारा नियमित पदसमूह को कला कहते हैं और कला के समूह कलिका कहते हैं। जब कई कलिकायें रहती हैं तब उसे महाकलिका कहते हैं। सामान्यतया दो या तीन कलिका होने से महाकलिका कही जाती है। महाकलिका में (१) चण्डवृत्त (२) द्विनाद्विगुण वृत्तक (३) त्रिभंगीवृत्त (४) मध्या (५) मिश्रा (६) केवला—छह भेद के छंद होते हैं।

श्लोक और विरुद छन्दों का समुचित प्रयोग होना चाहिए। कलिका के अन्त में दोषरहित पद्य हों तथा भाषा में पर्याप्त शब्दाडम्बर हों। विषय की दृष्टि से इसमें कीर्ति प्रताप, औदार्य और सौन्दर्योन्मेष का विधान होना चाहिए।

संस्कृत के वैष्णव आचार्यों ने विरुद के स्वरूप को न्यूनतम ५ कलिकाओं और अधिकतम ३० कलिकाओं के बीच निश्चित कर दिया था। कलिका के अन्त में वीर, धीर, शील, देव जैसे शब्द आते थे। जैसे :

संत्व जय जय दुष्ट प्रतिभय भक्त स्थिर दय लुप्तव्रजेमय वीर

कलिकाओं के आदि तथा अन्त में गुणोत्कर्ष वर्णनमय पद्य रहते हैं जिनको श्लोक कहा जाता है।

वास्तव में संस्कृत साहित्य का यह प्राविधिक रूप हिन्दी में नहीं ग्रहण हुआ है। जहाँ तक हिन्दी की थोड़ी-सी उपलब्ध विरुदावलियों को देखने से पता लगता है उनको राजदरबारों की परम्परा का ही साहित्यिक विशिष्टतापूर्ण रूप कहना अधिक संगत होगा। यह अवश्य है कि वैष्णव आचार्यों की बताई हुई कुछ विशेषतायें उनके अन्तर्गत मिल जायेंगी जैसे वीर रसात्मक यश वर्णन के प्रसंग और शब्दाडम्बरपूर्ण भाषा जिसमें ओजगुण की सन्निविशिष्टता रहती है। परन्तु यह विशेषता लोक-प्रचलित विरुदोंसे ही वैष्णवों को मिली, मानना अधिक ठीक होगा।

हिन्दी में खोज-रिपोर्टों में चार विरुदावलियों के उल्लेख हैं जिनमें से दो भगवन्तराय के लिए, तीसरी छत्रसाल के लिए और चौथी हिम्मतबहादुर विरुदावली है। ये विरुदावलियाँ आश्रित कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के लिए लिखी गई थीं। नेवाज कवि "छत्रसाल" से और शंभुनाथ भगवन्तराय से सम्बन्धित थे। असम्भव नहीं यदि नेवाज के छत्रसाल सम्बन्धी और शंभुनाथ के भगवंतराय सम्बन्धी छंद क्रमशः उनके "छत्रसाल विरुदावली' तथा "भगवन्तराय विरुदावली" नामक रचनाओं के ही हों। इन ग्रंथों की प्रमुख प्रवृत्ति वीरता एवं यशकथन की जान पड़ती है। हिन्दी की विरुदावलियों में पद्माकर की हिम्मतबहादुर विरुदावली की प्रसिद्धि हुई, अतः प्रस्तुत रचना की उसी के साथ तुलना उपयुक्त होगी।

भगवन्त विरुदावली में कवि ने दोहा, चौपाई, छप्पय और हरिगीतिका छन्दों का ही प्रयोग किया है। प्रमुखता "हरिगीतिका" छन्द की है। छप्पय छन्द चारणों का ही है। हरिगीतिका भी गेयता की विशेषता के कारण उनके बीच लोकप्रिय जान पड़ता है। इस प्रकार इस रचना को कलेवर व छन्दविधान की दृष्टि से ऐतिहासिक वीर-गीति कहना ठीक होगा। एक तो इसलिए कि इसके छन्द लोक-गाथाओं के ही हैं और भाषा भी अत्यन्त सरल, चलती हुई व व्यावहारिक

है। इस रचना के किसी भी अंग में "श्रमसाध्य कलात्मकता" का अभाव है। इसमें रूढ़, अस्वाभाविक श्रमसाध्य अलंकारों की योजना नहीं है। इन सब विशेषताओं से प्रकट हो जाता है कि यह रचना अपने समय की साहित्यिक रचनाओं से प्रभावित न होकर सीधे भाट-चारणों के काव्यों की परम्परा के निकट है।

पद्माकरजी की हिम्मतबहादुर विरुदावली के साथ तुलना करने पर भगवंत विरुदावली का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पद्माकर की रचना में लोक-प्रचलित विरुदावली से छींटे तो अवश्य पड़े हैं पर उसका स्वरूप साहित्यिक ही है। उनके कुछ छन्द जैसे छप्पय और "हरिगीतिका" तो लोक प्रचलित विरुदावलियों से लिये जान पड़ते हैं परन्तु भुजंगप्रयात और त्रिभंगी जैसे साहित्यिक छन्द भी हैं। यह ठीक है कि इनकी अधिकता नहीं है पर सामान्य रीति से पद्माकर के छन्दों का कौशल उनकी भाषा और उनकी अलंकारिकता, पूर्णतया साहित्यिक है। हिम्मत-बहादुर विरुदावली तथा भगवंत विरुदावली के दो हरिगीतिका छन्दों को देखने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा :

करि खग्ग दग्ग उदग्ग अति, अरि बग्ग आये उमड़ि कै
गज-घटन माहिं महाबली, घालत हथ्यारनि घुमड़ि कै
पृथु-रिति नित्त सुवित्त दे, जग जित्ति कित्ति अनूप की
बर बरनिये विरदावली, हिम्मत बहादुर भूप की ।[1]

तथा

कुल चन्द खीची बंस प्रबल प्रताप बीर बखानिये
जिन जेर कीन्हे सकल जग समसेर जाहिर जानिये
जिन सुमति सुद्ध विचारि, गैयन दुजन के प्रतिपाल की
बर बरनिये विरुदावली, भगवंतराय भुवाल की ।[2]

इतना अन्तर तो सामान्य रीति से सर्वत्र है परन्तु पद्ममाकर में बहुत अधिक वाग्जाल और शब्दों का तमाशा है। भगवन्त विरुदावली इस दृष्टि से एक स्वच्छ रचना है।

विषय की दृष्टि से भगवन्तराय विरुदावली के दो भाग हैं। प्रथम भाग में कवि ने नायक के कीर्ति प्रताप, शौर्य्य और अन्य उदार गुणों का वर्णन किया है तथा दूसरे में युद्ध का वर्णन है जिसमें नायक का पुरुषार्थ लक्षित है। पूरी रचना में एक कथा भी है परन्तु इसके लिए पात्रों इत्यादि की या प्रसंगों की सृष्टि नहीं

१. पद्माकर पंचामृत, पृ० ३१
२. विरुदावली०

इस प्रकार के कुछ कथन देखा-देखी विरुदावलियों में रूढ़ हो गए थे जिनको पद्माकर ने भी ग्रहण कर लिया। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक सत्य के प्रति दोनों कवियों की निष्ठा भी उल्लेखनीय है। दोनों विरुदावलियों की यह समानता आकस्मिक नहीं हो सकती वरन् इसकी पृष्ठभूमि में दरबारों में मौखिक रूप से चलने वाली विरुदगायन की परम्परा का ही प्रभाव निमित्त मान लिया जा सकता है। भाटों की यह ओजपूर्ण शैली निश्चय ही बड़ी प्रभावशालिनी थी। वैष्णव-भक्तों का इसमे प्रेरणा ग्रहण करना इस कथन की पुष्टि करता है। अतः यदि पद्माकर और भगवंत विरुदावली के कर्त्ताओं ने भी उन्हें ही प्रेरणा-स्रोत बनाया तो आश्चर्य क्या ?

तुलना करने पर जहाँ इतनी समानतायें प्रकाश में आती हैं वही दोनों रचनाओं की अपनी-अपनी विशेतायें या भिन्नतायें भी हैं। हिम्मतबहादुर विरुदावली में भाषा की कृत्रिमता के साथ अलंकारों की अस्वाभाविकता भी है। वर्ण्य-विषय का अनावश्यक और जी उबा देने वाला फैलाव भी सामने आता है। कवि की प्रदर्शन-पूर्ण प्रकृति उसके भीतर दब नहीं सकी। वह लोक-काव्य रूप को अपनाकर उसमें अपनी साहित्यिक विशिष्टता को स्थापित करने का मोह नहीं छोड़ सका, जबकि भगवंत विरुदावली सीधी सरल भाषा में अकृत्रिम रूप से भाव-वर्णन को ही इष्ट बनाती है। इस रचना की यह भाव-गत विशेषता उसे एक श्रेष्ठ "वीर-गीति" की कोटि में स्थापित कर सकने में पूर्ण समर्थ है।

रासा

हिन्दी साहित्य में रासा या "रासो" शब्द को लेकर काफी विवाद हुआ है। चूंकि हिन्दी की आदिकालीन रचनाओं में ही "रासो" नामधारी नई कृतियाँ उपलब्ध हो गई है, इसलिए विद्वानों के सामने यह समस्या भी उपस्थित हुई कि "रासो" शब्द की व्युत्पत्ति और उसके मूल स्वरूप व स्रोत का पता हिन्दी को दें, जिससे इस काव्य रूप के इतिहास व विकासक्रम को ठीक-ठीक समझा जा सके।

इस सम्बन्ध में लोगों ने रासो शब्द के मूल रूप को उपस्थित करने का सबसे अधिक प्रयास किया और अटकल से जिस किसी मूल शब्द की कल्पना की उसका अर्थ भी "रासो" के साथ घटिता किया। इस प्रकार रासा शब्द के मूल रूपों में रहस्य, रसायण, राजादेश, राजयश, रास और रासक संस्कृत के ये छह रूप सामने रखे गये जिनसे रास, रासा, रासो, रासौ, रायसा तथा रायसो रूपों की निष्पत्ति सिद्ध करने के प्रयास किये गये।[1] विद्वानों का यह प्रयास अटकल पर

१. भूषण० पृ० ३५

आधारित था जिसका भाषा विज्ञान के रूप परिवर्तनों से मेल नहीं बैठता। इस प्रसंग पर किया गया सारा श्रम वाद के विचारकों को खिझा देने वाला था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[2] के शब्दों में यह भाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

अब सभी विद्वान "रासा" शब्द का आदि संस्कृत स्वरूप "रासक" मानने लगे हैं। पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने संस्कृत के "रासक" का व्रजी में रासो, खड़ी में रासा और अवधी में रास स्वरूप माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी रासो का मूल, संस्कृत के रासक शब्द को ही मानते हैं। यह अवश्य है कि इस मत से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए भी प्रो० कुँवर चन्दप्रकाश सिंह ने इसके मूल रूप को लास्य से निकले हुए "लासक" शब्द की ओर भी इंगित किया है।[1] कुँवर साहब का यह संकेत उचित जान पड़ता है क्योंकि "रासक" को एक प्रकार का खेल या मनोरंजन माना भी गया है। यदि वह "लास्य" नृत्य से ही विकसित हुआ हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। नाट्य शास्त्रियों द्वारा इसके ग्रहण से भी इस पीठिका का संकेत मिलता है। अस्तु।

रासा या रासो हिन्दी में चरित काव्यों का द्योतक तथा श्रव्य काव्य का प्रतिनिधि कैसे बन गया, इस प्रश्न पर प्रो० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के विचार बड़े ही उपयुक्त जान पड़ते हैं जिनको उद्धृत करना यहां संगत होगा: "मेरा अनुमान है रासक की नाटकीयता का विकास और ह्रास एक चक्र के रूप में हुआ है। शुद्ध नृत्य-रूप से आरम्भ करके रासक नृत्य ने नाट्य से युक्त हो नाट्य रासक के रूप में पूर्ण अभिनेय नाटक का रूप प्राप्त किया। फिर जब उसके इन गुणों का ह्रास होने लगा तो उसने सन्देश रासक जैसा एक अर्द्धनाटकीय या अर्द्ध श्रव्य रूप प्राप्त किया। अपनी नाटकीय विशेषताओं को छोड़कर वह दृश्य काव्यात्मक रासक न रहकर पृथ्वीराज रासो जैसा श्रव्य-काव्यात्मक रासक बन गया।[4]

रासक के असभ्य या अर्द्ध सभ्य जातियों के नृत्य अथवा क्रीड़ा से विकसित होकर नाट्य रासक बनने की अवस्था के यद्यपि प्रकट प्रमाण नही है परन्तु 'नाट्य रासक' शनैः शनैः किस प्रकार राजाओं के चारित्र्य और कृति को अपनाकर उसका प्रदर्शन जनता के सामने करने लगा था यह प्रवृत्ति विक्रमी की १३वीं शताब्दी के नाट्याचार्य शारदातनय के ग्रंथ "भाव प्रकाशन" से लक्षित हो जाती है:

---

१. आदिकाल० पृ० १०८

२. भूषण० पृ० ३५

३. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृ० ११४

४. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृ० ११६

कामिनी मिर्भु वोमर्तु श्चेष्टितं यत्र नत्यते
रागाद्वा संत मालोक्य स ज्ञेयो नाट्य रासकः ।

इस प्रवृत्ति के विकास के फलस्वरूप यह अनुमान कर लेना सम्भावना से परे नहीं जान पड़ता कि कवियों ने वाद को "रासक" को एक चरित्र काव्य का अर्थ-वाची शव्द वना लिया और इसका प्रयोग चरित्र काव्यों में रूढ़ रूप से करने लगे।

रासा की परम्परा : हिन्दी को रासा की परम्परा अपभ्रंश साहित्य से मिली है। संस्कृत और प्राकृत में "रासा" ग्रन्थों का प्रणयन नहीं हुआ। अपभ्रंश में अनेक रासक ग्रंथ विद्यमान हैं। इनकी प्रवृत्ति नाटकीयता से श्रव्य काव्यत्व की ओर झुकी हुई है। "संदेश रासक" में इसे लक्ष्य किया जा सकता है। अपभ्रंश के ही प्रभाव से हिन्दी के पश्चिमी प्रदेश राजस्थान और गुजरात में इस प्रकार के ग्रंथों की वड़ी संख्या में रचना हुई। विशेष रूप से जैनों में तो यह काव्य रूप और यह नाम वहुत अधिक प्रचलित था क्योंकि उनकी वहुत-सी रचनायें इसी नाम से है हिन्दी साहित्य कोश में डा० माताप्रसाद गुप्त ने रासक नामधारी काव्यों की वहुत वड़ी तालिका प्रस्तुत की है। इस धारा को मुख्य रूप से गुप्त जी ने दो धाराओं में विभाजित किया है। एक तो "गीत नृत्यपरक रासो-धारा है और दूसरी छन्द वैविध्यपरक रासो-धारा। प्रथम धारा की प्रायः सभी रचनायें धार्मिक विषय को लेकर चली हैं जिनका साहित्यिक मूल्य अत्यल्प है। दूसरी धारा में विषय वस्तु की विभिन्नता है। इनमें ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित्रों की प्रधानता के साथ राम के अवतारी चरित्र की भी नियोजना मिलती है। इस धारा की रचनाओं का साहित्यिक मूल्य असंदिग्ध है।

सामान्य लक्षण : 'रासा" काव्यों की ऊपर जिन दो धाराओं का उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट है कि प्रथम में गीत और नृत्य की दृष्टि से रासा नाम की सार्थकता है तथा दूसरे वर्ग में चूंकि चरित् काव्य है अतः उनको प्रवन्ध अथवा खण्ड काव्यों की दृष्टि से देखा जाएगा। इन रचनाओं के कलेवर में कोई प्रतिवंध नहीं रहा है अतः ३०-४० छन्दों वाली रासक रचनाओं के साथ ५ हजार छन्दों की भी रचनायें मिलती हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वय स्वयंभू छान्दस ग्रन्थ में दिये गए रासा वंध के लक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि "रासा वंध" में "विविध छन्दों का प्रयोग होता था।"[1] हिन्दी साहित्य कोश में भी रास काव्यों की यही प्रकट विशेषता मानी गई है। इस सामान्य विशेपता के अतिरिक्त हमारी समझ से "रासा" काव्यों को उनकी प्रवन्ध नियोजना (कथा-

---

१. आदिकाल० पृ० १०८

वस्तु की दृष्टि से) चरित्र चित्रण और वर्णन-प्रसंगों के अनुपात आदि के आधार पर परखना चाहिए।

रासा भगवन्तसिंह का स्वरूप : प्रस्तुत रचना १४ प्रकार के कुल १०४ छन्दों में पूर्ण हुई है। इसमें छप्पय, पद्धरि त्रिभंगी, सर्वकल्यानदण्डक आदि रासो काव्यों की निजी विशेपता स्थापित करने वाले छन्द यथा स्थान उचित अनुपात से हैं। इस प्रकार छन्दों की विविधता के कारण इसे सफल "रासो" मानना पड़ेगा। साथ ही "रासा भगवंतराय का" रचना को कथावस्तु और चरित्र की दृष्टि से एक खण्ड काव्य कहना अधिक ठीक होगा। रचना में कवि ने विस्तार की दृष्टि से एक छोटी-सी घटना ली है पर वह अपने आप में बहुत महत्त्व रखती है। पूरे काव्य में उसका विकास दिखाया गया है तथा परिणाम के प्रति उत्सुकता बनी रहती है। भाव, रस और छन्दों की विविधता के कारण शैथिल्य नाम की वस्तु का तो आभास भी नही होता। कथावस्तु के समस्त उपादान उसको आगे बढ़ाते है। पात्रों के पारस्परिक संघर्ष से इसका विकास होता है। कोई भी पात्र या कोई भी कथोपकथन पूरी रचना के कसाव में ढिलाई नही उत्पन्न करता। देश काल का भी निर्वाह हुआ है। संघर्षशील दोनों ही पक्षों के दृश्य पाठक के सामने उपस्थित रहते हैं और उत्सुकता का पोषण करते हैं। एक ओर प्रतिनायक सादत खाँ की कूट-नीति है, जिसके साथ दुर्जनसिंह के मिल जाने से आशंका का अंकुर जगता है तो दूसरी ओर स्वयं नायक तथा उसके सामन्तों का उत्साह देखकर नायक की विजय का अनुमान होने लगता है। नायक की धर्मपत्नी यदि उसे युद्ध के लिए रोकती है तो मंत्री और सामंत उत्साहित करते है। इस प्रकार के घात-प्रतिघातों से कथावस्तु में बड़ी ही सजीवता आ गई है। कथा परिणिति का प्रभाव भी बहुत ही गहरा और व्यापक रूप से हृदय पर पड़ता है।

जहाँ तक नायक के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है कवि ने स्वयं अधिक न कहकर घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से बहुत अधिक कहला दिया है। लगभग नायक के सभी प्रमुख गुणों का इसके अन्तर्गत प्रतिनिधित्व हो जाता है। नायक के व्यक्तिगत आचार-विचार उसकी धर्मनिष्ठा, दाम्पत्य, दृढ़ता, दानशीलता और वीरता इत्यादि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ मिलता है।

इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता है वर्णन की सानुपातिकता। वास्तव में रासा तथा इस शैली के वीर गाथात्मक या प्रशस्ति काव्यों में इसका अभाव बहुत अधिक खटकता है। कवि अनावश्यक विस्तार करते चले जाते है पर मुख्य और महत्त्वपूर्ण बातों की ओर दृष्टि भी नहीं डालते जब कि इस रचना में कोई भी वर्णन अनावश्यक नहीं है तथा अधिक से अधिक महत्त्वपूर्ण बातों की नियोजना

को ओर कवि की दृष्टि गई है। कवि का यही विवेक उसे सत्कवियों की कोटि में लाकर खड़ा कर देता है। बिम्ब ग्रहण की इस अन्तर्दृष्टि के बिना कवि-कर्म सफल हो ही नहीं सकता।

नायक का सम्पूर्ण कार्य-विस्तार धर्म-प्रेम और देश-प्रेम पर केन्द्रित है:

भूमि हमारी स्वई यह है जिह में मखदान अनेक कियो है
जाचक और अजाचक को मन हर्षि सदा गज बाजि दियो है
केतिक सत्रु निपात कियो तुम जानति हौ हम जीति लियो है
नाम प्रसिद्ध अहै जग में मम भूमि तजे फल कौन जियो है
—रासा० ५५

इस दृष्टि से वह महत् उद्देश्य की ओर प्रेरित है। इससे इस कृति का गौरव और अधिक बढ़ जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत रचना की कथावस्तु का महत्त्व उसके नियोजन की युक्ति-युक्तता तथा चरित्र-चित्रण के शिल्प को देखते हुए कह सकते है कि अपने आपमें यह पूर्ण है। नायक के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण और सबसे विकसित कार्य-कलाप इसमें निबद्ध हुआ है, इसलिए भी अभाव का कही आभास नही होता। छन्दों की भावानुकूल योजना रचना के गांभीर्य को तथा उसके सौन्दर्य को बढ़ाने में सर्वथा समर्थ हुई है।

प्रस्तुत रचना की इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए यदि पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इन शब्दों को पढ़े "महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है उसे खण्ड काव्य कहते है। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण प्रतीत होता है।"[१] तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि प्रस्तुत रचना एक सफल खण्ड काव्य है और "रासा" काव्यों की विशेषताओं से मंडित है। अन्त में उसके उद्देश्य और विषय-वस्तु को भी ध्यान में रखते हुए हमारी समझ से इसे वीर गीतात्मक खण्ड-काव्य कहें तो अधिक उचित होगा, जो "रासा" शैली मे लिखा गया है।

मुक्तक

श्रव्य काव्य के प्रबंध और मुक्तक दो प्रमुख भेद है। आनन्द वर्धन के ध्वन्यालोक से साहित्याचार्यो के बीच इसकी प्रतिष्ठा विशेपरूप से हुई और आचार्यो ने

१. वाङ मय विमर्श पृ०३९

अपने-अपने दृष्टिकोण से इसकी परिभाषा देने का यत्न किया। परन्तु अब तक मुक्तक के शब्दार्थ में निहित मान्यता ही उसकी परिभाषाओं का केन्द्रबिन्दु है। "मुक्त" शब्द में कन् प्रत्यय के योग से मुक्तक शब्द बनता है जिसका अर्थ अपने में स्वतन्त्र अन्य निरपेक्ष रचना है। ध्वन्यालोक की लोचन टीका में दी गई मुक्तक की परिभाषा "मुक्तम् अन्येनालिंगितम्" को यदि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों के साथ मिलाकर देखें तो मुक्तक की यह मूल चेतना "पूर्वापर निरपेक्षता" को उसी तरह पावेंगे। शुक्लजी लिखते हैं "यदि प्रबन्ध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खंड दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।"[1] इस प्रकार शुक्लजी की परिभाषा में भी मुक्तक के शब्दार्थ की व्याख्या-सी मिलती है।

हिन्दी का मुक्तक साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। उसमें उसके आदिकाल से ही हर प्रकार के साहित्य की सृष्टि होने लगी थी। हिन्दी में आदिकालीन और मध्य-कालीन प्रायः समूचा धर्माश्रित भक्ति-साहित्य मुक्तकों में निबद्ध हुआ। रीतिकाल का प्रायः समूचा शृंगार-साहित्य मुक्तक काव्य का गौरव बना। डिंगल का अधि-कांश शौर्य व्यंजक साहित्य मुक्तकों में लिखा गया और आदि से अन्त तक सम्पूर्ण नीति और सुभाषित काव्य मुक्तकों में रचित हुआ। हिन्दी को यह रिक्थ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से मिला। इन तीनों की ही परम्पराओं का विकास यहाँ देखा जा सकता है। संस्कृत के अमरु शतक, आर्या सप्तशती, शृंगार शतक तथा प्राकृत के गाथा सप्तशती, अपभ्रंश के सिद्ध हेम, प्राकृत व्याकरण, प्रबंध चिन्ता-मणि में मुंज के दोहे तथा प्राकृत पैंगलम आदि रचनाओं का हिन्दी की शृंगार और वीररस की रचनाओं पर पड़ा प्रभाव मान्य हो चुका है।[2]

वीररस के मुक्तकों की परंपरा : मुक्त रूप में वीररस की रचनायें आज संस्कृत साहित्य के भंडार में नहीं के बराबर हैं। वास्तव में मुक्तकों में वीररस का साहित्य अपभ्रंश की ही अपनी विशेषता है जिसका डिंगल में लिखी गई वीररस पूर्ण मुक्तक रचनाओं पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों को मानिना यहाँ अप्रासंगिक न होगी "इन दोहों (अपभ्रंश) में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि स्त्रियों के मुख से अपने वीर पतियों के सम्बन्ध में अपूर्व वक्रोक्तियाँ कहलाई गई हैं। इससे पूर्व के साहित्य में इस श्रेणी की रचनायें कदा-चित् ही मिलती हैं। राजस्थानी साहित्य में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में सुरक्षित

1. हि० इतिहास, पृ०
2. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, भूमिका, पृ० १

है।"[1] अपभ्रंश के दोहों के साथ डिंगल की रचनाओं की तुलना करने पर इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। अपभ्रंश साहित्य की बहुत-सी उक्तियाँ ही देशकाल के थोड़े-बहुत अन्तर के साथ डिंगल में नहीं मिल जातीं, वरन् वही अपभ्रंश की शैली, जिसमें पत्नियों के मुख से दर्पपूर्ण वीरोक्तियाँ कहलाई गई हैं जो पुरुषों में उत्साह जागृत करने की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न है— डिंगल में भी ज्यों की त्यों गृहीत हुई है। अपभ्रंश और डिंगल की यह शैली ब्रज-भाषा या पिंगल के मुक्तकों में नहीं लक्षित होती वरन् उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। भूषण और भगवन्तराय के मंडल के कवियों की रचनायें इसी परंपरा की हैं। यद्यपि पिंगल में वीररस के मुक्तक लिखने वाले प्रथम प्रौढ़ और सर्वमान्य कवि भूषण ही हैं पर उनके पूर्व भी ऐसी रचनायें लिखी जाती थी। रहीम का यह दोहा इस प्रसंग में उल्लेखनीय है :

"रहिमन धड़ से जुदा ह्वै हँस्यो सीस परि खेत
काकहुँ काकहुँ नमित हम अपन पेट के हेत।"

स्वाभिमान की रक्षा के लिए मरने में भी हर्ष प्रकट करना कवि का केन्द्रस्थ भाव है।

आलोच्य मुक्तकों के सामान्य लक्षण : संस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक काव्य का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। इसका आधार उन्होंने प्रथम संख्या को बनाया। दंडी, आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। संख्या का अर्थ है मुक्तक रचनाओं का संख्या के अनुसार वर्गीकरण, जैसे मुक्तक की छन्द संख्या एक, युग्मक की दो, कुलक की संख्या पाँच या छह। इसी प्रकार मुक्तकों के ७ भेद विशेष रूप से प्रचलित हुए। इस वर्गीकरण के पश्चात् काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने विषयगत वर्गीकरण प्रस्तुत किया। यद्यपि यह वर्गीकरण अन्तिम नहीं माना जा सकता फिर भी मुक्तक का स्वरूप समझने के लिए इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। राजेश्वर ने मुक्तक के १-शुद्ध, २-चित्र, ३-कथोत्व, ४-संविधानक भू, ५-आख्यानक वान, पाँच भेद किये हैं।

चूँकि भगवन्तराय के मंडल के कवियों की मुक्तक रचनाओं को एकत्र करने में स्वयं भगवन्तराय के ही वर्णन को आधार माना गया है, इस प्रकार जो छन्द प्राप्त हो सके है वे किसी विशेष संग्रह या क्रम में नहीं थे अतः उनका स्थान संख्या-मूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता। विषय के अनुसार ही यह वर्गीकरण उपयुक्त होगा। क्योंकि इन मुक्तकों में जिनका विषय "इतिहास

---

१. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २३८ में उद्धृत

युक्त" है, ये राजशेखर के अनुसार "कथोत्थं" मुक्तक माने जायेंगे। इनमें से चतुरेश कवि के छन्दों में एक ही विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन होने से वे 'चित्र' कहे जायेंगे। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के शोक मुक्तक भी है जो मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में बहुत थोड़े ही मिलेंगे। शोक एक भाव है अतः इस नाम से मुक्तक का वर्गीकरण भावगत सत्ता पर आधारित है। भरत के अनुसार "शोकोनाम इष्टजन वियोगविभव नाश बन्धन दुःखानुभवनादिभिर्विभावं रुच्यते"[1] अर्थात् इष्टजन का वियोग, विभव का नाश, किसी प्रिय व्यक्ति के वध आदि के कारण यह उद्भूत होता है। इन कारणों से किसी कवि की अनुभूति अत्यधिक वैयक्तिक और तीव्र होकर जब व्यक्त होती है तभी वह शोक-गीत या शोक-मुक्तक कहा जायेगा। भूधर कवि का "उठि गयौ आलम सों रुजुक सिपाहिन को" प्रतीक वाला कवित्त इसका सुन्दर उदाहरण है। वैयक्तिकता और गहरी संवेदनशीलता का भाव इन पंक्तियों में भी देखा जा सकता है :

"जाचक की मंसा को पूर अब कौन करे
जोतो हतो भू में कल्पद्रुम सो टूटिगो"

तथा

"कवि कविताई करिबे से मन हूठिगो"

इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त इनकी भावप्रवणता सबसे बड़ी विशेषता है। इनमें कृत्रिमता या रूढ़ि पालन के स्थान पर हृदय के निश्छल उद्वेग की ही अभिव्यक्ति हुई है जो इसकी प्राणवत्ता को कहीं भी मन्द नहीं होने देती। रीतिकालीन छन्द और संगीत के भीतर कवि-हृदय की वीर-पूजा भावना का ऐसा प्रतिबिम्ब रीतिकाल के कलेवर में शायद ही मिलेगा।

शृंगार रस का स्वरूप : "काव्य शास्त्रियों का शृंगार" शब्द अपने शाब्दिक अर्थ का ही प्रतिनिधित्व करता है। शृंग और " 'ऋ' धातु से व्यवस्थित 'आर' शब्दों के योग से यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ कामोद्रेक की गति अथवा काम वृद्धि की प्राप्ति है। पुराणों में काम को देवता माना गया है जिसके पर्याय मनसिज और मनोभव भी हैं। इसकी पत्नी रति है। जब यह किसी पर आक्रमण करता है अर्थात् अपना प्रभाव विस्तार करता है तो वसन्त तथा सुरभित पुष्पों और मन्द पवन आदि की सहायता लेता है। यदि इस प्रकार के वर्णनों को प्रतीकार्थों में ग्रहण करे तो वे बड़े ही वैज्ञानिक और तथ्यपरक सिद्ध होंगे। काम की जन्मस्थली मनुष्य का मन है। फलतः यह सनातन तथा चिरन्तन है। इसका आधा

---

१. नाट्य शास्त्र : ७ : १०

अंग रति है। जो शृंगार का स्थायी भाव है। वसन्त पुष्प राजि और उपवन वाटिका आदि उद्दीपन विभाव हैं। काम की सेना में आलम्बन रूप अप्सराये भी रहती है जो नृत्य कटाक्षपात इत्यादि करके आश्रय के हृदय में काम और रति के साम्राज्य को स्थापित करती है। यह "मनसिज" इतना प्रबल होता है कि इससे बचने का दंभ बहुतों ने किया, संसार छोड़कर निर्जन में गये पर बच नही पाये। काम की सेना जब सजती है तो साधारण स्त्री-पुरुषों की बिसात क्या जड़ जगत् भी उससे संचालित हो जाता है। "सरित उमगि अम्बुधि कहँ जाई संगम करहि तलाब तलाई।[1] मर्यादावादियों ने सदा इसके विरोध मे अपनी शक्ति आजमाई है पर वे सब सदैव इसकी एक ही चपेट में सुधबुध भूलकर पागल बन गए है। इस प्रकार के वर्णनों से यह तात्पर्य है कि मानवमात्र के साथ ही यह काम प्रवृत्ति बँधी हुई है और यह सभी कालों में रही है और रहेगी। काम-चिन्तन शाश्वत और सर्व व्याप्त है। शृंगार का वर्ण श्याम और उसके देवता विष्णु माने गये है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने शृंगार की परिभाषा बहुत ही उपयुक्त शब्दों मे की है :

शृंग हि मन्मथोद्भेवस्तदा गमन हेतुकः
उत्तम प्रकृति प्रायो रसःशृंगार इष्यते।[2]

ध्यान देने की बात 'उत्तम' विशेषण है। उत्तम प्रकृति के नायक-नायिकाओं को ही शृंगार हमारी सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत किया गया है। यदि कहना चाहे तो, इस सीमा रेखा के आधार पर कह सकते है कि उन समस्त चेष्टाओं को जिन्हें समाज "उत्तम" नहीं कह सकता, साहित्य में वर्णित शृंगार रस से परे समझना चाहिए। इसीलिए श्लील और अश्लील शृंगार का विभाजन साहित्य-दृष्टि से कहाँ तक उचित होगा, यह विचारणीय है। "अश्लील" को यदि उत्तम नही कहा जा सकता तो वह साहित्य-क्षेत्र के बाहर का विषय होगा। यह विवेक रीति-काल के शृंगारी कवि में कभी भी तिरोहित नहीं हुआ। मर्यादा की लक्ष्मण रेखा को लाँघने का दुस्साहस उन्होंने कभी नही किया। शृंगार के आलम्बन रूप नायिका के आठ गुण वास्तव में उत्तम प्रकृति के ही लक्षण प्रतीत होते है :

जोवन भूषन रूप गुन सील विभौ कुल नेम
आठ अंग नायिका अरु कहिए पूरन प्रेम

—जयसिंह विनोद

१. मानस० बालकाण्ड
२. साहित्य दर्पण ३।१८

साहित्य-क्षेत्र में शृंगार को नायिक नायिका सम्बन्ध के आधार पर अनेक भेदोप-भेदों में बाँटने का प्रयास हुआ है परन्तु व्यावहारिक मान्यता में संयोग और वियोग को ही स्थान मिला है।

संयोग को भेदहीन मानकर वियोग के अभिलाष विप्रलंभ (पूर्वराग) ईर्ष्या विप्रलंभ (मान) विरह एवं प्रवास में चार भेद स्वीकार किये गये हैं।

शृंगार रस की व्यापकता : कहा जा चुका है कि मन के प्रमुख विकार काम पर आश्रित होने के कारण इसका विस्तार बहुत अधिक है। यों साहित्य-शास्त्र के अन्य रस भी मन के विकारों पर आश्रित होते हैं पर उनके पीछे वह शक्ति नहीं है जो काम के पीछे सहज रूप से विद्यमान है। काम इन्द्रिय या शरीर की भूख है। भूख और प्यास के बाद इसका स्थान आता है। भूख प्यास के बिना तो जीवन नहीं चल सकता किन्तु काम की आवश्यकता उसी कोटि की होने पर भी कठिन नियन्त्रण का विषय रही है। अतः यह मायावी रूप से मनुष्य के अनेक कार्य-व्यापारों, चिन्तन इत्यादि में प्रकट होती है, फ्रॉयड और उनके अनुवर्ती जुंग आदि मनोवैज्ञानिकों का यही मत है। फ्रॉयड का तो यहाँ तक कहना है कि इसी "काम" की प्रच्छन्न शक्ति ने सभ्यता, संस्कृति तथा समस्त ललित कलाओं और साहित्य को प्रेरणा प्रदान की है। साहित्य-शास्त्र में इसी की परिमार्जित स्वीकृति 'शृंगार-रस' के अन्तर्गत की गई है, अतः उसे 'रसराज' कहा गया है। 'रसराज' कहने में मनोवैज्ञानिक आधार तथा स्वयं श्रेष्ठतम और विपुल साहित्यिक कृतियों का वाह्य प्रमाण भी मिल जाता है। इसकी व्यापकता से हमारे आलोच्य कवि देव तो इतना अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने यहाँ तक कहा कि :

> "निर्मल सुद्ध सिंगार रस, देव अकास अनंत
> उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिवस न पावत अन्त"

यह ठीक है कि यह कथन अत्युक्तिपूर्ण है पर निश्चय ही इस दावे की मूल प्रेरणा शृंगार की सर्वव्यापकता और सर्वकालिकता पर आधारित है। रूढ़ रूप से शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिका ही होते हैं और यह दाम्पत्य रति में ही प्रकट होना है। पर स्थायी भाव रति अन्यत्र भी हो सकता है। भोजराज के अनुसार "मनोनुकूलेष्वर्षेपु सुखसंवेदनं रतिः" अर्थात् मन के अनुकूल विषयों से सुख का अनुभव करना रति है।"[1] इसी दृष्टि से पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह कथन शृंगार के परिपेक्ष्य को विस्तारपूर्वक सामने लाता प्रतीत होता है। "शृंगार की सीमा के भीतर प्राणि मात्र ही नहीं उन वनस्पतियों के वर्ग भी आ जाते हैं

---

१. हिन्दी साहित्यकोश. पृ० ७७१

जिन्हें हम साधारणतया जड़ समझते हैं।"[1] इस शृंगार के दायरे में प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति, सत्य सभी कुछ आ जाता है। शृंगार की व्यापकता का समर्थन डा० नगेन्द्र ने भी किया है "शृंगार का परिधि-विस्तार मानव-हृदय तक ही सीमित न होकर पशु-पक्षी, तथा लता-गुल्मों तक फैला हुआ है। वनस्पति जगत का यौवन, उनका प्रस्फुटन एक निश्चेतन क्रिया नहीं है, उसमें स्पष्ट रूप से उत्पादन की प्रेरणा है।[2]

देव की शृंगार विषयक मान्यता :

१—दंपति प्रेमांकुर प्रथम सो सिंगार थिति भाव
ताहि विभाव बढ़ावहीं प्रगटावें अनुभाव
२—सातुक संचारीन सों भीतर बाहेर पूरि
रति पूरन सिंगार सो जोवन जीवन मूरि

—जयसिंह विनोद

इन लक्षण दोहों में शृंगार की सामग्री का वर्णन है जो नायक-नायिका में उद्दीपन विभाव, स्थायी भाव अनुभाव, सात्विक और संचारियों के मेल से शृंगार रस का स्वरूप खड़ा करता है। यह वर्णन काव्यशास्त्रीय है और शृंगार रस-विषयक मान्यता से भिन्न नहीं है। यहाँ विशेषता है देव की शृंगार विषयक धारणा में। वे शृंगार को "जोवन और जोवन की मूरि" मानते हैं। इस प्रकार हम देव की शृंगार विषयक मान्यताओं की सहज ही झाँकी पा जाते है।

शृंगार के सम्बन्ध में अपने इसी दृष्टिकोण के कारण देव ने अपने विवेचनों में शृंगार को रस-राज कहा और क्रमशः नव रसों में तीन की श्रेष्ठता स्वीकार की तथा अन्त में उन्हें भी शृंगार में अन्तर्मुक्त करके "शृंगारेव रसः" की घोषणा की। इस विवेचन या स्थापना के मूल में कवि की शृंगार विषयक आस्था को ही स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि संस्कृत में भी अपनी रुचि के अनुसार कुछ लोग अपने प्रिय रस को "एकमात्र" रस कह चुके हैं। भवभूति ने "एको रसो करुण" कहा है तथा "विश्वनाथ कवि राज के पितामह नारायण ने अद्भुत को ही रस माना था।"[3] इसी तरह वीर के अन्तर्गत भी कुछ लोग सभी रसों का समाहार कर देते है। वियोगी हरि जी की वीर सतसई तथा वटे कृष्ण के "वीर रस का शास्त्रीय विवेचन" में यह प्रयास स्पष्ट है। इस आग्रह के पीछे स्वयं व्यक्ति की अपनी प्रवृत्ति का

---

१. पद्माकर पंचामृत, पृ० ६१
२. दे० कविता० पृ० ८५
३. पद्माकर पंचामृत,पृ० ६३

ही महत्त्व अधिक है। इस प्रकार देव की शृंगारोपासक प्रवृत्ति का ही इस विवेचन से उद्घाटन अधिक हुआ है।

देव शृंगार रस की श्रेष्ठता या उसके "रसराजत्व" को जीवन के लिए भी सर्वोपरि मानते थे। उनकी दृष्टि में जीवन का भोग पक्ष ही एक मात्र वरेण्य था। इस "भोग" का आधार था "कामिनी"। जो इस सुख से वंचित होकर शरीर को कष्टादि देते थे उनकी दुर्बुद्धि पर इस कवि को तरस आता था :

> हा धिक मूढ़ महाजड़ जोगी जे या तन को दुखदे सुख भाखें
> तेधनि जे जन जीवन को पनु देव सुभोगन सो भरि राखें
> ले परजंक मयंक मुखी नव, अंक भरे अधरामृत चाखें
> घूमत झूमत चूमत जे मदिरारुण की खदिरारुण आखें"
>
> —देवमाया प्रपंच अंक ५।३२

यहाँ कवि के "दुख दे सुख भाखें" कथन से स्पष्ट है कि वास्तविक रूप से ऐसे लोग अपने शरीर को कष्ट देकर प्रसन्नता नहीं अनुभव करते—कष्ट ही पाते हैं किन्तु नाटक करते हैं कि इससे तनिक भी दुख नहीं है और प्रसन्न हैं। यह आत्म प्रवंचना नहीं तो और क्या है। दूसरी ओर कवि ने समस्त भोगों का केंद्र बिन्दु स्त्री के अधरामृतों के पान में निहित माना है। देव की यह मान्यता उनके जीवन की शृंगारपरक प्रवृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

देव की शृंगार विषयक यही सैद्धान्तिक आस्था उनके काव्य में भी प्रस्फुटित हुई हैं। पर उसका संतुलन कहीं भी बिगड़ने नहीं पाया है। "उत्तम प्रकृति" भी अपने स्थान से च्युत नहीं हुई है। इस आशय का एक दोहा अन्यत्र उद्धृत किया जा चुका है। वे इस शृंगार या रति के पीछे प्रेम तत्व को बहुत महत्त्व देते थे तथा उन्होंने इसी से परकीया आदि रमण को तो इसकी सीमा से सर्वथा बहिष्कृत रखा है।

> "गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा मुदिता जानि
> अनुसयना षट भेद ये परकीया रस हानि"
>
> —जयसिंह विनोद

इससे स्पष्ट है कि देव का शृंगार दाम्पत्य रति पर आधारित है जो जीवन को सरस मधुर एवं स्पृहणीय बनाता और अन्त में तृप्ति की अनुभूति कराता है। यही तृप्ति आत्म-तोष दे सकती है। मन यहीं रम सकता है और मन ही में जब परमेश्वर है तो मन के सुख भोग से मुक्ति भी यहीं मिल जाती है :

> कहिए परमेसुर सो मनु है, मन ही सों बन्ध्यों जगको तनु है
> मन जीवत जीवन को पनु है, मन ही के मतेते मर्‌यो जनु है

मन के सुख मुक्ति सु मुक्ति लही, मन के दुख पावत नर्क सही
मन होय सुखी सु सदा करिए कत वाद विवाद वृथा करिए।

—देवमाया प्रपंच, अंक ५।३५

पर देव का यह दाम्पत्य शृंगार भोग-कामशास्त्र की क्रीड़ाओं पर आश्रित नहीं है। उसके लिए तो हृदय में प्रेम होना चाहिए, इसके अभाव में स्थूल ऐन्द्रिय भोग व्यर्थ है—

एकै सुख सब तियन में थे रस प्रेम विवेक
पानी पैनी धार में खग्ग-खग्ग सब एक।

—जयसिंह विनोद

यदि दाम्पत्य जीवन में इस प्रेम तत्व की उपेक्षा कर दी गई तो सारी सुन्दरता, चतुरता और उच्च कुलीनता मिट्टी में मिल जाती है और जीवन मिट्टी के समान हो जाता है। नायिका की मानावस्था में सखी के शब्दों में यही व्यंग्यार्थ निहित है :

बारिये बैस बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन देव बड़ीये बनाई
सुन्दर औ सुघरी हो सलोनी, हौ शीलभरी रस रूप सनाई
राज बहू बलि राजकुमारि, अहो सुकुमारि न मानो मनाई
नैसिक नाह के नेह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई

—जातिविलास तथा रसविलास

चूँकि देव के सामने दाम्पत्य शृंगार का आदर्श था और परकीयात्व को वे प्रश्रय नहीं देते थे इसीलिए उनकी रचनाओं में शृंगार के संयोग पक्षों के सौंदर्य की ही आशा विशेष रूप से की जानी चाहिए विप्रलंभ की नहीं। उनका साहित्य संयोग के अनेकानेक सरस चित्रों से अत्यन्त समृद्ध है और विप्रलंभ तो उदाहरण के रूप में ही मिलता है।

जयसिंह विनोद का शृंगार वर्णन : जयसिंह विनोद रस-नायिका भेद का ग्रन्थ है। फलतः इसमें रसराज की चर्चा को ही मुख्य रूप से स्थान मिला है। इस वर्णन में भी शास्त्रीयता की ओर तो गौण रीति से पर "नायकादि" (आलम्बन) के वर्णन की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से है। नायक-नायिकाओं के अनेक विध सम्बन्धों के आधार पर उनका वर्गीकरण करके उन सबके उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं. जिनमें शृंगार रस की विस्तृत भाव-भूमि अभिव्यक्त हुई है। कहना नहीं होगा कि संयोग और वियोगजन्य अनेक भाव-विवृत्तियों के सूक्ष्म और मनोग्राही वर्णन भरे पड़े हैं। इस वर्णन में शृंगारी चित्रों की विविधता के साथ-साथ उसकी मांसल और भावगत दोनों ही सत्ताओं को समुचित स्वीकृति मिलती है। कहीं कोई नायिका अभिलाषा को अन्तःकरण में दबाये बैठी है तो कोई प्रलाप कर रही

इसी प्रकार की वाक्पटुता कवि ने प्रगल्भा के वचनों में भी व्यक्त की है। नायिका रति प्रसंग की बात चला रही है और व्यंग्य द्वारा संयोग का मुखर चित्र भी प्रस्तुत करती है पर स्थूलता इस उत्कट रूप में नहीं है कि भद्दी लगे। शालीनता और मर्यादा को इस प्रसंग में भी कवि ने स्वयं नायिका की ही उक्ति में प्रकट कर दिया है इसलिए यहाँ भी ऐन्द्रिय पक्ष अशिष्ट नहीं हो पाया।

सुनि है उपहासिनि हैं जनी वे, पग पैंजनी बैरिन रागती हैं
न छुवो कछु अंग छिमा करो छैल, सकोच की गैल समागती हैं
घुंघरून घरावसी मौन धरें, बिछियान की जी भौ न लागती हैं
विनती सुनो देव जू बोलो हरे दुखिया वे हहा हरि जागती हैं।

—जयसिंह विनोद

देव की यह प्रवृत्ति स्वयं उनके स्वभाव में थी। वे सुन्दर के उपासक थे और मर्यादा को महत्व देते थे। असाधुता को वे स्वयं पसन्द नहीं करते थे :

मुग्धादिक वय भेद अस, मान सुरत सुरतांत।
बरने मत साहित्य के, उत्तम कहे जु संत॥

—सुजान विनोद

जयसिंह विनोद का शृंगार स्थूल शारीरिकता और सूक्ष्म भावुकता के चित्रों से भरपूर है पर वह कहीं भी साधुता की मर्यादा से च्युत नहीं हुआ है। शारीरिकता और यथार्थ को इतना अधिक महत्व देते हुए भी शृंगार को इतना मर्यादित बना सकना देव जैसे महाकवि के ही सामर्थ्य की बात थी। कवि-प्रतिभा की परख के लिए ऐसे संदिग्ध स्थलों से बढ़कर उपयुक्त और दूसरी क्या कसौटी हो सकती है? देव के शृंगार काव्य की सर्वतोमुखी विशेषता प्रेमोद्वेलन में है। उनकी रचनाओं में इस प्रेमतत्व की तीव्र अनुभूति गहरी व्यंजना में समुद्भूत हुई है। "साथ में राखिये नाथ उन्हें हम हाथ में चाहतीं चार चुरी ये" कथन में विवशता और करुणा तथा मानवीय हृदय के सहज ईर्ष्याजन्य भाव भी प्रेमाधिक्य से परास्त होकर जीवन में प्रेम से समझौता करना चाहते हैं। त्यागजन्य उदारता और विवशता अन्य करुणा मानव हृदय के प्रेम और ईर्ष्याजन्य भाव हैं। दो में से किसी की भी स्थिति को अस्वीकार करना अमनोवैज्ञानिक और कृत्रिम होकर प्रभावहीन हो सकता था—नायिका के हृदय में उस यथार्थ संघर्ष के ऊपर प्रेम की विजय दिखाई गई है। कहा जा चुका है कि देव इस प्रेम तत्त्व को शृंगार का एकमात्र जीवन मानते थे और उन्होंने उसकी व्यंजना भी अपने काव्य में की है। आलोच्य रचना में प्रेमतत्त्व के अनेक उदाहरण हैं। खंडिता धीरा नायिका का यह कथन अतिप्रसिद्ध है जो प्रेमतत्त्व का उत्कृष्ट उदाहरण है :

पतिव्रत व्रती ए उपासी प्यासी अँखियन
प्रात उठि पीतम पिवायो रूप पारनो
—जैसिंह विनोद

पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने देव के प्रेम तत्व का अपने ग्रन्थ 'देव और बिहारी' में अच्छा विश्लेषण किया है। देव के प्रेम तत्व को समझने में पण्डितजी का यह कथन मार्गदर्शन करता है। "देवजी का संदेश प्रेम का सन्देशा है।...दो आत्माओं का आत्मनिलय होकर एक हो जाना आदर्श है, दूसरे के लिए सर्वस्व त्यागने में आनन्द है, एवं स्वार्थ का अभाव इसकी विजय है।"[1] इस प्रकार कह सकते है कि देव का श्रृंगार-वर्णन संयोग, वियोग और प्रेम की अन्तर्दशाओ से परिपूर्ण है।

भाव पक्ष और कला पक्ष : काव्य या साहित्य मानव जीवन की आन्तरिको भावनाओं की अभिव्यक्ति है। भावनायें बिना बाह्य साधनो के नही प्रकट ह सकती। हृदय के भावो को शरीर के हाव-भाव और चेष्टायें उद्घाटित करती है। यह सत्य मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान दोनो से अनुमोदित है। जब प्रकृति भाव की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शरीर का अंचल पकड़ती है तो फिर काव्य-निर्माता उसके बिना कैसे काम चला सकता है? सामान्य जीवन मे भाव यथा वाछित रीति से आस्वाद्य नही होते जबकि सहृदय सुखद भावों को बार-बार आस्वादित करने के लिए लालायित रहता है। कवि सहृदय की इस अभिलाषा की पूर्ति काव्य-रचना से करता है। अतः कविता के दो पक्ष स्वीकार करने पड़ेगे (१) कवि का भाव-कोश और (२) भावों को अभिव्यक्ति देने वाले समस्त साधन। भाव-कोश कविता की अंतश्चेतना या उसका प्राण माना जाता है, जबकि उसको अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले साधनो में भाषा छंद, अलंकार इत्यादि कला शब्द मे व्यक्त होकर उसके शरीर का बोध कराते है। सत्काव्य में इन दोनो का संतुलन और सामंजस्य रहता है। किसी भी पक्ष के निर्बल होने पर उसका संभार डगमगा जाता है। इसी तरह किसी एक पक्ष का विशेष आग्रह भी उसके स्वरूप को असंतुलित कर देता है। इतना अवश्य है कि कला भाव के आश्रित और उसकी अनुवर्त्तिनी है। किसी ने बड़े सुन्दर रूपक से इस तथ्य को प्रकट किया है "काव्य में भावसत्ता की तुलना स्त्री की तरुणाई से की जा सकती है। तरुणाई आते ही उसके अंगों का ऐसा मोहक प्रस्फुटन होता है कि वह अनायास मन को मोह लेता है। अंगों का यह प्रस्फुटन बडा ही सामंजस्यपूर्ण होता है

१. देव और बिहारी, पृ० २५२

तथा कही भी एक बिन्दु की कमी नही रहती। इस प्रकार तारुण्य की उपमा यदि भाव शरीरी से दी जाये तो युवती के नेत्र, नासा कपोल उरोज इत्यादि को कला कह सकते है। तारुण्य बिना इनके व्यक्त नही हो सकता और इनके ढल जाने का अर्थ है तारुण्य का लोप हो जाना। भाव और कला सत्काव्य मे सहजात है।" काव्य मे भी इन दोनों पक्षों को पृथक कर सकना असंभव-सा है क्योंकि इनकी सत्ता स्वतन्त्र नही होती। दोनो ही अन्योन्याश्रित है। भाव बिना कला के नही टिक सकता और भावहीन कला, कला नही हो सकती। इसीलिए स्वयं कला शब्द भाव पूर्ण हो गया है।

हमारे आलोच्य कवि देव भाव प्रधान कवि थे। केशव आदि अलंकार वादी कवियो के विपरीत देव ने कविता को आत्माभिमुख किया। पडित कृष्णबिहारी मिश्र का कथन साक्षी के रूप मे उद्धृत किया जा सकता है "प्राचीन कवि अलकारों को ही सबसे अधिक महत्व देते थे, इनकी कविता में भाव भाषा द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। लक्ष्य कला की पूर्णता थी, भाव का सम्पूर्ण विकास नही। भाव को बँधकर चलना पड़ता था। कला के नियम, उसे जिस ओर ले जाते थे, वह उसी ओर जाने को विवश था। इसके बाद दृष्टिकोण बदल गया। आगे से यह मत स्थिर हुआ कि कला के नियम कवितागत भाव के पथ-प्रदर्शक मात्र है, भाव का बाँध रखने के अधिकारी नही। हिन्दी के भाषा कवियों मे कवि-कुल-कलश केशवदासजी प्राचीन अलकार प्रधान-प्रणाली के कवि थे, तथा देवजी उसके बाद की प्रणाली के।"[1] इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देव की कला भावानुगामिनी है। सहृदय इसी भावसत्ता में रमण करता है, इसलिए उसे वही अभिप्रेत है। परन्तु इस भाव की लौकिक या काव्यगत स्थिति सदैव कला में निहित रहती है, इसलिए भाव-प्रधान कवि का कलागत सौन्दर्य-बोध किसी भी प्रकार न्यून नही होना चाहिए अन्यथा भाव ही कुण्ठित हो जाता या कवि का इष्ट ही नही सध पाता। देव को भाव-प्रधान या भावों को अधिक महत्त्व देने वाला कवि कहने का अर्थ यह है कि उनकी कला सप्राण है और उस कला में जीवन-शक्ति छलछलाती है। कला का अंश कही भी जड़, भावशून्य या अनावश्यक नही है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन दोनो पक्षों को अलग-अलग करके देखना संभव नही होता। कला के ही माध्यम से भाव साक्षात्कार होता है और भाव के द्वारा ही कला की सार्थकता सिद्ध होती है। दोनो मिले-जुले रूप मे एक-दूसरे

---

१. देव कविता० पृ० २५२

के उपकारक होते हैं। परन्तु सहृदय के लिए इतना विवेक अवश्य सहज है कि किसी की कला को देखकर यह जान लें कि इसमें भाव की न्यूनता, अस्वाभाविकता या निर्जीवता है और उसी प्रकार भाव-पक्ष पर विचार करते समय यह देख लें कि भाव अस्पष्ट या असंवेद्य है, भाषा, छंद, अलंकार इत्यादि कला के जिन अवयवों में वह व्यक्त हुआ है वे त्रुटिपूर्ण हैं, और भाव की स्वाभाविकता का संवहन नहीं कर पाते। इस प्रकार कह सकते हैं कि काव्य के किसी भी पक्ष के माध्यम से दोनों ही पक्षों पर प्रकाश पड़ता है और इस प्रकार सम्यक आलोचना सम्भव है। वास्तव में काव्य के सौन्दर्य को उसके समस्त संभार के साथ एक ही साथ देखा भी जा सकता है, क्योंकि काव्य में भाव-पक्ष और कलापक्ष की सामंजस्यपूर्ण योजना ही कविकर्म की कसौटी है।

भाव या अनुभूति को चित्र रूप में ही प्रकट किया जाता है। इस चित्र के संघटन में जिन उपादानों की योजना होती है वही कला है। कवि देव, भाव के चित्रण में बहुत ही अधिक सफल हुए हैं क्योंकि जहाँ उनके पास भावों का विपुल कोष था वहीं उनको सजा सँवार कर रखने के लिए कला का अपूर्व सामर्थ्य भी था। काव्यगत चित्रों के लिए भाषा ही सबसे बड़ा साधन है। संगीत और लय इसी भाषा से बनते हैं। अलंकारों की रेखायें बनती हैं जिनमें भाव बँधता है जिन्हें रंग और रेखाएँ आदि उपादान व्यक्त नहीं कर पाते। वह लक्षण और व्यंजना द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार भावों की गहराई को स्पष्ट करने वाले कवि देव के लिए कला का महत्व बढ़ गया है। यदि उनका पक्ष कहीं दुर्बल होता तो उनकी भाव-सम्पत्ति इतने प्रभावोत्पादक रूप में न मिलती जैसी कि आज सुलभ है।

चित्रण कला में रूपांकन का बहुत महत्व है। देव का प्रस्तुत कवित्त नारी के स्वरूप का मार्मिक चित्र खींचता है। किसी भी भाव की उसमें प्रकट रूप से कोई अन्विति नहीं दिखाई गयी परन्तु यह सहज सौंदर्य किसे नहीं मोहित कर लेगा, किसके मन-प्राण को झंकृत न करेगा—

जरीपट घूंघट वितान बन्दी तोरन, चंदोवा
सीस फूल के लसत उदीप है
माँग है सुहाग पौरि आंसुन जराऊ खोरि
तरिवन देव दोऊ सेवक समीप है
भौंहतट नील लाज सागर सलित सील
लोचत कमल नासा मुकता सीप है

सफरी हंसनि पर डारी डारी गून डोरी
राजे रोरी को तिलक मुखमंडल महीप है।
—जयसिंह विनोद

जरी-पट घूँघट में नायिका का महीप मुख-मण्डल अपने समस्त राजसी ठाट-बाट और अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य (लाज-शील) के साथ विराजमान है। सौन्दर्य का अधीश्वर यह मुख भला किसके हृदय में रूपेषणा न जागृत करेगा? यही रूपेषणा काम है जिसका भाव रति है। इसमें वस्तु का चित्रण करके भाव-संवेदना को जागृत किया गया है।

प्रस्तुत काव्य-चित्र में कवि का कलापक्ष भी द्रष्टव्य है। उसके शब्दों का संगीत छन्द की सफाई और उपमानों की योजना का विदग्ध विधान प्रस्तुत करता है। भौंहों के पास नेत्रों का नील समुद्र है जिसमें 'शील' का जल भरा है। नेत्र और सागर दोनों नीले होते है, इसलिए उपमा का सादृश्य हुआ। सागर की गहराई से लज्जा के संकेत में साधर्म्यता और फिर सागर में अपार सलिल है तो नेत्रों में अपार शील। यहाँ भी साधर्म्य द्वारा गुणों का बोध कराया गया है। नायिका के लज्जा और शील दो अमूर्त गुणों को कवि ने किस प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकट किया है। इसी प्रकार "सफरी हँसनि पर डारी डारी गुन डोरी" भी द्रष्टव्य है। उज्ज्वल हास्य को सफरी से उपमित करने में कवि की अपनी मौलिकता है। जरीपट के घूँघट के भीतर नायिका की हँसी जल की मछली की तरह चमक जाती है यह उपमान अपने आप में कितना व्यंजक है। हास्य के इस सौन्दर्य के दर्शन में कवि भी मोहित हो गया है और कह उठता है "डारी डारी गुन डोरी।" "डारी-डारी" में वीप्सा अलंकार इसी तीव्र भावानुभूति की व्यंजना करता है। सौन्दर्य को देखकर भावुक कवि तटस्थ नहीं रह पाते। प्रसादजी भी कह उठे है "आह वह मुख पश्चिम का व्योम।" आह शब्द रूप-संवेदना को ही प्रकट करता है। देव भी कह उठे कि इस सफरी रूपी हास्य को फँसाने के लिए नायक ने गुण की डोर डाल दी। भाव और कला का कैसा सुन्दर निर्वाह है। मुख-मंडल महीप अपने समस्त ऐश्वर्य के साथ बैठा हुआ है। उसके ही अधीन समस्त आकाश और सागर का साम्राज्य है। इस सौन्दर्य के अधीन समस्त संसार है। देव ने इसकी उद्भावना में "जग चेरो करि लेय" की मान्यता को प्रस्तुत रूपक में पूर्णतया उतार दिया है। निश्चय ही अपने सौन्दर्य की इस अपूर्व भावना में कवि देव अप्रतिम है। सौन्दर्य की परिसीमाएँ छूती हुई कवि की उद्भावनाएँ सहज ही काव्य के अति गहन अन्तरालों में प्रविष्ट हो जाती है और सुन्दरता का आकार लेने लगती है।

उपर्युक्त सौन्दर्य वर्णन बड़ा ही प्रशान्त और गम्भीर है। अब उनके एक चटुल

सौन्दर्य का भी चित्र देखिए। इसकी रंग-रेखाएँ कितनी चटकीली, भड़कीली और मुखर हैं :

आवो ओट रावटी झरोखा झाँकि देखो देव
देखिवे को दाउँ फिरि दूजो धाम नाहि ने
लह लहे अंग रंग महल के आँगन वह
ठाढी बाल लाल पगन उपाहने
लोने मुख लवनि नचनि नैन कोननि की
डरति न और ठौर सुरति सराहने
बाम कर बार बार अंचर संभारो करै
कैयो छंद कंदुक उछारै कर दाहिने

—जयसिंह विनोद

प्रस्तुत चित्र में दूती नायक को नायिका के एकान्त सौन्दर्य का दर्शन करा रही है। ऐसा संयोग घटित किया गया है कि अंगों के चांचल्य और उनकी सचेष्टता का पूर्ण अंकन प्रस्तुत किया जा सके। इस संयोग की उद्भावना के मूल में कवि की कल्पना-प्रवणता नहीं तो क्या है? अब देखिए नायिका को। वह रंगमहल के आँगन में खड़ी है और उसके अंग लहलहा रहे हैं। ('लहलहे' शब्द कितना व्यंजक है। खूब भरे हुए खेत में पवन के झोंकों से फसल लहलहाती है। इस शब्द के प्रता-कात्मक प्रयोग द्वारा कवि ने नायिका के अंगों का कैसा भावचित्र प्रस्तुत कर दिया है) अंगों का नखशिख सौंदर्य इस अंग में उद्घाटित हुआ है। स्फुरण और उद्वेलन को कितनी दग्धता से कवि ने उद्भासित किया है। नायिका का सलोने मुख का लावण्य, उसपर नाचती हुई चंचल दृष्टि—वक्ष से वार-बार अंचल का खिसकना और उसको ठीक करना तथा कंदुक के पीछे भागने में एड़ियों का लालिमामय सौंदर्य सामने आ जाता है। क्रीड़ा-रत होने के कारण ये अंग सचेष्ट हैं, इनकी क्रियाशीलता, इनकी चेष्टाएँ कितना माधुर्य और कितनी मुखरता प्रदान करती हैं यह पूर्ण प्रस्फुटित है। मुख, नेत्र और वक्ष से गिरती हुई दृष्टि, एड़ियों तक पहुँचती है और क्रीड़ारता नायिका का थिरकता हुआ चित्रण पूर्ण हो जाता है। कवि ने केवल आवश्यक को ही प्रस्तुत किया है शेप चित्र रसज्ञ की कल्पना-शक्ति पर भरोसा रखकर निरंग छोड़ दिया गया है, जिसे रसिक पाठक लहलहे शब्द में स्वयं रंग लेगा और क्रीड़ाशील अनेक रेखाओं से (इन दोनों के योग से) शेष चित्र को अपनी कल्पना के सहारे पूरा भी कर लेगा।

विपरीत पृष्ठभूमि; किसी भी चित्र के प्रभाव, उसकी व्यंजना को और भी वद्धि प्रदान करती है। देव ने रतिभाव की तीव्रता और सौंदर्य की उत्कृष्टता को

पृष्ठभूमि के एक-चौथाई भाग में किस कुशलता से अंकित किया है यह दर्शनीय है :

भारी निसि भैरो किलकारी देत दिसि दिसि
कारी घटा घँसि घँसि लागत नजीक सी

× × ×

झिल्लिनि की झैल गैल गैलनि चुरैलगन
मोकुल सुरनि केकी कोकिल की कीक सी
देव मूँदि कानन, कानन न आन सुनै
आनन उजारे सौ लिखति आई लीक सी।

—जयसिंह विनोद

भयानक रस के उपादानो के बीच रति का कोमल भाव किस प्रकार एक प्रकाश की लकीर बनाता निकल जाता है यह देखते ही बनता है। सुनसान कानन मे काली रात और उस पर भी कारी घटा घँसकर पृथ्वी के बिल्कुल निकट आ गई है। इस वातावरण को भैरव की किलकारी, झिल्लियो की झकार और चुड़ैलों के झुंड और अधिक भयानक बना देते है। इस भयंकर वातावरण के बीच एक प्रेमोन्मत्त रूपवती नायिका कानोमे उँगुली डाले हुए (सुनी अनसुनी अर्थात् इनकी उपेक्षा करती हुई) चली जा रही है। चली ही नही जा रही है अपितु अपने मुख के प्रकाश से एक प्रकाश-रेखा बना रही है। देव ने यह चित्र प्रस्तुत करने में कितना कौशल प्रदर्शित किया है। जहाँ यह चित्र चटकीले रगों और पृष्ठभूमि के तैयार करने मे उनकी चित्रण-कला की क्षमता प्रकट करता है वही रति भाव की तीव्रता की अनुभूति भी व्यजित करता है। पृष्ठभूमि और चित्र का कट्रास्ट (व्यतिरेक) भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में समान रूप से है। देव का काव्य-भावपक्ष और कलापक्ष के इसी सामंजस्य सुष्ठुता का विधान है।

देव ने भावचित्रण मे अपने शब्दों और उपमानों मे नये बिम्ब और नई शक्ति भरी है। जहाँ अनुभावों की योजना-कुशलता से उनका भावचित्र मुखर हो उठता है वही अनुकूल वर्ण-योजना (शब्दालंकार) ऐसी लयसृष्टि करते प्रतीत होते है जो भावसाहचर्य की प्रसन्नता मे नृत्य-सी करती हुई चलती हे। देव की कला भाव का साथ इतना ही नही देती वरन् भाव-बोध का एक संकेत चित्र भी मन पर छोड देती है :

तीखी दृग कोरन की भारी मुख मोरन की
मार की मरोरनि मुरुकि मरि जाऊँगी

देव जो मिलौंगी न सनेह भीजि भावन सों
मूरति सलोनी अँसुवन गरि जाऊंगी ।
—जयसिंह विनोद

इस उद्धरण में तीखी दृग कोर, मुख की मरोर और रतिभाव के कारण पूरे शरीर का टूटना, अनुभाव-चित्रण के अन्तर्गत है। इसको चित्रित करने वाले शब्दों में अनुप्रास की अनुपम योजना है । संगीत-लय भी भाव-तीव्रता को अपनी क्षिप्रगति में बांधकर अनायास प्रकट कर देती है। परन्तु पूरा भावचित्र आगे बनता है। स्त्री के लिए "सलोनी" (लावण्यवती) प्रायः कहा जाता है, पर इस शब्द-प्रयोग में अपने कौशल द्वारा देव ने बहुत अधिक व्यंजना भर दी है। अब सोचिये। नायक का संयोग न होने के कारण नायिका में मन्मथ-पीड़ा जगी है । आँसू बह रहे हैं और नमक के लिए उनका एक-एक बूंद भी कितना घातक होता है। यह सभी जानते हैं। नमक गलकर खारा हो जाता है और शरीर गलकर आंसू में बह जाता है। आँसू आये नहीं कि शरीर के गलने में देर नहीं लगती, यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। नायिका का मदन-संकट कितना व्यंजनापूर्ण हो गया है इस काव्य-कौशल से।

यों देव की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी दोषों से इन्कार नहीं किया जा सकता पर इसमें सन्देह नहीं कि उसकी व्यंजकता संगीतमयता और अर्थवत्ता अत्यन्त ही उच्च कोटि की है। लय और संगीत तो देव में कूट-कूटकर भरे थे। उनके अलंकार भी बड़े ही चित्रात्मक और व्यंजनापूर्ण हैं। उनके काव्य को भावपक्ष और कला-पक्ष का यह साधु-संयोग उच्चपद पर प्रतिष्ठित करता है।

जयसिंह विनोद का देव की रचनाओं में स्थान : "जयसिंह विनोद" देव की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। कवि इस रचना के समय लगभग ५० वर्ष का अर्थात् पूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका था अतः यह वय-प्रौढ़ता उसके काव्य में सर्वत्र प्रस्फुटित है। भाषा, भाव, छन्द और चित्रणकला की सूक्ष्म उद्भावनाएँ इसीलिए पूरी रचना में भरी पड़ी हैं। भाषा से भाव छलकते से जान पड़ते हैं। इन विशेषताओं के कारण प्रस्तुत रचना देव के काव्य-वैभव को हृदयंगम करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। सूक्ष्म भावविश्लेषण और मार्मिक कला-विधान अपने संतुलित रूप में विद्यमान रहकर मन में गहरी भाव-संवेदना जागृत करता है।

काव्यगत सौन्दर्य के अतिरिक्त इस रचना में तीन विषयों की विशेष रूप से चर्चा की गई है। आश्रयदाता का इतिहास, नायिका भेद और रस-वर्णन। आश्रय-दाता का इतिहास, अपने में इतिहासगत सम्पत्ति सँजोये है । नायिकभेद वर्णन कुशल विलास और भवानीविलास से मिलता-जुलता है। देव ने अनेक दृष्टियों

से नायिका भेद का आलोड़न किया है। प्रस्तुत रचना में उन्होने दो पद्धतियां अपनाई है। एक को प्राचीन मत कहा है दूसरी को नवीन मत। "इति नाइका मुख्य गौन रसवती प्राचीन मत तीन सौ चौरासी भेद नवीन मत तीन सौ चवालीस।" प्राचीन मत गुण और कर्म पर आश्रित है जबकि नवीन मत अंश भेद पर आश्रित है। इस प्रकार देव का नायिका भेद वर्णन नए सिद्धान्त के रूप में नहीं है। कुशलविलास और भवानीविलास की पद्धति का ही यहाँ अनुकथन है। जाति और देशभेद के हिसाब से नायिका भेद वर्णन उन्होंने बाद को लिखा था। विषय भिन्न होने के कारण ही जयसिंह विनोद के छन्द उदाहरण रूप से जातिविलास और रसविलास में नही मिलते।

इस समय तक रस सम्बन्धी देव का दृष्टिकोण भी परिपक्व हो चुका था। यही कारण है कि जयसिंह के लक्षण-दोहे ज्यों के त्यों "काव्य-रसायन" में मिल जाते है। अतः इन सभी दृष्टियों से देव-काव्य में जयसिंह विनोद का स्थान महत्वपूर्ण है। इस रचना से देव की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ता है, इससे उसका महत्व अधिक बढ़ गया है।

वीर रस का स्वरूप : भरत मुनि ने "अथ वीरोनाम उत्तम प्रकृति रुत्साहात्मकः" कहकर वीर रस को उत्तम प्रकृति के लोगों से सम्बद्ध तथा इसका स्थायी भाव उत्साह बताया है। भानुदत्त की रसतरंगिणी में वीररस को सम्पूर्ण इन्द्रियों का प्रहर्ष या उत्फुल्लता माना गया है : "परिपूर्ण उत्साहः सर्वेन्द्रियाणां प्रहर्षो वा वीर :"।

वीररस का स्थायी भाव उत्साह है। शुक्लजी के अनुसार "साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।"[१] उत्साह कर्म सम्पादन की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है। इसका आशय उत्तम प्रकृति के जन है, क्योंकि लोककल्याणकारी कर्म ही सामाजिक को आनन्दकर हो सकते है, क्रूर कर्म नहीं। अहंकारी शत्रु और असाधारण कर्म वीररस का आलम्बन विभाव और रण-दर्शन उद्दीपन विभाव है। शत्रु की अवज्ञा, अस्त्र प्रहार, परुषवाक् आदि इसके अनुभाव है। वीररस का संचारी भाव गर्व है।

भरत का नाट्यशास्त्र के चार प्रधान रसों में वीररस भी परिगणित किया गया है, जिससे इसका महत्व प्रतिपादित होता है। परवर्ती आचार्यों में शारदातनय ने अपने भाव-प्रकाशन में ४ प्रमुख रसों की उत्पत्ति ४ वेदों से मानी है :

शृंगार उद्भूतसाम्यो वीरोऽभूद्वितती ऋचः
अथर्व वैधतो रौद्रो वीभत्सो यजुषः क्रामत् ।

१· चिन्तामणि, पृ० ६

वेदों में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है अतः स्पष्ट है कि शारदातनय की दृष्टि में वीर रस प्राचीनतम है। यद्यपि इस मान्यता को लाक्षणिक रूप में ही सही माना जा सकता है क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव— किसी सहज प्रवृत्ति के चारों ओर केन्द्रित होते हैं अतः उनके उद्भव का कालक्रम निर्धारित करना संभव नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि ये भाव परिस्थिति सापेक्ष्य होते हैं और आदिम युग के सामाजिक गठन में मनुष्य के सामने वीररस को स्फुरित करने वाली परिस्थितियाँ आज की अपेक्षा कहीं अधिक रही होंगी।

हमारे देश की परम्परा में बहुधा शास्त्रीय विवेचनों को धार्मिक जामा भी पहना दिया गया है और रस के क्षेत्र में भी यही हुआ है। भरत मुनि ने वीररस का देवता महेन्द्र तथा इसका वर्ण गौर माना है।[1]

वीररस का विभाव (आश्रय) के लिए उन्हीं गुणों की उपयुक्तता होती है जो इन्द्र में अधीष्ठित हैं। जैसे शक्ति, प्रताप, यश, गर्व इत्यादि। गौरवर्ण द्वारा वीर रस की प्रकृष्टता व्यंजित है। गौर वर्ण स्वर्ण के रंग को कहते हैं। स्वर्ण अपनी शुद्धता, चमक और गुरुता के कारण श्रेष्ठ माना जाता है। वीररस में भी स्वर्ण के समान ही शुद्धता, तेजस्विता और गुरुता है।[2] भरतमुनि के इन दृष्टान्तों से स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म का स्वरूप-बोध होता है। इस प्रकार उनका कथन अधिक स्पष्ट और बोधगम्य हो गया है।

प्रमुख साहित्याचार्यों में से कुछ ने वीररस के तीन और कुछ ने चार भेद माने हैं। पर हिन्दी में साहित्य दर्पणकार के "चतुर्विधि वीर" की ही मान्यता अधिक प्रचलित हुई, जो दान, युद्ध धर्म और दयावीर हैं।[3] साहित्य में इनमें से युद्धवीर का ही अंकन प्रमुख रूप से मिलता है जबकि अन्यों के उदाहरण भी खोजने पड़ते हैं। इसका कारण यही जान पड़ता है कि युद्धवीर का व्यापकत्व अन्यों से बढ़कर है। शुक्लजी के शब्दों में "जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र-धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र-धर्म एकान्तिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोकरक्षा से है।"[4]

---

१. "वीरो महेन्द्र देवः स्यात्" तथा "गौरो वीरस्तु विज्ञेयः" नाट्यशास्त्र ६।४५ तथा ४३

२. वीररस का शास्त्रीय विवेचन, पृ० ३१

३. हरिऔधजी ने 'रस कलश' में ५वाँ कर्मवीर भी माना है परन्तु इस प्रकार यह सूची बहुत बढ़ सकती है। बुद्धिवीर, क्षमावीर इत्यादि। 'रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण' के पृ० २६१ में एक लम्बी सूची देखी जा सकती है।

४. चिन्तामणि, पृ० ४३

शुक्लजी के इस कथन से वीररस की व्यापकता और उसकी लोक-धर्मिता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अपनी इस विशेषता के कारण वह अधिक सामाजिक है। सामाजिक कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ और रसों का एकान्त सेवन भी सम्भव है वहाँ वीररस का व्यक्ति पक्ष भी सामाजिक भावना लेकर चलने का प्रयत्न करता है। वीर के कर्मों की लोक-स्वीकृति होनी आवश्यक है। वीर के कर्म लोक के हिताहित को बहुत ही प्रकट रूप से प्रभावित करते हैं। चूँकि वीर का कार्य-क्षेत्र समाज होता है इसलिए आवश्यक है कि उसके पीछे समाज की सम्मति या स्वीकृति हो। यही कारण है समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसके आदर्शों को वीर ही स्थापित करते हैं।

वीररस का आश्रय पक्ष : रस चर्वण का आधार आलम्बन में होता है। "नायकादि" को आचार्यों ने आलम्बन माना है। शृंगार रस में आश्रय की अपेक्षा वीररस में आश्रय और आलम्बन की स्थिति अधिक स्पष्ट और निश्चित होती है। शृंगार में नायिका को देखकर नायक में रति भाव उत्पन्न होता है और यह क्रम उलट भी सकता है और तब नायक को देखकर नायिका में रति जागृत होगी। यथावकाश सहृदय दोनों की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर रसास्वाद कर लेता है। परन्तु वीररस के लिए इसमें बाधा है। आलम्बन के दो पक्ष निश्चित रहते हैं एक होता है आश्रय या नायक जिसके साथ सामाजिक तादात्म्य स्थापित करता है; दूसरा प्रतिनायक का दुष्कर कर्म है जो नायक को उत्साहित करता है। प्रतिनायक या विजेतव्य भी उत्साहित होता है वीरकर्म करता है पर इन सब बातों के होते हुए भी प्रतिनायक आश्रय नहीं बन सकता क्योंकि लोक की स्वीकृति उसको नहीं मिल सकती। सहृदय उसके साथ तादात्म्य नहीं कर सकता। इसलिए वीररस के आश्रय की स्थिति शृंगार की भाँति स्थानांतरित नहीं होती। इसीलिए यह विधान किया गया है कि उसे उत्तम प्रकृति का व्यक्ति होना आवश्यक है, जिससे लोक-हृदय उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सके।

वीररस का आश्रय ही उसका नायक होता है। सहृदय इसी के कर्मों से अपनी भावनाओं का तादात्म्य स्थापित करता है। चूँकि वीर के कर्म लोकसापेक्ष्य होते हैं इसलिए वीररस के आश्रय या नायक के लिए आवश्यक है कि वह ऐसा व्यक्ति हो जो सामाजिक हो तथा आदर्श रूप में प्रस्तुत हो। यदि इसका विचार नहीं किया गया तो वीररसका सारा संभार निर्जीव और प्रभावहीन हो जायेगा। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही कहा है कि "यदि किसी हिजड़े को वीररस का नायक बनाकर तोपों की बाढ़ का ताँता लगा दिया जाय, बाण-वर्षा से ब्रह्माण्ड को घेर

दिया जाय और तलवार की काट से बहे हुए रुधिर के बड़े-बड़े समुद्र भी भर दिए जायं तो भी कोई रस या भाव पाठक के हृदय में उदय नहीं होगा।[१] इसके विपरीत जब कवि लोक-रक्षण के भाव से युद्ध करने वाले लोक-नायकों के उत्साह—अन्य असाधारण कर्मों का वर्णन करता है तो वह अपनी रचना को अधिक लोक-ग्राह्य और रस की दृष्टि से सक्षम बना देता है।" लोक-नायक वर्ण्य होने से ही भूषण की कविता जनता की जिह्वा पर आज भी चढ़ी फिरती है।"[२] अतः कह सकते हैं कि वीररस के कवि के सामने नायक या आश्रय का विवेक एक प्रमुख और महत्वपूर्ण प्रश्न है।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने विभाव के जो गुण बताये हैं वे सब आश्रय के ही गुण हैं। उन्होंने (१) असंमोह (२) अध्यवसाय (३) नय (४) विनय (५) बल (६) पराक्रम (७) शक्ति (८) प्रताप (९) प्रभाव आदि[३] का उल्लेख इस प्रसंग में किया है। श्री वटेकृष्ण ने इसके कारणों का ठीक ही अनुमान किया है कि "उन्होंने (भरतमुनि ने) उत्तम प्रकृति वाले व्यक्ति में उत्साह माना है और वीर-रस के विभाव के जो गुण बताये हैं वे सब उत्तम प्रकृति वाले व्यक्ति में ही पाये जाते हैं।[४] उत्तम शब्द-विशेषण और इसकी मान्यता सदैव लोक-धारणा पर निश्चित की जायेगी। इसलिए वे समस्त गुण इस विशेष के द्वारा नायक में परिकल्पित किये जा सकते हैं जिनको देख-सुनकर सामाजिक का हृदय हर्षित होकर वाह-वाह कर उठता है। वीररस के अन्तर्गत धर्म, दया, दान, वीरों की मान्यता आश्रय के (नायक) गुणों को अधिक स्पष्ट कर देती है। उसका युद्ध वीर-रूप भी इन्हीं की भाँति मंगलकारी और शुभ होता है। राम अकेले वन में जा रहे हैं। रावण के नर-संहार के कारण लगे अस्थियों के ढेर देखकर ये उत्साहित हो उठते हैं और दशवदन को विनष्ट करने के लिए दोनों भुजायें उठाकर संकल्प करते हैं। उनका यह प्रण कितना अच्छा लगता है। राम के प्रति सहृदय की आत्मीयता प्रगाढ़ हो जाती है। इसका रहस्य यही है कि राम का संकल्प एक लोक त्रासक अन्यायी राजा के विरुद्ध था। वीरता में राम से किसी प्रकार कम न होकर भी वह सामाजिक की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि वीररस के आश्रय का चित्रण इस रूप में होना चाहिए कि वह लोक-मंगल के सार्थक रूप

---

१. पद्माकर पंचामृत, पृ० २५
२. भूषण, पृ० ४४
३. नाट्यशास्त्र अध्याय ६, श्लोक ६६ के बाद
४. वीररस का शास्त्रीय विवेचन, पृ० ११

में उपस्थित हो। उसके अधिकाधिक गुण सामाजिक को प्रभावित करके उसका सहानुभूति को अपने पक्ष में कर लें, क्योंकि यहाँ सामाजिक भी तटस्थ न रह एक पक्ष में खड़ा हो जाता है और यह स्पष्ट है कि वह सदैव न्यायनिष्ठ पक्ष का समर्थन करता है।

नायक में लोक-संग्रह का भाव और अन्य गुण : चूंकि वीररस की अवतारणा में आश्रय का महत्व सर्वोपरि है इसलिए जिज्ञासा हो सकती है कि आलोच्य कविता के नायक भगवंतराय इसके लिए कितने अनुकूल है। यह तत्कालीन सामा- और राजनीतिक परिपेक्ष्य में ही देखा जा सकता है, जिसका विवेचन प्रथम अध्याय में हम कर आये हैं। यहाँ इतना ही कहना है कि उस समय के समस्त हिन्दू समाज को ऐसे ही नायक इष्ट हो सकते थे, जो उन्हें मुगलों की दासता से मुक्ति दिलाते। कहना नहीं होगा कि उस युग के इतिहास में भगवंतराय का सारा ऐतिहासिक कर्तृत्व इसी दिशा में हुआ है। वे छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल की ही भाँति हिन्दू जनता को प्रिय और तत्कालीन शासन के वैरी थे। इतिहास साक्षी है कि तत्कालीन शासकों के अत्याचारों से पीड़ित जनता के पक्ष को लेकर उन्होंने फौजदारों से वैर मोल लिया था। इस दृष्टि से उन्हें लोक की सहानुभूति मिल जानी स्वाभाविक थी। विरुदावली में उनके लोक-संग्रह का भाव कवि के इन कथनों से स्पष्ट होता है :

"जिन सुमति सुद्ध विचारि गैयन दुजन के प्रतिपाल की"

तथा

"जिन सतयुग की रीति कीन्हीं सकल जम्बूद्वीप में"

उनका शासन जनता के लिए अनुकूल था इसकी ध्वनि मुहम्मद के इस कथन से भी मिलती है "मिटा रैयत का सब खटका कहे भगवंत का करखा" इस प्रकार कह सकते हैं कि उनके कर्मों में लोक-संग्रह का भाव था, जो वीररस के आश्रय के लिए अनिवार्य होता है। इसके अतिरिक्त कवियों की रचनाओं द्वारा उनके जो व्यक्तिगत गुण प्रकाश में आते है वे भरतमुनि के बताये हुए वीररस के विभाव (आश्रय) के गुण भगवंतराय में घटित होते है। उनमें असंमोह है अन्यथा उनमें युद्ध करने का उत्साह ही जागृत नहीं होता।[1] अध्यवसाय भी है क्योंकि निरन्तर शक्ति एकत्र करके संघर्षशील बने रहते हैं। इसी प्रकार उनके नय, विनय की झाँकी सदानन्द कृत रासा में इन स्थलों में देखी जा सकती है :

करे जे रक्षित बाहुबल दीन्हें नृपसि निकारि
राखे जे धर्मज्ञ अति सकल विचारि विचारि

---

१. अर्जुन मोहवश ही महाभारत मे युद्ध से पराङ्मुख हो गया था।

तथा

बड़े वीर मंत्री सु गोत्री बुलायो, महावीर वाँके तिन्हौं सीस नायो
कहै राय जैसे कहा मंत्र कीजे, रहे धर्म जामें वहीं सिष्ष दीजे

—नय गुण

विनय गुण का उल्लेख भगवंतराय की जीवनी के प्रसंग से एक अनुश्रुति के आधार पर दिया गया है। विनय से मिलते-जुलते शीलगुण का उल्लेख भूधर ने किया है "उठिगो सुकवि शील"

बल, पराक्रम और शक्ति के बूते पर ही आश्रय प्रतिनायक से युद्ध करता है। भगवंतराय के इन गुणों का प्रभूत वर्णन उनके मंडल के कवियों के किया है :

नृप भगवंत जब लीन्ही है कृपान कर
निपट अडौल वीर तेऊ उठें होलि हौलि

—रासा

तथा

बीच खेत बीच बरछी लै विरभानो वीर
धीरज न रह्यो शंभु कौन हू सिपाही के (बल)

—शंभुनाथ

× × ×

जहाँ पर हो सहादत खाँ करो पिल एक वारा है
कहा मुखबिर खबर टेरे जो हलका हाथियों केरे
अमीर उमरा सभी घेरे न हीं कुछ अख्तियारा है
कहा अब देर मत लागे सभी ढीली करौ वागैं
जो चाहो लेव फिर भागे तो हरगिज ना गुजारा है
उठा वागें चले ज्वाना अगू भगवंत मरदाना
जहाँ पर था सहादत खाँ तहाँ सीधे सिधारा है
परें हर तरफ बौछारें, जिधर डपटे उधर मारे
घोड़े हाथी भी चिग्घारे न पैदल का सुमारा है (पराक्रम)

—जंगनामा

× × ×

फौजे जब देखीं घन सम लेखीं मूली सेखी डर्‌यो हिया
धीरज मन त्यागे चलै न भागे प्रभुसो माँगा चहे जिया (शक्ति)

—रासा

बैस वीर बघेल सुरकी, चढ़त जंग न बाग मुरकी
सोम वंसी समर साने, कफन सिर पर बाँधि बाने
पैज करत पँवार आये, दिखित गौर रठूर धाये
चाव चित चौहान चोपे, प्रबल बल परिहार कोये
करखि खींची भयो आगे, कुरी ओ सब कोर लागे (प्रताप)
—विरुदावली।

× × ×

भगवंतराय की मृत्यु के बाद जो एक व्यापक अवसाद की छाया मिलती है उससे प्रकट होता है कि उनका प्रभाव लोक-मानस पर कितना व्यापक और गहरा था। भूधर का "उठि गयो आलम सों भूजुक सिपाहिन को" प्रतीक वाला कवित्त इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त सुखदेव मिश्र की यह पंक्ति भी ध्यान देने योग्य है :

"त्यों भुवकंत बिना भगवंत लगै अब अन्तर वेद न नीको"

उपर्युक्त विवेचन का यह अभिप्राय है कि भगवंतराय का नायकत्व आलोच्य कवियों के वीररस के लिए सर्वतोभावेन उपयुक्त सिद्ध होता है। यही एक कारण है कि उनके व्यक्तित्व को अंकित करने वाला यह काव्य रसिकों की जिह्वाओं पर दौड़ता हुआ सुरक्षित रह सका है।

उत्साह : उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है। शुक्लजी के अनुसार यह यौगिक भाव है और सुखात्मक भावों को वर्ग मे स्थान पाता है। यौगिक शब्द के अर्थ का स्पष्ट संकेत भी शुक्लजी के शब्दों में मिल जाता है, जिसके अनुसार उत्साह के अन्तर्गत "साहस और आनन्द का मेल" है।[1] उत्साह कभी निष्क्रिय नहीं हो सकता, वरन वह सदैव कर्माभिमुख रहता है। इस प्रकार उत्साही अपने हृदय में आनन्द का अनुभव करता हुआ कर्म करता है। सर्व सामान्य कर्मों के करने में उत्साह नही प्रकट होता वरन् कर्मो की असाधारणता ही उत्साह का ज्ञापन करती है। जो काम जितना ही कठिन और दुष्कर होता है उसको सम्पन्न करने के लिए उतने ही अधिक उत्साह की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वीर-रस का नायक दुरूह से दुरूह कार्य को पूरा करने के लिए समस्त आशंकाओं या अनिष्ट कल्पनाओं की अवहेलना करने हुए जब आनन्दपूर्वक उद्यमशील होता है तो सामाजिक की सहानुभूति उसके पक्ष में हो जाती है और वह रस का चर्वण करने में समर्थ होता है। सच्चे वीर की दृष्टि केवल कर्म-सौन्दर्य और पुरुषार्थ पर टिकती

१. चिन्तामणि, पृ० ११

है। अर्जुन के भीतर सच्चा उत्साह जागृत करने के लिए ही भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस कथन से उत्साही की कर्मनिष्ठा पर प्रकाश पड़ता है।

शुक्लजी के 'यौगिक भाव' को वटेकृष्ण का यह विवेचन स्पष्ट सा करता प्रतीत होता है जिसके अनुसार उत्साह के मूल में (१) आनन्द (२) आशा (३) आत्मविश्वास (४) संतोष—इन चार भावों की स्थिति मिलती है।[१] आनन्द की अनुभूति के कारण उत्साही व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रसन्न रहता है, अनेक कष्टों के भीतर रह कर भी वह कष्ट का अनुभव नहीं करता। उत्साही में आनन्द के साथ आशा का भी संचार रहता है। वह अन्ततोगत्वा अपनी सफलता का मधुर स्वप्न संजोये रहता है, इसके अभाव में पूर्णमनोयोग से कार्य हो ही नहीं सकता। इस परिस्थिति में दृढ़तापूर्वक कार्य सम्पादन की कर्मठता नायक के आत्मविश्वास द्वारा परिपुष्ट होती है। संतोष से यहाँ यह अभिप्राय है कि वह (नायक या आश्रय) जो कुछ उचित समझता है उसे अपनी शक्ति भर साधने का प्रयत्न कर रहा है। उसकी कार्यपरायणता ही अपने आप में सिद्धि है जिसे वह कर रहा है। यदि उसके सामने कोई विकल्प हो या संतोष का अभाव हो तो वह उत्साह की स्थिति से स्खलित हो सकता है। परन्तु उत्साह एक स्थायी भाव है और असाधारण कर्म की आरम्भावस्था से अन्त तक बना रहता है इसलिए संतोष के अभाव में स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकता।

उत्साह के इस विवेचन के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कविताओं के आश्रय (भगवन्तराय) के उत्साह को समझने में सरलता होगी।

सबसे पहले ध्यान देने की बात यह है कि आश्रय (भगवन्तराय) एक असाधारण और महत्वकर्म में प्रवृत्त होते हैं। एक सामान्य ठिकानेदार के लिए दिल्ली के शासन से वैर मोल लेना साधारण साहस की बात नहीं है। इस साहस के साथ आनन्द का भी मेल है जो दुस्साध्य कर्म की प्रेरणा और कर्मठता से उनके जीवन को परिपूर्ण कर देता है। अनेक युद्धों की ठोकर खाकर भी उनका हृदय विचलित नहीं होता और अन्त तक अपनी विजय की आशा से प्रदीप्त रहता है। अपनी छोटी सी सेना लेकर वे घोषणा करते हैं :

"मारि रन फौजें चलाऊँ जरें दिल्ली की हलाऊं
रहन देउँ न आजु डेरा, नाम तव भगवंत मेरा"

—विरुदावली०

---

१. वीर रस का शास्त्रीय विवेचन, पृ० ३२

इन पंक्तियों में नायक के हृदय का आत्मविश्वास छलकता-सा है। उसे आशा भी बहुत अधिक है तथा इसकी पृष्ठभूमि में उत्साह और आनन्दानुभूति भी स्पष्ट मिलती है जिसके कारण आश्रय नवाब सादत खाँ की दुर्जेय और विशाल सेना को नगण्य समझ रहा है।

उपर्युक्त उद्धरण उत्साह की स्थिति को वचन द्वारा प्रकट करता है परन्तु इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति तो कर्मक्षेत्र में संलग्न नायक के संचारियों और अनुभावों द्वारा प्रकट होती है। युद्ध (कर्म) की पूर्व कल्पना मात्र से नायक पक्ष के वीरों के हृदय में कैसा उत्साह व्याप्त हो गया है। उनके हृदय के आनन्द, साहस और दर्पोक्तियों (संचारीभाव) की कैसी सुघड़ व्यंजना इस सवैये में हुई है :

वीर कहैं भगवंत सुनो रनभूमि में पाउँ कबों नहिं टारें
छोड़ि गयंद तुरंगन के पति मूलि कबों पदतीनहिं मारें
मुंड अनेक गिरें फर में भरमें नहिं खग्ग दोऊ कर झारें
ज्वानन के हुलसे बिरचे रन सादति खान को आनन फारें

—रासा०

कवि के इस कथन में वीररस का स्वरूप खड़ा हो गया है। वीरों के हृदय का उत्साह (हुलास) मुखमण्डल पर लालिमा बन कर प्रकट हो रहा है जो इस कथन में और मुखर हो गया है कि कब युद्ध दर्शन हो और हम (वीर) सादत खाँ के मुख को विदीर्ण करने का अवसर प्राप्त करें। इस पद्य में उत्साह, धीरता और साहस के पायों पर खड़ा हुआ है। सादत खाँ को रण में जीतने का साधारण कर्म आलम्बन विभाव है, रणदर्शन की कल्पना उद्दीपन विभाव है। शत्रु की अवज्ञा अनुभाव तथा दर्पोक्ति संचारी भाव है। केवल वीर रस की सामग्री का संकलन मात्र ही यहाँ नहीं है वरन् उसका संघटन इतना स्वाभाविक और ओजस्वी रीति से है कि एक चित्र पट के दृश्य के समान आँखों के सामने घूम जाता है।

उत्साह व्यक्ति को दुष्कर कार्यों के सम्पादन की शक्ति प्रदान करता है। कितना ही असाधारण और संकटापन्न कार्य क्यों न हो पर उत्साह के कारण उत्साही उसे बहुत ही सरल समझता है। बाधाएँ,कठिनाइयाँ इत्यादि तो उत्साह, विहीन तटस्थ लोगों को दिखाई पड़ती हैं, उत्साही को नहीं। लक्ष्मण उत्साह में आकर ब्रह्माण्ड को 'कुन्दुक इव' देखने लगे थे। यह भावना, स्फूर्ति और शक्ति का संचार करती है। भगवन्तराय पक्ष के उत्साही वीर रण के एकान्त में ही दर्पोक्तियां या घमंडभरी बातें नहीं करते थे, स्वयं युद्धभूमि में प्रबल प्रतिरोध के मुकाबले में वह उत्साह अधिक प्रभावपूर्ण और वेगयुक्त होकर दर्शित होता है :

सेना सोर सुने अनखान्यो खीची सरदार
दौरि एलगार उठि वारन कछु लई
सुनत नगारे हाँक दीनी तुरकन, घाव—
देवे को नृपति तवै गैल उतकी लई
सिंह लौं झपटि नर सिंह भगवंत राय
ऐसे ही सहादत पै पहुँच्यो जाइ एवई
दृगनि ते पग आगे पगनते मन आगे
मन दृग पगनि में होड़ सी है ह्वै गई

—अज्ञात

उत्साह भाव है जो शरीर को संचालित करता है। शरीर की क्रियायें उत्साह की सहकारी होती हैं परन्तु यहाँ यह दिखाया गया है उत्साह का इतना आधिक्य है कि उत्साह जो मन में व्याप्त है वह आगे पाँवों को ले जा रहा है। इतना ही नहीं मन के साथ दृग और पग यह होड़ कर रहे हैं कि वे उससे (मनसे) कदापि पीछे न रहें। उत्साह की ऐसी समर्थ अभिव्यक्ति वीररस के काव्यों में कदाचित् ही मिलेगी।

इसी प्रकार की एक और अभिव्यक्ति है। उत्साही को कोई भी बाधा कोई, भी तर्क रोक नहीं सकता। कोई भी भाव अपनी चरम परिणति में इसी अवस्था को प्राप्त करता है। देव ने लिखा है 'काम अंधकारी जगत लखै न रूप कुरूप' पर यहां उत्साह बहरा हो गया है। उसे दुष्कर कार्य तो सामने दिखाई दे रहा है पर उस कार्य को करने में देरी करने के निर्देश जैसे सुनाई ही नहीं पड़ रहे।

सुनि कोपि के हत्थ कृपान गह्यो यह बूझत साइत है कवहीं
यक विप्र कहे विबु दंडु वितायके, आयु कहे अवहीं अवहीं।

देखा जा सकता है कि नायक के हृदय में लहराते हुए उत्साह का वेग उसे तनिक देर को भी रोक सकने में असमर्थ है। इसे पढ़ते हुए बाँकीदास का यह दोहा स्मरण हो जाता है :

सूर न पूछे टिप्पणी सुकन न देखे सूर
मरणा नूं मंगल गिणै, समर चढ़े मुख मूर।[1]

युद्ध की तैयारी : युद्धवीर के वर्णन में सेनाओं की तैयारी उनका प्रयाण भी बड़ा प्रभावशाली होता है। वीररस की रसानुभूति के लिए युद्ध का वातावरण प्रस्तुत करने में यह वर्णन सहायक होता है। दोनों पक्षों के वीरों की साज-सज्जा

१. हिन्दी वीर काव्य, पृष्ठ ७५ में उद्धृत

उनकी युद्ध-दर्शन की उत्कट अभिलाषा इत्यादि सामाजिक को युद्ध की असाधारणता का बोध कराने के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। युद्ध की दुर्धर्षता का बोध करता हुआ वह नायक के साथ युद्ध का परिणाम देखने के लिए उत्सुक होता है। इसी पृष्ठभूमि पर नायक का पुरुषार्थ स्थित होकर सामाजिक को रस-मग्न कर देता है। यदि सेनाओं का निर्जीव और प्रभावहीन वर्णन किया गया तो फिर नायक का पुरुषार्थ और उसकी वीरता फीकी-फीकी लगेगी। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि यदि दोनों ही पक्षों की सेनाओं के प्रकर्षपूर्ण चित्र सामने लाए जायें तो घात-प्रतिघात से सामाजिक के हृदय में भावोद्वेलन सशक्त रीति से होगा। जंगनामा, रासा और विरुदावली तीनों ही रचनाओं के कर्ताओं ने इस वर्णन को कुशलता से प्रस्तुत किया है। विरुदावली के वर्णन में वर्णनात्मकता अधिक है उसमें बिम्ब ग्रहण कम। भाव और क्रिया की वैसी पकड़ नहीं है जैसी जंगनामा और रासा में मिलती है। उदाहरणार्थ :

दुहूँ ओर गयंद भारी मनहुँ उमड़ी घटा कारी
दुहूँ दिसि हथ्यार झमकै चपल चपला मनहुँ चमकै
दुहूँ दिशि ढाढ़ी अलापें सुनत कायर क्रूर काँपै

इस वर्णन में एक रुढ़ि है जो दोनों पक्षों की समानता तो बता रही है पर उनकी विशिष्टताओं को नही प्रतिपादित कर रही है। यह वर्णन एक प्रकार से स्थिर है इसमें भावतरंग नहीं है। हथियारों के नाम लेने या गिनाने से कोई प्रभाव सृष्टि नही होती जबकि रासा में नायक की सेना का तैयार होकर बड़े ही संयत रीति से युद्ध का प्रयाण इससे कहीं अधिक प्रभाव पूर्ण है। एक बड़े ही समर्थ प्रतिपक्षी से युद्ध के लिए सेना वीर वेश में सज्जित होकर मैदान में खड़ी होती है और बड़ी ही मंदगति से युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान करती है। इस प्रयाण में धीरता और साहस के तो दर्शन होते हैं पर वह चमक-दमक नहीं दिखती जो स्थायी उत्साह के अनुभावों में प्रकट होती है। परन्तु प्रतिपक्षी की सेना को सामने देखते ही यह उत्साह बिजली की तरह कौंधता हुआ सारी सेना में व्याप्त हो जाता है जिससे प्रतिपक्षी की सेना आतंकित हो जाती है। प्रतिपक्षी की असाधारण शक्ति और रण दर्शन (आलम्बन) के होते ही नायक पक्ष में उत्साह व्याप्त हो जाता है। यहाँ ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :

तब सन्मुख ऐसे चल्यो जानो बड़ो गरीब
पग पग नापत अवनि को मानों करत जरीब

× × ×

फौजें जब देखीं घन सम लेखी भूली सेखी डर्यो हिया

× × ×

तब भूपति वीरन सहित सरद को सिर नाय
दौरि परे दल बीच यों कूदे संख बजाय ।

× × ×

खरे दौरि केते तबै खग्ग झारे, फटै ज्यों घटा ओर चौंधा निहारे ।

युद्ध की तैयारी से लेकर युद्धारम्भ तक का वर्णन रासो में भी एकपक्षीय है। इस दृष्टि से जंगनामा का वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट है। सेनाओं की साज-सज्जा और उसके प्रमाण का इसके कर्ता ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। वह प्रतिपक्षी की तैयारी को विशेष महत्व देता है। वास्तव में नायक को जिससे संग्राम करना है, उस प्रति पक्षी के सामर्थ्य के चित्रण के बिना नायक का पुरुषार्थ उभर ही कैसे सकता है। सादतखाँ को दूत से समाचार मिलता है कि प्रतिपक्षी (नायक) भगवन्तराय युद्ध के लिए आ रहा है। वह अविलम्ब हाथी पर सवार होकर अपनी सेना को तैयार करता है। चित्र को कवि के ही शब्दों में देखिए—

नकारा जंग का बाजा तुरत हाथी पै चढ़ गाजा
कई संग तुंग फौजें हैं, अजबतर हैं कि अनजयं हैं
गोया दरिया की मौजें हैं न जिनका वारपारा है
सभों के हाथ में भाले सिला सिलहट की ढाले हैं
परे कांधे दुशाले है, तमाशा शाहवारा है

दूसरी ओर भगवन्तराय की सेना है :

अछा सामंत रण खेला उधर भगवंत अलबेला
बड़ा था हाथ में सेला कमर जमधर कटारा है
केसरिया सबका बाना है, लगे तरकस कमाना है
अजब गबरू जवाना है कि क्या प्यादा क्या सवारा है

दोनों पक्षों की शक्तिशाली और सक्षम सेनाओं का चित्रण कवि ने बड़ी निष्पक्षता से किया है। असाधारण शत्रु से ही लड़ने में वीर रस की सृष्टि हो सकती है। अतः प्रतिपक्षी का भी चित्रण उसी भाँति होना चाहिये जैसा कि नायक का है। यदि प्रतिपक्षी को साधारण दिखाया गया तो नायक का महत्व ही क्या होगा। जंगनामा का उपर्युक्त वर्णन रसानुकूलता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक है।

बिम्ब-विधान और युद्ध-वर्णन की सजीवता : काव्य के क्षेत्र में बिम्बों का

महत्व बहुत अधिक है। वस्तु या घटना का चित्र और उसके साथ सम्बद्ध भावात्मक लगाव को पाठक के सामने प्रस्तुत करने का दायित्व कवि-कर्म होता है। इसके लिए वह अपनी भाषा-शक्ति से ऐसे सार्थक चित्रो का निर्माण करता है जो अभीष्ट चित्र को सम्पूर्ण सजीवता के साथ पाठक के सामने प्रकट कर दे। संस्कार रूप से बाह्य और अन्तर्जगत के चित्र कर्ता और पाठक दोनों के सामने विद्यमान रहते है। इन्ही चित्रों को कवि (कर्ता) अपनी रचना में कुशलता से संघटित करता है कि उसका वर्ण्य एवं भाव पाठक या सहृदय में संवेद्य हो कर तादात्म्य स्थापित करे। यह समस्या इसलिए है कि जो वस्तु वास्तविक रूप से संसार में घटित होती है वह समग्र रूप से साहित्य में नहीं वर्णित की जा सकती और यदि वह ज्यों-की-त्यो उठा कर रख दी गई तो साहित्य के नाम पर प्रायः कूडे का ढेर ही सामने आयेगा जिसको पढ़ने में किसी की रुचि नही होगी। इसलिए कर्ता को विवेक-शक्ति और चित्र निर्मात्री दो शक्तियो की बिम्ब-विधान में आवश्यकता पड़ती है।

यदि कवि समर्थ है तो ऐसे स्थलों का चयन करता है जो सम्पूर्ण दृश्य के प्रतिनिधि रूप और प्रभाव की दृष्टि से व्यापकता और गहराई लिये होते है। निरर्थक और प्रभावहीन वस्तुओं को वह अपने चयन में स्थान नही देता। इस समस्या की पूर्ति के लिए वह ऐसे चरित्र और व्यापारों को छाँटता है जो उसके इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। ऐसे ही प्रतिनिधि चित्रों के द्वारा कवि अनुभूति से सामाजिक की अनुभूति का तादात्म्य स्थापित होता है। किसी भी कवि की प्रतिभा की कसौटी इन बिम्बों के चयन में आँकी जा सकती है। कहना नहीं होगा कि वीर रस के कवि के लिए बिम्बों की योजना बहुत ही महत्वपूर्ण है। कवि को सम्पूर्ण युद्धभूमि से ऐसे चित्र छाँटने पड़ते है जो उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हुए पूरे युद्ध का अनुमान करा दें।

पूरी सेना गुँथी हुई और कट मर रही है। अस्त्र-शस्त्र और ललकारों की तुमुल ध्वनि हो रही है, यदि इसके बीच किसी विशिष्ट वीर का पौरुष चित्रित किया जाय तो सामाजिक का हृदय उसके साथ मिलकर रसास्वाद की ओर आसानी से अग्रसर होगा। ऐसे ही चित्र को ग्रहण करने से युद्ध-वर्णन में सजीवता आती है। रामायण और महाभारत के प्रमुख वीरों के इसीलिए उनके कर्त्ताओं ने अलग-अलग युद्धो के वर्णन किए है।

आलोच्य काव्य में युद्ध-वर्णन में बिम्ब-योजना को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। जंगनामा के कवि ने नायक की सेना के वेगपूर्ण आक्रमण का चित्र पूरी प्रभावात्मकता के साथ बिना किसी भूमिका के थोड़े से शब्दों में किस सुन्दरता से प्रस्तुत कर दिया है यह देखते ही बनता है।

खिचरने तीन फौजें कर समुन्दर की सी मौजें कर
वड़ी सी ऐस अफजूँ कर, पकर भाला संमारा है।
कहा भगवंत अइयारा नाहक सब मिल देवो जां
जहाँ पर हो सहादतखाँ, करो पिल एक वारा है।
—जंगनामा

सैनिक भाला सँभालते हुए तीन टुकड़ियों में फैल गये, इस फैलाव तथा आक्रमण की गति की उपमा समुद्र की लहरों से दी है। एक लहर के पीछे दूसरी लहर का उमड़ना हुआ ताँता सेना के उत्साह और उसकी गति का कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है। सेना की अटूट क्रियाशीलता भी इससे प्रकट होती है। इतना ही नहीं इस सेना का नायक जब यह कहता है कि इधर-उधर जूझने से क्या लाभ सीधे प्रतिपक्षी नायक पर ही टूट पड़ो, तो नायक के सैन्य-संचालन, उसके साहस जोखिमप्रियता और उत्साह मूर्त हो जाते हैं।

दोनों ही पक्षों के वीरों के उत्साहयुक्त परस्पर युद्ध का इन शब्दों में कैसा समर्थ चित्र बनता है :

सिपाही वन्दगी वारे किया समसेर वारा है
छमाछम मारते बढ़कर करें टुकड़े झिलिम बख्तर
कि जैसे घन निहाई पर कुटे लोहा लुहारा है।

निहाई पर लुहार के घन मारने के उपमान से कवि ने वीरों के परस्पर आघातों को किस सुन्दरता से चित्रित कर दिया है। लुहार को घन चलाते समय केवल प्रहार की बात ही सूझती है। वह तावड़-तोड़ प्रहार करता रहता है इसी प्रकार युद्धस्थल में वीर अपने प्रतिपक्षी को कूट रहे थे। ऐसे ही वीरों के हाथ में पड़कर तलवार कुल्हाड़ा बन गई थी :

टूटें बख्तर छिनिन निन, गोया तबरो कुल्हाड़ा है

कवि के इन चित्रों से जहाँ एक ओर युद्ध की वास्तविक भयंकरता प्रकट होती है वहीं वीरों का उत्साह भी मुखर हो गया है। इन बिम्बों की योजना वीर रस की वर्णन-परिपाटी से उधार ली हुई नहीं है वरन् इनमें कवि की स्वतंत्र स्वानुभूति है जो अभीष्ट चित्र को अधिक सक्षम रूप से लोक-संवेद्य करने में सफल हुई है। इन बिम्बों के चयन में कवि की नवीन उद्‌भावना का भी परिचय मिलता है।

यह कहा जा चुका है कि युद्ध-वर्णन की सजीवता जितनी शूर-वीरों के व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से प्रकट होती है उतनी सामूहिक रूप से तोपों के धुआँ, हथियारों की खटपट और हाथी-घोड़ों की चिग्घाड़ से नहीं। वास्तव में

यह सब वातावरण की ही सृष्टि करते है तथा वह पृष्ठभूमि निर्मित करते है जिन पर वीरो के व्यक्तिगत शौर्य्य को अधिक प्रभावोत्पादक रीति से प्रस्तुत किया जा सकता है।

आलोच्य कवियों की रचनाओ मे इस प्रविधि का पूर्ण समावेश हुआ है। नायक-प्रतिनायक और दोनों पक्षो के सामन्तो के युद्धो के अनेक प्रभावशाली दृश्य सामने आते है। भवानीसिंह नायक भगवंतराय के साथ अत्यधिक वीरता से युद्ध कर रहा है। इसी बीच एक प्रतिपक्षी वीर, तेजसिंह सामना करने के लिए आगे बढता है। भवानीसिंह से उसका सामना पड़ता इसके पहले ही झपट कर नायक भगवंतराय स्वयं उसे रोके लेते है और दोनो ही वीर गुँथ जाते है :

भवानीसिंह लड़ता है तो मारामार करता है
कदम आगे को धरता है न पीछे पॉव टारा है
जिसे भगवंत ललकारे, भवानीसिंह उसे मारे
तुरत हो जाय जल छारे कठिन लोहा दरारा है
झपट कर तेजसिंह आया, दपट भगवंत दबकाया
लपट कर सो जखम खाया, लगाया खूब वारा है
दो हत्थी खींच तलवारें, छमाछम जोर से मारे
एका एकन को ललकारे जैसे कुश्ती अखारा है

वीरो के व्यक्तिगत शौर्य्य को उभार कर सामने रखने मे कवि सदानन्द ने बडी कुशलता दिखाई है। बिना किसी भूमिका या तूल-ताल के कवि ने दोनो ही पक्ष के प्रमुख वीरो की विशेषताओ को कम-से-कम शब्दो में बॉध कर प्रस्तुत कर दिया है :

उत्पात महाकवि कौन कहै नहि धीरज हू कर धीर रहै
चमु भागि समूह चली सिगरी, धुनि सीस नवाब कहै बिगरी
उत खान मुहम्मद कोप करे, दलसिंह भले एहि ओर भिरे
उत दीन मुहम्मद खग्ग धरे, इतनौल किते महि मुड भरे
उत खानअली संग वीर भले, इत कोपि भवानीप्रसाद दले
उत मीर मुहम्मद धीर सजो, इत मर्दनसिंह महा गरजो
उत शेरअली चमु मंडत है, जैसिंह इते रन खंडत है
यहि भाँति दुवो दल वीर भिरे, अरि मारत है रनभूमि घिरे
—रासा०

कहना नहीं होगा कि वीरों के व्यक्तिगत शौर्य्य मे सम्पूर्ण युद्ध की भीषणता प्रतिबिम्बित हो उठी है। जो सजीवता और प्रभावशालिता इस वर्णन में आई है

वह किसी भी प्रकार के तुमुल में शायद ही हो पाती। सहृदय के लिए ऐसे ही युद्ध वर्णनों के साथ तादात्म्य स्थापित करने की संभावना अधिक रहा करती है। इसमें दोनों ही पक्षों के सामर्थ्य और प्रबलता के साथ-साथ सैन्य-संचालन की भी विशेषता सामने आ गई है।

भवानीसिंह की वीरता का यह चित्रण भी कितना प्रभावपूर्ण और प्रखर है :

इमि गहि भवानीसिंह कर करवाल रन बलवन्त है
जिमि जुद्ध रावन राम के आगे लर्यो हनुमन्त है॥
नृपति भवानीसिंह, समर समत्थ टारे नहि टरै।
अमनैंकरन दल हू तहाँ कमनैंत कमनैती करे॥
ज्यों सिंह साहस कै हनैं गजराज अरुक्त जंग में।
रन जुद्ध संमुख भट सुभट अँगवै न कोऊ अंग में॥
बर्छी चलत्तरवारि जहँ, तहँ ओट देत न ढाल की।
नृप समासिंह कुमार रन रच्छा करत महिपाल की॥

युद्ध-भूमि में कोई भी वीर किसी की परवाह नहीं करता है, फिरभी ऐसे वीरों के मध्य, बर्छी तलवारों के प्रहारों के बीच भवानीसिंह बिना ढाल लिए हुए युद्ध कर रहा है। ऐसे ही प्रकृष्ट वीर के लिए यह कहना सार्थक और रसानुकूल होगा कि वह राम-रावण के युद्ध में हनुमान के समान वीरता से लड़ रहा है। सामान्यतया वीर रस के प्रकरण में रूढ़ उपमायें एकत्र करने का जैसा उपक्रम रहता है उससे रस-निष्पत्ति नहीं की जा सकती। उपमा को सार्थक करने के लिए आश्रय के असाधारण कर्मों का ऐसा वर्णन किया जाना चाहिए जिससे वह अस्वाभाविक न लगे। यहाँ इसी विशेषता के कारण अधिक सजीवता आ गई है। अर्जुन, भीम और कर्ण के नाम गिनाकर यदि उनके पुरुषार्थ का बोध कराने वाले कार्य आश्रय में न वर्णित किये जाएँ तो सहृदय को रस के छींटे ही शायद मिल सकें।

युद्ध-क्षेत्र में दो प्रतिपक्षी वीरों के संवादों में भी वीर रस की सफल व्यंजना होती है। वीरता का चित्रण इस प्रकार के संवादों से प्रकट करना कर्ता के लिए सर्वाधिक अनुकूल होता है। भगवंतराय प्रति नायक का सामना करने को लालायित है, उनके हृदय के उत्साह की इससे अधिक क्या कसौटी हो सकती है। नायक (आश्रय) का यह उत्साह और आत्मविश्वास शक्ति और बल संवाद-योजना में किस सुन्दरता से व्यंजित हुआ है :

तभी भगवंत वहाँ पहुँचा, कहा लोगों से मैं पूछा
कौन सा है सहादत खाँ, मेरा जी वे करारा है

अबू बोला कि ऐ मकहूर मै नवाब हूँ मशहूर
तुझे लड़ना अगर मंजूर फिर क्या देर दारा है
न बूझा फील माजी को लगा कर एड़ ताजी को
अबू से मर्द गाजी को पकर भाला से मारा है

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध-वीर के सभी प्रमुख उपादानो का इन कर्ताओ ने अपनी रचनाओ मे समावेश किया है। इससे उनके युद्ध-वर्णन मे बहुत अधिक सजीवता आ गई है।

हिन्दी के अन्य वीर काव्यों से तुलनात्मक विवेचन : हिन्दी के वीर काव्यों को आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तीन रूपो में विभाजित किया है। प्रथम रूप आदिकाल में है जिसमें वीरता और प्रीति का मेल है जैसे वीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो। द्वितीय रूप छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल के साथ उत्थित हुआ है। इसे मिश्रजी ने शुद्ध वीर काव्य माना है। तीसरा रूप स्वतंत्रता की लहर के साथ उपस्थित हुआ है। आलोच्य कवियों का सृजनकाल द्वितीय उत्थान मे है। इतना ही नही इनकी पृष्ठभूमि मे भी छत्रपति और महाराज छत्रसाल के ही जैसे एक नायक का चित्रण है। इन समानताओं के कारण इनकी तुलना उन्ही से सम्बन्धित वीर काव्यो से की जानी चाहिए।

वीर काव्यों के भेद कर्म और भाव के आधार पर भी किये जाते है। इस प्रकार वीर के अनेक भेद माने जा सकते है पर हिन्दी में विशेष रूप से चार ही भेदो का चलन हुआ है। आलोच्य काव्य मे यद्यपि नायक के दानवीर और धर्मवीर रूपो का भी वर्णन मिलता है जैसे रासा० मे युद्ध के पूर्व दान का प्रसंग और भूधर के—शोकोद्‌गारो मे 'फूटे भालभिक्षुक के' तथा 'जाचक की मंशा को पूर अब कौन करै' इत्यादि। धर्मवीर के भी प्रमाण मिलते है और कहना चाहे तो कह सकते है कि उनका सारा पुरुषार्थ या कर्म-व्यापार धर्म के प्रश्न पर ही था। परन्तु प्रमुख रूप से भगवंतराय के युद्धवीर रूप का ही चित्रण किया गया है। इसलिए आलोच्य काव्य की युद्धवीर के चित्रण की विशेषता को ही प्रमुख मानकर उसकी परीक्षा करना संगत होगा।

जहाँ तक किसी लोकनायक को वर्ण्य बनाने तथा उसके 'युद्ध वीर' रूप के चित्रण को प्रमुखता देने की बात है वह छत्रसाल और शिवाजी के प्रति लिखे गए काव्यो और भगवन्तराय के लिए लिखे गये काव्यो मे समान है। इस समानता के साथ आलोच्य रचनाओ की एक मौलिक विशेषता यह है कि छत्रसाल और छत्र-पति

१. भूषण, पृ० ३३-३४

शिवाजी के प्रति लिखा गया अधिकांश उपलब्ध साहित्य उनके जीवन-काल में उनके आश्रित कवियों द्वारा ही लिखा गया था। यही नहीं, मान का राज-विलास और सूदन का सुजान चरित आदि कुछ अन्य रचनाएँ भी ग्रंथ-नायकों के आश्रित कवियों द्वारा उनके जीवनकाल में ही लिखी गई थीं जबकि भगवंतराय के कवि यों ने नायक के समकालीन और आश्रित होते हुए भी अधिकांश रचनायें उनकी मृत्यु के उपरान्त अपने हृदय की सहज प्रेरणावश लिखी है। पहली प्रकार की रचनाओं में जहाँ नायक को तुष्ट करने की भी प्रवृत्ति रहती है वहाँ दूसरे प्रकार की (जिसमें आलोच्य रचनाएँ आती हैं) रचनाओं के कर्ताओं में स्वयं अपने मन को तुष्ट करने की बात रहती है। इनके सामने किसी के दबाव और प्रभाव की बात नहीं रहती। इस प्रकार कवि की अन्तस की प्रेरणा का जो दिग्दर्शन भगवन्त-राय के लिए लिखे गए काव्य में मिलता है वह हिन्दी के अन्य ऐतिहासिक काव्यों में नहीं है। यदि हम उसकी तुलना पहले उत्थान की रचनाओं से करना चाहें तो वहाँ कवि की अपनी रूमानी कल्पनाओं और भावनाओं की गहरी स्याही चढ़ी हुई मिलेगी जिसमें कवि का और नायक के व्यक्तिगत लगाव और सहानुभूति के अंश को दबा हुआ पाएँगे, जिसे कठिनाई से ही उद्घाटित किया जा सकता है। अतः तुलना सहज स्वाभाविक न होगी। यदि तृतीय उत्थान की रचनाओं के साथ तुलना करना चाहें तो वहाँ ऐतिहासिक मान्यताओं का अन्तराय पड़ेगा। समाज की परिस्थितियाँ और मान्यताएँ बदली हुई है, अतः यहाँ तुलना का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता। इस प्रकार कहना यह चाहिए कि उत्तर मध्यकाल में लिखे गए शुद्ध वीर-काव्यों में आलोच्य रचनाओं का महत्त्व और स्थान उच्चकोटि पर स्थित है। वास्तव में जैसा आत्मिक लगाव कवियों का भगवन्तराय के साथ मिलता है वह कदाचित् ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहीं देखने को मिलेगा। उसका फल यह हुआ कि जहाँ अन्यत्र वीर रस वर्णन शब्दों, उपमाओं और रूपकों की परिपाटियों में बँधा रह गया है एवं कलात्मक तथा प्रयास की बहुलता को प्रकट करने वाला है वहाँ आलोच्य काव्य केवल आत्म-प्रेरणा का विषय बनकर प्रस्फुटित हुआ है।

दान गयो दुनीं से गुमान पुर वासिन को
गुनिन के गाँठिन सों मानिक छूटिगो
जूझे भगवन्त जू के धरम धरासों गयो
सूर्य के सिंगारन सों सेत ऐसो फूटिगो
भूधर भनत याही हूक होत हिये माँहि
कवि कविताई करिवे से मन हूठिगो

जाचक की मंसा को पूर अब कौन करे
जो तो हतो भू में कल्पद्रुम सो टूटिगो

पद्माकर आदि कवियों के वर्णनों को उठाकर देखिए ये जहाँ और जिसके यहाँ पहुँचे है उसे न जाने क्या-क्या कह डाला है। कही 'पारथ से पृथु से परीच्छित पुरन्दर से है' कोई मिल गया है तो कहीं इतना बडा दानी मिल गया है कि गिरिजा को गणेश को छिपाने की आवश्यकता पड़ गई है। इस प्रकार की उक्तियों की सार्थकता चमत्कार सृष्टि के लिए हो सकती है। जब कवि का ही हृदय रस मे नही डूबता है तब फिर पाठक का क्या डूबेगा ? परन्तु भूधर के उपर्युक्त कवित्त मे ऐसा नही है। कोई भी बात ऐसी नही है जो कल्पना की क्रीड़ा कही जा सके। वरन् कवि गहरी आत्मयीता और संवेदना से अभिभूत है। आलोच्य कविता की यह विशेषता हिन्दी मे विरल रूप से ही ढूँढ़ी जा सकती है।

आलोच्य रचनाओं की दूसरी विशेषता काव्य-रूप की दृष्टि से स्थापित होती है। हिन्दी के क्षेत्र में जिन रूपों में वीर-काव्य का चलन था उन सभी का प्रतिनिधित्व आलोच्य रचनाओं मे हो जाता है। मुक्तक, वीर-गीति और प्रबन्ध रचनाओ के साथ उर्दू से प्रभावित प्रविधि मे भी उनका चरित्र-गायन हुआ है। देव और शभुनाथ मिश्र की रचनाएँ जहाँ तत्कालीन दरबारी शैली में नायक का गुण कथन करती है तो 'रासा' एक छोटे से प्रबन्ध-काव्य के रूप मे सामने आता है जो वीर-चरित्रों के चरित्र-चित्रण के लिए हिन्दी के आदिकाल से चला आ रहा था। दरबारो मे चारण-भाटो की विरुद गायन-शैली पर विरुदावली तथा उर्दू की मर्सिया-शैली से प्रभावित जंगनामा भी लिखा गया।

इन सब के आधार पर यही अनुमान लगता है कि नायक का व्यक्तितत्व बहुत ही महान था और उसने विभिन्न साहित्यिक धाराओं के कवियों के साथ अपने को सम्बद्ध कर रखा था। वह राजनीतिक और साहित्यिक गतिविधियो का केन्द्र-विन्दु था। हिन्दी कविता मे इतनी विविधिता और यथार्थता से अन्य किसी नायक का चित्रण नही मिलता। इस प्रकार आलोच्य वीर काव्य में जहाँ एक ओर भावात्मक गहराई निहित है तो वही प्रविधि का विस्तार भी मिलता है।

आलोचना और स्थान निर्धारण : यह कहा जा चुका है कि आलोच्य रचनाएँ वीर काव्यो के द्वितीय उत्थान काल में लिखी गई है। इस समय के वीर रस के कवियो मे, भूषण, लाल, श्रीधर, सूदन, पद्माकर के नाम प्रमुख है। इन्ही के साथ तुलना करके आलोच्य कविता का स्थान निर्धारित किया जाना समुचित होगा।

भूषण की कविता में चामत्कारिकता की प्रवृत्ति और रूढ़िपालन की प्रवृत्ति

बहुत अधिक है। इससे उनके काव्य की स्वाभाविकता दब गई है। अलंकारों का मोह और भाषा की स्वच्छन्दता भी कविता की सर्वांगीण सुघराई में अन्तराय उपस्थित करती है। इन थोड़ी न्यूनताओं के अतिरिक्त उनका काव्य वीर रस की प्रकीर्ण रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने अपनी कविता का नायक ऐसे दो व्यक्तियों को बनाया है जिनके कृतित्व का साक्षी स्वयं इतिहास है। ये दोनों चरित्र अपनी लोक-नायकत्व की प्रवृत्ति के कारण चिरकाल के लिए जनता के हृदय-सम्राट् बन चुके हैं। अपने इस चिरस्थायी आलम्बन (आश्रय) के कारण उनका काव्य भी चिरस्थायी बन गया है। इन्हीं के साथ गोरेलाल 'लाल' का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने 'छत्रप्रकाश' नामक इतिवृत्तात्मक ग्रंथ की रचना की है। इस रचना में वर्णन की प्रधानता और गठे हुए ठोस स्थलों की विरलता है। छन्द-विधान की दृष्टि से भी यह ग्रंथ वीर रस के बहुत अनुकूल नहीं हुआ क्योंकि इसमें चौपाई छंद की प्रधानता है। इसका रहस्य कवि की वर्णन प्रधान रुचि से मालूम पड़ता है। श्रीधर कवि के जंगनामा का महत्व ऐतिहासिक विवरणों के लिए ही हो सकता है। फर्रुखसियर के कार्य, लोकदृष्टि से संचालित नहीं थे अतः इसमें आलम्बन पक्ष (आश्रय) निर्बल है। इस त्रुटि के साथ एक दूसरी काव्यगत कमी यह है कि कवि फर्रुखसियर के चरित्र को उभार भी नहीं सका है और वह उनके संघर्षों व कार्यों को लोक के सामने इस रूप से प्रस्तुत करने में बिल्कुल सफल नहीं हो सका कि वह लोक-सहानुभूति प्राप्त कर सकता। इसमें भी वर्णनों की अधिकता और मार्मिक प्रसंगों की कमी है। लाल कवि ने कहीं-कहीं बड़े ही सजीव और भावपूर्ण चित्र हैं जैसे छत्रसाल हाड़ा के लिए कही गई यह उक्ति :

'भयो हरौल बजाय नगारो, सार धार को पैरन हारो'

ऐसे भावपूर्ण वर्णन भी श्रीधर के जंगनामा में किंचित ही मिल सकेंगे। सूदन का नायक सुजान सिंह जाट आंशिक रूप से ही लोक-नायक माना जा सकता है। पर उसके चरित्र को इतिहास और काव्य में ऐसा स्थान नहीं मिल सका कि वह लोक-श्रद्धा का विषय बन सके। आलम्बन की इस कमी को स्वयं काव्य की उत्कृष्टता पूरी कर सकती थी पर रचना देखने पर निराशा होती है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रयोग तथा वर्णन और नामों की भरमार बड़ा विक्षेप उपस्थित करते हैं। पद्माकर के प्रकीर्ण वीर रस के छन्दों में भाषा का बड़ा ही परिमार्जित रूप है पर इसमें अस्वाभाविकता और अतिरंजना का अंश बहुत अधिक है जो पाठक को भी खिजने के कारण झूठी करामात का विषय लगता है। इस दोष के कारण उनका समर्थ काव्य भी अधिक प्रभावपूर्ण नहीं हो सका। उनके काव्य के आलम्बन पक्ष में लोक-आस्था बाधक है।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम आलोच्य रचनाओं को देखते हैं तो आलम्बन पक्ष की दृष्टि से इनके नायक को छत्रपति शिवाजी और महाराजा छत्रशाल की पंक्ति में पाते हैं। कवि सभी वीरोचित गुणों की प्रतिष्ठा नायक में अंकित कर सके हैं जिससे लोक की सहानुभूति के कारण आलम्बन (आश्रय) का साधारणीकरण हो जाता है। स्वयं हृदय के राग में ही रचना-प्रेरणा होने से जहाँ एक ओर भाव की स्वाभाविकता है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्यावली के प्रस्तुतीकरण में भी आलोच्य कवियों का पल्ला भारी पड़ जाता है। इनके रचयिताओं ने पद्माकर की तरह भूमिका बाँधने या सूदन की तरह अनावश्यक वर्णनों के फेर में अपनी शक्ति को नहीं व्यय किया है। इन्हें तो वही बात कहनी इष्ट थी जो उनके हृदय को मथकर बाहर आने के लिए स्वयं आकुल थी। इसीलिए अस्वाभाविक लगने वाले लम्बे वर्णनों का इनमें सर्वथा अभाव है। अलंकारों के लिए छन्द गढ़ने या चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति का यहाँ लेश भी नही है। शुद्ध भाव की कसौटी पर परखने पर इन रचनाओं का स्थान मौलिक एवं भाव-प्रेरणा पर आश्रित मिलता है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ये रचनाएँ हिन्दी साहित्य के वीर-काव्यों में समादृत पद की अधिकारिणी हैं।

इन विशेषताओं से युक्त होती हुई भी ये रचनाएँ सर्वांशतः न्यूनता शून्य नहीं हैं। जहाँ तक प्रकीर्ण रचनाओं का सम्बन्ध है उनमें जो भी बची हैं वे अपनी श्रेष्ठता के बल पर ही कालजयी हुई हैं इसलिए उनमें दोषों का प्रायः अभाव है और जो छन्दशैथिल्य आदि दिखाई पड़ता है उसका बहुत कुछ कारण वे ही जन जान पड़ते हैं जिन्होंने उसे जीवित रखा है। ये दोष सम्पादन में ठीक किए जा सकते हैं। "रासा भगवन्तसिंह का" अवश्य ही एक ऐसी रचना है जो भाषा, भाव और छन्द सभी दृष्टियो से अत्यधिक सफल है परन्तु जंगनामा में भावोद्रेक अत्यधिक सशक्त होने पर भी भाषा और छन्द सम्बन्धी दोषों की बहुलता है। थोड़ा सा भी अंश पढ़ने पर यह दोष छिपा नही रहता। छन्द यद्यपि रसानुकूल है पर उसकी गति यति और मात्रा का कवि ने मनमाना प्रयोग किया है। भाषा उर्दू-फारसी और लोक-प्रयोग बहुल होने से बड़ी गड़बड़ी पैदा करती है। दाँत को कवि ने 'दन्दान' बना लिया, छन्द के आग्रह से 'जबान' का 'जबाना' हो गया है। इसी प्रकार कहीं-कहीं तो अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता कि कवि का क्या अभिप्राय है, जैसे :

नवल काँपा डरा सरका छुटा था पच्छिमगढ़ का
चन्देलों से किया खड़का चचेड़ी से उजारा है
गजाने भोग का खुश है हनूंसिह राव भी बस है
उसे शमसेर का जस है, डरा सब बैसवारा है

'छुटा था पच्छिमगढ़ का' में छन्द बन्ध की कड़ी भी ढीली है तथा अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। यहाँ कवि सादतखाँ के प्रताप को बता रहा है कि किस प्रकार उसका प्रभाव व आतंक व्याप्त हो गया था। बिना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के उसकी यह बात नहीं स्पष्ट होती कि नवलसिंह उसका सामना नहीं कर सका चन्देलों को उसने चचेड़ी (सचेड़ी) से उजाड़ दिया। 'गजाने भोग का खुश है' में शायद पाद दोष है। इस प्रकार बिना उस समय की स्थिति को समझे हुए रचना का पूरा अर्थ नहीं समझा जा सकता है। पर सम्पादन की कुशलता इसे बहुत कुछ समझा सकती है। बिरुदावली की भाषा इससे अधिक साफ है पर छन्द की तराश का अभाव उसमें भी कहीं-कहीं है। परन्तु जहाँ तक भाव-चेतना का प्रश्न है इन सभी रचनाओं का स्थान हिन्दी के वीर काव्यों के बीच बहुत महत्वपूर्ण है।

सातवाँ अध्याय

इतिहास-निरूपण

संस्कृत-कवियों में इतिहास-निष्ठा का अभाव : प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि हमारे पूर्वजों की रुचि घटनाओं के यथातथ्य चित्रण में नहीं थी। वे कल्पना और आलंकारिकता की अतिशयता में वस्तुस्थिति से दूर चले जाते थे और कभी-कभी तो मूलरूप को ही बदल देते थे। संस्कृत-साहित्य के अपार भंडार में इसीलिए शुद्ध इतिहास को प्रस्तुत करने वाली सामग्री नही के समान है। हर्ष के समकालीन और उन्हीं के दरबारी कवि बाणभट्ट ने "हर्षचरितम्" में हर्ष सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरणों को काल्पनिक बना दिया है, इतना कि वह एक श्रेष्ठ गद्यकाव्य मात्र रह गया है।[1]

हिन्दी कवियों में इतिहास-निष्ठा का विकास : परन्तु हिन्दी साहित्य के विकास में उसकी अपनी मौलिकता और अपनी विशेषता निहित मिलती है। संस्कृत-साहित्य की परम्परायें और रुढ़ियाँ यहाँ वही-की-वही नहीं बनी रहीं, वरन् उन्हें हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार ढाल लिया है। संस्कृति की अपेक्षा हिन्दी में ऐतिहासिक और यथा-तथ्य वर्णन अधिक उपलब्ध है। हिन्दी साहित्य के निर्माण-काल की परिस्थितियाँ ही इसका कारण हैं। हिन्दी के आदिकाल के कवि के सामने राष्ट्र संकटपूर्ण स्थिति में था। सम्पूर्ण युग संघर्ष और झंझावातों से भरा था। अतः इस विकट घड़ी में जीवन-संघर्ष को स्वप्निल और कल्पनापूर्ण बना देना न तो व्यावहारिक था और न सम्भव। फलस्वरूप हिन्दी के आरम्भ-काल से ही उसके साहित्य में ऐतिहासिक विषय-वस्तु भी समाहित होने लगी। यद्यपि "बीसलदेव रासो" और "पृथ्वीराज रासो" को इतिहास की दृष्टि से भ्रष्ट सिद्ध कर दिया गया है परन्तु सम्भव है अपने मूल रूप में उनमें वे ऐतिहासिक असंगतियाँ न रही हों जो आज उपलब्ध है। यहाँ इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर हमें इतना ही कहना है कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में ऐतिहासिक तथ्य और कथ्य की प्रवृत्ति बीज रूप में निहित है। नाल्ह और चन्दबरदायी की मूल

---

१. तुलना करिये 'संस्कृत लिटरेचर', पृ० २२८

रचनाओं में ऐतिहासिक विषय-वस्तु का बीज अंकुरित हुआ, यह कहना भी असंगत न होगा। इसके पश्चात विद्यापति की कीर्तिलता तो अपनी ऐतिहासिकता के लिए असंदिग्ध है।[1] विद्यापति के उपरान्त हिन्दी के दूसरे महाकवि स्वयं केशवदास के लिखे ग्रन्थ "जहाँगीर जस चन्द्रिका" और "वीरसिंहदेव चरित्र" इस परम्परा के दो प्रमाणित मार्ग चिह्न हैं।[2]

कहना न होगा कि केशवदास के समय तक हिन्दी कवियों का शाही और सामन्ती दरबारों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अधिकाधिक पल्लवन हुआ क्योंकि मुसलमानों ने काफी पहले ही इतिहास और उसके लिखने के महत्व को समझ लिया था। अब इसके विकास में राष्ट्रीय आवश्यकता के साथ सम्पर्कजन्य संस्कार भी सक्रिय हुए और रीतिकाल में लक्षण और उदाहरणों में निबद्ध विपुल शृंगारी रचनाओं के साथ ही शुद्ध इतिहास को प्रस्तुत करने वाली अनेक रचनायें भी लिखी गई। इस प्रवृत्ति के अनुसरण में इनके कर्ता कवियों में लोकजीवन और लोकसंघर्ष के प्रति असंदिग्ध आस्था की व्यंजना होती है। साथ-ही-साथ लोक की इतिहास के प्रति जागरूकता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जो जनता का नेतृत्व करते थे उनके कीर्ति-कथन में कवि को आत्मतोष और समाज को सुनने-पढ़ने में आत्म-तृप्ति मिलती रही होगी तभी कवियों ने आत्म-प्रेरणावश ऐसे चरित्र नायकों के वीर चरित्रों को लिखा और जनता ने उसे हृदय से अपनाया। भगवन्तराय से सम्बन्धित जो काव्य उपलब्ध हैं वे इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। एक ओर वे लोकसंघर्षी व्यक्तित्व के प्रति कवियों की आस्था को प्रकट करते हैं तो दूसरी ओर लोक की ऐसे काव्य को ग्रहण करने की अभिरुचि पर प्रकाश डालते हैं।

भगवन्तराय के प्रति लिखी गई यह काव्य-सामग्री सामयिक कवियों की देन है, अतः इसकी ऐतिहासिकता का प्रश्न स्पष्ट और महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में हम इसी का विवेचन करेंगे।

इतिहास का निरूपण क्यों ?

जब हम इतिहास-निरूपण का प्रश्न उठाते हैं तो इसका अर्थ है कि हम स्वीकार करते हैं कि आलोच्य इतिहास अस्पष्ट, अव्यवस्थित तथा सन्दिग्ध है। भगवन्तराय से सम्बन्धित समस्त सूत्रों से प्राप्त विवरणों से ये तथ्य प्रकट हैं।

---

१. वृहत् इति० भाग-१, पृ० ३२४

२. चन्द्रबली पाण्डेय कृत—केशवदास

अनुश्रुतियों और कवियों के वर्णनों तथा तत्कालीन इतिहासकारों की रचनाओं में तथ्य सम्बन्धी असंगतियाँ है, जिनके कारण इतिहासकारों के वर्णनों की विश्वसनीयता सन्दिग्ध जान पड़ती है। यह सन्देह तब और पुष्ट होता है जब हमें इन इतिहासों में कतिपय तथ्यों पर मत-वैषम्य तथा परस्पर-विरोधी सूचनाएँ मिलती है। अतएव आवश्यकता है कि तत्कालीन इतिहास की सामग्री के विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध सूचनाओं का वैज्ञानिक विवेचन कर ऐतिहासिक प्रश्नों का बुद्धिग्राह्य समाधान प्रस्तुत किया जाय। इस विवेचन और तथ्य-निरूपण में साहित्य, विशेष-रूप मे कवि-कृतियों के महत्व पर विशेष विचार किया जायगा।

सामग्री और अध्ययन प्रविधि

इतिहास, काव्य तथा अनुश्रुतियों मे रक्षित समस्त सामग्री का सापेक्ष अध्ययन करके मूल तथ्य का निरूपण ही विश्वसनीय होगा। इतिहास के अन्तर्गत वह सामग्री है जो फारसी के इतिहासकारों ने लिखी है। इसके लिखनेवाले मुसलमान है, जो तत्कालीन शासन के समर्थक थे। इसी प्रसंग में उत्तर भारत में स्थित मराठा कर्मचारियों आदि के कुछ पत्र है जो उन्होंने पेशवा की सूचनार्थ पूना भेजे थे। इनका उद्देश्य तथ्यों को प्रेषित कर उनसे पेशवा को अवगत कराना मात्र था अतः यह रागद्वेष विहीन सामग्री इस प्रसंग में बहुत ही उपयोगी है। इनमे से कुछ ऐसे भी थे जो केवल स्वान्तःसुखाय विना किसी का पक्ष लेने की भावना से अपने उद्गारो को लिख गये है जैसे कवि मुहम्मद[1]। तीसरे प्रकार की वह अलिखित सामग्री है जो परम्परा से अनुश्रुति रूप मे मिलो है। नायक भगवन्तराय का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण लोगों की भावना पर छा गया था और क्रम से अपने परवर्तियों की स्मृतियों में लोग उसे छोड़ते गये।[2]

उक्त सम्पूर्ण सामग्री में से इतिहासकारों ने इतिहास लिखते समय सबसे अधिक प्रयोग फारसी की सामग्री का ही किया है और उसे ही प्रामाणिक माना है। काव्य-सामग्री या अनुश्रुतियों का उपयोग इस क्षेत्र मे उपेक्षित रहा है। परन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर फारसी इतिहासों मे मिलने वाली यह सामग्री एकपक्षीय सिद्ध होती है। धर्म-भावना एव धर्मराज्य के प्रति आस्थावान होने के कारण इन्हे (इतिहास-लेखको को) इन दोनो के विरोधी व्यक्ति का उत्कर्ष दिखाना कभी भी रुचिकर नही हो सकता था। यह बात मराठा कर्मचारियों के पत्रों से

---

१. 'ये कर टारा है मनमाना मुहम्मदखाँ सचारा है' जंगनामा०

२. जिस मंडल का भौगोलिक स्वरूप प्रथम अध्याय मे निश्चित किया है उसके अन्तर्गत अब भी अनेक गाँवों मे इस संबंध में अनुश्रुतियाँ सुनने को मिलती हैं।

तुलना करके देखने पर पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न पक्षों के साक्ष्यों से प्रकाश में आनेवाली वैषम्यपूर्ण सामग्री में भी तथ्यों की खोज का सुन्दर सुयोग है। दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियों के अपने-अपने पक्षधर हैं तथा कुछ तटस्थ भाव से लिखे गये विवरणों के अतिरिक्त इस प्रसंग में अनुश्रुतियों से भी बहुत अधिक सहायता ली गई है। यह अनुश्रुति[1], श्रुति की सहोदरा मानी गई है। अतः यह सुना हुआ सत्य है जिसकी साक्षी से अनेक प्रसंगों की गुत्थियों को सुलझाकर सत्य का साक्षात्कार करने में सहायता मिलती है।[2]

उपर्युक्त समस्त सामग्री में से कविता का कलेवर सबसे अधिक है। जैसा ऊपर कहा गया है, मूलरूप से हमें इसी सामग्री की ऐतिहासिकता की परीक्षा करनी है तथा यह निश्चित करना है कि कवियों ने इतिहास के प्रति कितनी ईमानदारी बरती है तथा इतिहास का अनुसंधान करते समय इनसे कितनी अधिक सहायता ली जा सकती है।

मूलरूप से किसी एक रचना की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय किसी अन्य कवि की वाणी से जहाँ प्रमाण मिला है वहाँ उसकी भी सापेक्ष्य प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है, अतः उसके उस अंश की ऐतिहासिकता का पुनर्विचार न किया जायेगा। इस प्रसंग में हम किसी भी रचना पर विचार करते समय अन्य कवियों के वर्णनों, इतिहासकारों के कथनों एवं उनकी ध्वनियों तथा अनुश्रुतियों से यथावश्यक सहायता लेंगे।

हमारे सामने जो उपलब्ध सामग्री है उसके वैज्ञानिक अध्ययन को फारसी की सामग्री के साथ समन्वित करके भगवन्तराय से संबंधित इतिहास को उसके मूलरूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं जो अब तक प्रायः उपेक्षित रहा है।

जयसिंह विनोद के ऐतिहासिक तथ्यों की समीक्षा

इतिहास की दृष्टि से महाकवि देव की "जयसिंह विनोद" नामक रचना द्वारा निम्नांकित महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। भगवन्तराय के वंश, पूर्वज और

---

१. स्वयं अनुश्रुतियों को यहाँ स्वतन्त्र अध्ययन का विषय नहीं बनाया है पर इतना संकेत यहाँ अवश्य कर देना उचित है कि यदि इतिहास के सापेक्ष्य में अनुश्रुतियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो स्वयं इतिहास के साथ सामाजिक धारणाओं को प्रकट करनेवाले अनेक मनोरंजक तथ्य सामने आयेंगे।

२. चौहानों की उत्पत्ति कवि ने आबू के यज्ञ कुंड से बताई है। मध्यकाल और विशेषकर उत्तर मध्यकाल में सर्वत्र यही मत प्रचलित और स्वीकृत था। इस समय के लिखे गए समस्त ग्रन्थों एवं बड़वों की पोथियों में चौहान, अग्निवंशी एवं आबू के यज्ञकुण्ड से उत्पन्न माने गए हैं।

उनके प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित कुछ विवरणों की जानकारी देने वाली केवल यही रचना है। अतएव इतिहास के जिज्ञासु के लिये इसका महत्व बहुत अधिक है। इसकी सामग्री की परीक्षा के लिये असोथर के सजरे एवं अनुश्रुतियों का ही अवलम्ब है। प्रमुख ज्ञातव्य तथ्यों को इस प्रकार रखा जा सकता है :

(१) चौहानों की उत्पत्ति।

(२) भगवन्तराय ने मालवा के विक्रम भोज जैसे विश्रुत और [illegible] शासकों की परम्परा को वंशानुक्रम में प्राप्त किया।[1]

(३) गर्जसिंह से लेकर भगवन्तराय के पुत्रों तक की वंशावली और प्रासंगिक प्रशस्ति।[2]

---

१. मध्यकाल में मालव प्रदेश में खीचियों का प्रभुत्व था। अचलदास के समय में जब गागरोण की शक्ति का पराभव हुआ उस समय खीची अपनी राजनीतिक शक्ति के पूर्ण विकास पर थे अतएव इसी आधार पर इन्हें मालवा के पूर्वकालीन विक्रम और भोज जैसे विश्रुत शासकों की परम्परा में प्रतिष्ठित करके कवि ने गौरवान्वित किया। कवि के कथन से भगवन्तराय के पूर्वजों की महिमा का भी बोध होता है। उनके मालवा के शासक-कुल में होने के प्रमाण वंशावलियों, ख्यातों तथा अद्यावधि के संपर्कों से सिद्ध है।

२. कवि ने गजसिंह से लेकर भगवंतराय के भाइयों और उनके पुत्रों के वंश का यथाक्रम उल्लेख किया है। यह वंशक्रम असोथर के सजरे से पूर्णरूप से मेल खाता है। न कहीं नामों में अन्तर है और न उनके क्रम में। अतः इसकी प्रामाणिकता का प्रश्न निर्विवाद है। जिन घटनाओं या संबंधों के उल्लेख मिलते हैं, वे भी अनुश्रुतियों से अक्षरशः अनुमोदित हैं। उदाहरणार्थ जयसिंह देव के समय में वत्स गोत्र से बदलकर गोतम गोत्रीय प्रचलित होने का कवि देव ने उल्लेख किया है जो, अनुश्रुतियों मे इस प्रकार है—"जयसिंह अपनी पत्नी से इतना प्रेम करते थे कि बिना उसको साथ बैठाए अन्न नहीं ग्रहण करते थे। एक बार शिकार में अतिकाल हो जाने से उन्हें बड़ी भूख लग आई। उनके ब्राह्मण मंत्री ने कहा, मैं रानी का चित्र बनाए देता हूँ आप उसी चित्र को भोजन कराकर स्वयं भी भोजन ग्रहण कर आत्मरक्षा करें। मंत्री को सरस्वती की सिद्धि थी। उसने चित्र बनाया और अंत मे अपनी आराध्या से आँख बन्द कर प्रार्थना की कि यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसे पूरा कर दो। ध्यान करते ही लेखनी से स्याही की एक बूँद चित्र में बनी रानी की जंघा पर गिर पडी। ब्राह्मण ने राजा को वह चित्र दे दिया। चित्र वास्तविक स्वरूप की पूर्ण अनुकृति तो थी ही, पर जंघा के तिल को भी चित्र में देखकर राजा के मन में सन्देह जगा। उन्हें ब्राह्मण के और रानी के संबंधों की बात खटकी। फलस्वरूप ब्राह्मण को बँधवाकर जमुना में जीवित प्रवाहित करा दिया। ब्राह्मण मर कर 'ब्रह्म' हो गया तथा इनके परिवार को नष्ट करने लगा।' असनीगढ़ वीरान होने के साथ ध्वस्त होने लगा। अंत में उसी ब्राह्मण मन्त्री की संतुष्टि के

(४) पाल्हनदेव खीची ने संवत् १५५५ में गौतम राजाओं को पराजित किया।[1]

लिए पूजा-आराधना की गई। ब्राह्मण द्रवित हुआ और उसने कहा कि मैंने मरते समय तुम्हारे कुल के नाश का संकल्प किया था। पर अब वैसा नहीं करना चाहता। मेरे वचन [illegible] और तुम्हारा नाश भी न हो इसलिए तुम्हें अदलीगढ़ छोड़ना पड़ेगा [illegible] जगह आबाद होना पड़ेगा जहाँ किसी ब्राह्मण का खेर हो (अदली छोड़कर असोथर-अश्वत्थामापुरी में आबाद होने का यही कारण बताया जाता है) तथा अपना पितृ गोत्र बदल कर मातृ गोत्र ग्रहण करने की शर्त भी लगाई। तब से असोथर वंश के खीची अब तक अपने को गौतम गोत्रीय भी कहते हैं। ब्रह्म-हत्या का उल्लेख कवि शायद नहीं करना चाहता था अतः वह केवल 'गौतम गोत्र' के ग्रहण में ही कथानक को समाप्त कर गया है।

१. पाल्हनदेव खीची द्वारा संवत् १५५५ में गौतमों के पराजित होने की निश्चित तिथि के जान लेने से तीन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है।

(अ) खीची गजसिंह का समय निर्धारित करने में (ब) वंशावली की वैज्ञानिकता की परीक्षा करने में तथा (स) गौतम और खीचियों के संबंध एवं विग्रह की जानकारी प्राप्त करने में।

(अ) फतेहपुर गजेटियर के अनुसार गजसिंह का अन्तर्वेद में आकर बसने का समय सन् १५४३ ई० के आसपास है। किन्तु देव की इस रचना के अनुसार पाल्हनदेव जो गजसिंह की चौथी पीढ़ी में थे, का समय १५५५ वि० है। कवि ने अपना यह ग्रन्थ गजेटियर लिखे जाने के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व लिखा था। वंशावलियों की छानबीन करके मनुभाई मेहता एवं देसाई ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों 'हिन्द राजस्थान' एवं 'चौहान कुल कल्पद्रुम' में गजसिंह को गागरोन के अचलदास खीची का सबसे छोटा पुत्र माना है। अचलदास के मारे जाने के बाद गागरोन किला सन् १४२३ ई० में खीचियों के हाथ से निकल गया। अतः गजसिंह का अदली आना अवश्य वि० सं० १४८५-८६ के आसपास सम्भव हुआ होगा। इस प्रकार देव की मत इन दोनों इतिहासकारों के मतों से पुष्ट हो जाता है। अतः उनकी चौथी पीढ़ी का समय वि० सं० १५५५ ही ठीक जान पड़ता है। इस प्रकार गजेटियर में उल्लिखित तिथि भ्रमपूर्ण सिद्ध हो जाती है। वास्तव में देव की इस तिथि से गजसिंह अचलदास का ही पुत्र प्रमाणित होता है। अतः यह कह सकते हैं कि समय के निश्चित हो जाने से ख्यातों और वंशावलियों के विवरण पुष्ट हो जाते हैं। गजसिंह का भी समय निश्चित हो जाता है।

(ब) गजसिंह से भगवन्तराय तक का समय जब निर्भ्रान्त हो जाता है तब वंशावली की पीढ़ियों की वैज्ञानिकता को एक आधार मिल जाता है। एक पीढ़ी के लिए इस प्रकार २६ औसत वर्ष का निश्चय हो जाता है जिसकी वैज्ञानिकता में विवाद नहीं उठाया जा सकता।

[क्रमशः]

(५) गाजीपुर को जीतकर भगवंतराय उसके स्वामी बन गए।[1]
(६) भगवंतराय का प्रभाव-विस्तार और मुगलों से विरोध।[2]

भगवन्तराय खीची का 'जंगनामा' के ऐतिहासिक तथ्यों की समीक्षा

कवि मुहम्मद ने इस रचना का प्रणयन भगवन्तराय के निधन के लगभग

(स) यह निश्चित है कि खीची गौतमों की गद्दी पर आए। अनुश्रुतियाँ और गजेटियर इसे पुष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त सबसे पुष्ट प्रमाण है जिसे स्वयं कवि ने भी बताया है कि खीची अपने को जयसिंह देव (गजसिंह के पुत्र) के समय से गौतम गोत्रीय कहने लगे। इसकी स्वीकृति अब तक उसी रूप में है। कर्मकाण्डों के अवसरों पर वत्स और गौतम दोनों ही गोत्रों के उच्चारण किए जाते हैं। आगे चलकर संभवतः इसी विग्रह के फलस्वरूप खीचियों और गौतमों के सम्बन्ध शताब्दियों के लिए टूट गए। जहाँ तक ज्ञात है परवर्ती काल में इस विरोध में कटुता नहीं उपेक्षा और तटस्थता के ही भाव थे।

१. भगवन्तराय के जन्मकाल में उनके पिता की आर्थिक विपन्नता की बात कही जा चुकी है। उन्होंने खेत में मिले धन से ३ परगने खरीदे थे। गाजीपुर का दुर्ग भगवन्तराय ने अपने बाहुबल से जीता और यहीं पर उन्होंने अपने पिता के राज्य से अलग होकर अपने पौरुषपूर्ण व्यक्तित्व की विजय-पताका फहराई और उसके प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार का सूत्रपात किया। असोथर उन्होंने अपने अधिकार में नहीं लिया, अन्य भाइयों के लिए उसे छोड़ दिया था। उसका जीता हुआ प्रदेश पिता के तीन परगनों से अलग ही रहा है। इसका प्रमाण मुहम्मद कवि के जंगनामा में सादतखाँ द्वारा किये गये संधि के प्रस्ताव 'चौदह परगने' से भी स्पष्ट है इसी कारण जब भगवंतराय के पुत्र रूपराय गद्दी पर बैठे और उनके साथ अन्त में नवाब को संधि करनी ही पड़ी तब रूपराय के पास १७ परगने रहे। सम्भवतः पिता के १४ परगने तथा पितामह के ३ परगने मिलाकर उसने यह क्षेत्र पाया था।

२. यह रचना संवत् १७७९ की है। अतः इस समय तक भगवन्तराय का व्यक्तित्व एवं उनका प्रभाव कितना पुष्ट एवं व्यापक हुआ था इसका पता भी चल जाता है। राजाओं और जमींदारों का उपहार लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होना इतना तो प्रकट करता ही है कि भगवन्तराय की स्थिति इस समय तक एक सफल एवं प्रभावशाली नायक जैसी हो चुकी थी। उनके अनुयायियों का एक वर्ग था। वे अपने क्षेत्र में अपनी शक्ति की धाक जमा चुके थे। इसके अतिरिक्त उनके मुगल शासन के विरोधी होने के प्रमाण भी मिल जाते हैं। इतिहास में इसका अनुमोदन है। छत्रसाल के प्रदेश में बंगस के आक्रमण के पूर्व भगवन्तराय मुगलों के घोर विरोधी थे। उसे तत्कालीन इतिहासकारों ने लिखा है। तुलना कीजिये—ले० मु० भाग-२ पृ० २३१ में उद्धृत पादटिप्पणी के ग्रन्थों की सूची से) यह कवि भी लिखता है 'आगरे की पौरन प्रयाग लौं पुकार उठी'।

बारह वर्ष बाद सन् १७४७ ई० में किया था।[1] कवि नायक का समकालीन था और उसने वर्णन भी वैसा ही सजीव किया है। न भाषा में कृत्रिमता है और न भावों में राग-द्वेष की गंध। घटना सत्य को हृदय के राग में घोलकर ज्यों-का-त्यों लिख देना ही इस कवि का इष्ट था। इस कृति में भगवंतराय के जीवन-संघर्षों के अन्तिम चार वर्षों का वर्णन जिस विस्तार से मिल जाता है वह एक स्थान पर किसी भी कवि या इतिहास-लेखक से नहीं प्राप्त होता। ये चार वर्ष उनके उत्कर्ष के सबसे महत्वपूर्ण दिन थे। इतना चकित कर देने वाला उत्कर्ष था कि विरोधियों के सिर पर आसमान टूटने लगा था।[2] इसलिए विरोधी और सहयोगी दोनों ही पक्षों के लिए इन चार वर्षों की महत्ता सबसे अधिक है। इस कवि ने इसी उत्कर्ष-काल का वर्णन किया है। साधारण रूप से अन्य इतिहासकारों एवं कवियों ने भी अपने वर्णन इसी समय के भीतर केन्द्रित रखा है, इसलिए कवि की प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए साक्षियों की कमी नहीं। जंगनामा की घटनाओं और पात्रों के वर्णन निम्नरूप से दिये जा रहे हैं, जिनकी प्रामाणिकता में अन्य संबंधित विवरणों को पादटिप्पणी में उद्धृत किया गया है जिनसे इनकी पुष्टि होती है। इस प्रकार प्रमाण में पूरक रूप से उपयोग में लाई गई सामग्री की भी सत्यता सिद्ध हो जाती है।

"कोड़े का फौजदार जाँनिसारखाँ वजीर आजम का साला था।[3] उसकी प्रकृति बड़ी झगड़ालु थी।[4] वजीर की अनुमति लेकर उसने भगवंतराय पर आक्रमण किया किन्तु फतेहपुर में उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा। भगवन्तराय ने उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।[5] बेचारे नवाब के परिवार के लोगों का कहीं ठिकाना न रहा।[6] इस युद्ध में भगवन्तराय की सहायता करने वाले राजा गिरोह बनाकर आये थे।

---

१. हिजरी ११६० 'चहलसी चहल मन रहते, मुहम्मदशाह के कहने' जंगनामा०
चहल > ४० × सी > ३०—चहल > ४० = ११६०

२. 'जाये के चर्ख दूं कु द हम्माद नाकिमाँ
खैर अज़ फ़िसार हिस्मा नरारत दिमार मर्द'
मीरातुल० पृ० १७१

३. मीरातुल० पृ० १७० ब

४. मीरातुल० पृ० १७० ब

५. मीरातुल० पृ० १७१ अ: मा० जा० ३०—८, पृ० ३४१

६. मीरातुल० पृ० १७१ अ; सियारुल० भाग—१, पृ० २६६: मा० जा० ३०—८, पृ० ३४१ तथा खसा और विरुदावली

वजीर अपनी सेना के साथ दक्षिण में मराठों को नर्मदा पार तक खदेड़ चुका था। तभी उसने उत्तर की ओर भगवन्तराय के दमन के लिए अपनी सेना को मोड़ दिया।[१] बुदेलखण्ड प्रान्त में दतिया और ओरछा के बुंदेले राजा भी इस अभियान मे उसके साथ हर्षपूर्वक हो लिये।[२] यमुना उतर कर वजीर की सवा दो लाख घोड़ों की सेना[३] गाजीपुर की ओर बढ़ी। भगवन्तराय परिस्थिति को अनुकूल न देख युद्ध का यह अवसर टालकर यमुना पार उतर गए। दतिया के बुंदेले राजा राव रामचन्द्र ने गाजीपुर पर अपना अधिकार करके किले और देश को मिट्टी में मिला दिया।[४]

वजीर के दिल्ली वापस लौटते ही भगवन्तराय ने प्रत्यावर्तन किया।[५] सूचना पाते ही विरोधी पक्ष ने भी पूरी तैयारी के साथ सामना करने के लिए प्रस्थान किया। दोनों दलों का सामना हुआ। ख्वाजा मीर का हाथी गोली से घायल हो गया तथा वह मैदान से भाग निकला। साहेबराम युद्ध में काम आया। राव रामचन्द्र ने अन्त में सामना तो अवश्य किया परन्तु वह भी स्वर्ग सिधारा। विजयी भगवन्तराय ने पुनः अपने प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया।[६]

वजीर ने यह सूचना पाते ही सुप्रसिद्ध सेनापति सादतखाँ को पत्र लिखा। पत्र में वजीर ने सादतखाँ को उत्तेजित करने के लिए उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।[७]

पत्र पाते ही सादतखाँ ने आक्रमण की तैयारी कर दी। बिठूर होते हुए उसकी

---

१. तुलना कीजिए, ले० मु० भाग—२, पृ० २७७
२. पेशवा दफ्तर० १४ पत्र संख्या ६
३. रुस्तमअली ने ता० हि० इ० ८ पृ० ५० में वजीर के साथ दिल्ली से प्रस्थान करने वाली सेना की संख्या ७०,००० लिखी है। इस सेना में सूबेदारों, फौजदारों एवं सहायक राव-राजाओं की सेनायें भी आगे बढने पर सम्मिलित हुई जिसमे अवश्य ही यह काफी बडी सेना होगई फिर भी कवि द्वारा निर्देशित संख्या के व्यंग्यार्थ से यह आशय निकालना ही अधिक ठीक होगा कि वजीर की सेना बहुत बड़ी थी।
४. पेशवा दफ्तर० १४ पत्र सख्या ६; मीरातुल० पृ० १७१ ब
५. मीरातुल० पृ० १७१ ब; सियारुल०—१, पृ० २६६
६. मीरातुल० पृ० १७१ ब; सियारुल०—१, पृ० २६६; शंभुनाथ मिश्र, विरुदावली०
७. तुलना कीजिए सियारुल०—१, पृ० २६६ के इन शब्दों में—'यदि उसके (सादतखाँ) हृदय मे मुगलों के लिए कुछ आदर-भाव या मुसलमान धर्म के लिए कुछ भी उत्साह है तो वह इस आततायी दुष्ट (भगवन्तराय) को दंड दे।'

फौजें मध्यदेश में प्रविष्ट हुई।[१] नवाब ने गाजीपुर पहुँच कर घेरा डाल दिया।[२]

भगवन्तराय भी युद्ध की पूरी तैयारी के साथ अपनी सुसज्जित सेना लेकर युद्ध-भूमि में शत्रु का सामना करने के लिये उपस्थित हुए। युद्ध क्षेत्र में अपनी सेना को तीन भागों में बाँटकर उन्होंने विकराल वेग से शत्रु पर धावा बोल दिया। समस्त सेना का नेतृत्व वे सेना के आगे रहकर स्वयं कर रहे थे।[३] उन्होंने अपने विश्वस्त सैनिकों को प्रेरित किया कि वे सीधे वहीं टूट पड़े जहाँ सादतखाँ स्वयं मौजूद है।[४] सैनिकों को उन्होंने सचेत भी किया कि भागने पर अब कहीं भी ठिकाना नहीं मिलेगा। यह आदेश पाते ही सैनिक अश्वों की बलायें उठा सीधे सादतखाँ के व्यूह में प्रवेश कर चले। इस आक्रमण की सूचना मिलते ही सादत खाँ अपने स्थान से हट गया।[५] उसके स्थान पर अबूतुराबखाँ नामक नवाब के अत्यन्त विश्वासपात्र सेनानायक ने आकर भगवन्तराय का सामना करने की ठानी।[६] तुराबखाँ को भगवन्तराय ने अपने भाले का लक्ष्य बनाया।[७] चारों ओर भयंकर मारधाड़ के बीच तेजसिंह[८] नामक वीर से भगवन्तराय का सामना हुआ, जिसमें तेजसिंह काम आया। भवानीसिंह ने इस युद्धघड़ी में भगवन्तराय के दाहिने हाथ की तरह उनका साथ दिया।[९] नर-संहार का अंत होता न देखकर

---

१. खसा० में जाजमऊ के पास गंगा पार करना बताया गया है परन्तु बिठूर के पास ही गंगा पार करना अधिक ठीक जान पड़ता है क्योंकि नवाब दिल्ली के रास्ते से अपनी फौजें लौटा रहा था। तुलना कीजिए—सियारुल०—१, पृ० २७०

२. रासा० में नवाब का पड़ाव गाजीपुर किले से आधे योजन पर दिखाया गया है. यहाँ युद्ध के चिह्नस्वरूप खेत रहे वीरों का मुंडचौरा बना है।

३. ता० हिं० इ०—८, पृ० ५२; सा० आ० इ०—८, पृ० ३४२; सियारुल-१, पृ० २७० तथा विरुदावली०

४. सियारुल० १-पृ० २७०, तथा रासा०

५. तुलना कीजिए सियारुल० १, पृ० २७०, रासा० एवं किसी अज्ञात कवि की यह पंक्ति है—'कीन्हीं कैसी दगाबाजी बाजी चढ़ि, हाथा हाथी हाथी ले सहादत उतरिगो'
शंभुनाथ मिश्र ने भी लिखा है :
'भगवन्त नाहर के पंजाते निकसि शंभु, सहमें सहादत चले न छलछन्द है
बोलत न डोलत न खोलत पलक जैसे, सिंह के सपेटे दबि रहत गयंद है।'

६. रासा०; सियारुल० १, पृ० २७० तथा विरुदावली०

७. सियारुल० १, पृ० २७०; सा० जा० इ०—८, पृ० ३४२; विरुदावली० रासा०

८. रासा० में भी इस वीर का उल्लेख है, विरुदावली० में भी संकेत मिलता है।

९. रासा०; विरुदावली०; सारंग कवि का यह कवित्त :
'तंगन समेत काटि विहत मतंगन को
रुधिर सों रंग रणमण्डल में भरिगो'

नवाव ने संधि का प्रस्ताव किया। भगवन्तराय ने इसे ईश्वर की ही इच्छा समझ कर तटस्थ भाव से स्वीकार कर लिया। संधि मे भगवन्तराय को बादशाह की ओर से १४ परगने गुजारे के रूप मे देने का उल्लेख था जिन पर कर की पूरी छूट थी। वे शान्त होकर अपने इस प्रदेश में रहें और उसकी शासन-व्यवस्था करें। बादशाह की ओर से खाँ ने उनके सामने केवल यही अनुबंध रखा था।[1]

संधि का यह समाचार मिलते ही युद्धभूमि मे भगवन्तराय से कंधा मिलाकर खड़े होने वाले राजपूत वीर अपने अपने ठिकानों को यह आश्वासन देकर विदा होने लगे कि भविष्य मे अवसर पड़ते ही वे फिर उपस्थित होकर अपनी सेवायें इसी प्रकार प्रस्तुत करेंगे। परन्तु सादतखाँ तो भगवन्तराय को निर्मूल करने के अवसर की ताक मे था। नवाब अपने सूबेदारों को आक्रमण के लिए प्रेरित करता, परन्तु भय से जड हुए सरदारों में उत्साह नहीं आता था। नवाब हाथ मींजकर रह जाता था। इसी बीच कोड़े का चौधरी दुर्जनसिह उपस्थित हुआ। उसने खाँ से प्रण किया कि या तो वह भगवन्तराय को जीवित कैद करके या उसका शिर एक माह के भीतर ही नवाब के सामने ला देगा। अपनी इस प्रतिज्ञा के पूरी न होने पर उसने स्वयं अपना ही शिर नवाब को दण्ड-रूप मे देने का वचन दिया। नवाब ने चौधरी को सरोपा और पान का बीड़ा प्रदान किया। दुर्जनसिंह ने अपने इस संकल्प की बात को अत्यन्त गुप्त रखने का आश्वासन माँगा।[2] चंदेले, चौधरी बिसेन, कछवाहे, कलचुरिया, बैस और कनपुरिया राजपूतों की सेनाओ से दुर्जनसिह चौधरी ने सौ घुडसवार अपने साथ के लिए छाँट लिए।[3]

---

१. जंगनामा की यह सूचना अन्य किसी भी लेखक ने नहीं दी है; अनुश्रुतियों से इनकी पुष्टि अवश्य होती है। और गहराई से विचार करने से अन्य प्रमाण भी इसकी ध्वनि देते है जिनका विवेचन इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में भगवन्तराय की मृत्यु पर विचार करते समय किया गया है।

२. रासा० में यह प्रसंग गंगातट पर गाजीपुर के आक्रमण के रास्ते पर दिखाया गया है।

३. बिरुदावली० मे भगवन्तराय के जिन साथी राजपूतों की जातियों की गणना है इनमे दुर्जनसिह के साथ जाने वाली इन जातियो मे से एक का भी उल्लेख नहीं है। बैस ही एक जाति है जो दोनों ओर थी। वास्तव मे बैसों मे आपस में भी बहुत अधिक विद्वेष था, फिर इस क्षेत्र मे इतनी अधिक संख्या मे बैस है कि उनका बँट जाना स्वाभाविक था। चंदेले भगवन्तराय के पुराने विरोधी थे। इसके पहले दतिया के राव रामचन्द्रसिह के नेतृत्व मे भगवन्तराय के विरोधियो के सम्बन्ध मे शम्भुनाथ ने लिखा है: "मुगल पठानन चन्देलन बुन्देलन को फैल्यो दल मानो प्रलै को वारा-पार है।"

इन चुने हुए घुड़सवारों को उसने भगवन्तराय की सेना ही जैसा केशरिया बाना धारण कराया। प्रातःकाल किले के द्वारपालों को इस भ्रम में डालकर कि यह सेना उन्हीं के पक्षधर राजपूतों की है जो संधि हो जाने के कारण विदा ले रहे हैं,[1] ये सैनिक किले के भीतर प्रवेश कर गए। भगवन्तराय पूजा कर रहे थे। वे पूजा से माला और अपनी यम की धार वाली असि लेकर उठे, इसी बीच दुर्जन-सिंह ने उनके सामने पहुँच कर उन्हें ललकारा। भगवन्तराय ने कहा, "अब मेरा अन्त समय है और तुझ ब्राह्मण पर अब क्या प्रहार करूँ ?' चौधरी ने अपने एक ही प्रहार से उनके वक्षस्थल को चीर दिया।[2] भवानीसिंह आदि जितने शूरवीर थे सब एक-एक कर काम आ गए।[3] दुर्जनसिंह अन्ततः विजयी हुआ। नवाब ने यह समाचार पाते ही अपनी विजय की सर्वत्र चिट्ठियाँ भेज दीं और स्वयं दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया।[4]

क्या भगवन्तराय छल से मारे गए ?

मुहम्मद कवि की रचना द्वारा उपर्युक्त सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के अति-रिक्त सबसे महत्वपूर्ण यह प्रश्न सामने उपस्थित होता है कि भगवन्तराय सादत खाँ के साथ लड़े गए मुख्य युद्ध के कुछ ही दिनों बाद दुर्जनसिंह के हाथों छल से

१. भगवन्तराय के युद्ध में जितनी सेना उनके साथ थी वह सब किले के भीतर नहीं आ सकती थी। किला सिर्फ ६५ बीघे के घेरे में है। फिर उसके भीतर महल और मन्दिर था। इस प्रकार वे अवश्य ही किले के बाहर डेरा डालकर या आसपास के गाँवों में फैले रहे होंगे और विदा होते समय अपने नायक से मिलने के लिए आते रहे होंगे। प्रातःकाल सम्भवतः इसी प्रकार भ्रम उत्पन्न हो जाने से दुर्जनसिंह का प्रवेश हो सका था। विदाई लेने के लिए बाहर से आते हुए स्वपक्षीय सैनिकों का कवि की रचना में संकेत है "वहाँ रुखसत के पारा हैं।"

२. इस सम्बन्ध में कई अनुश्रुतियाँ हैं। कुछ के अनुसार वे प्रयाग में सूली पर चढ़ा दिए गए थे। कुछ के अनुसार उन्हें अपने अन्त का ज्ञान हो गया था और वे जब अन्त समय में युद्ध करके ब्राह्मण-हत्या नहीं करना चाहते थे। कुछ के अनुसार वे जीवित अन्तर्धान हो गए थे। हाँ, सभी अनुश्रुतियाँ युद्धभूमि में भगवन्तराय की विजय सिद्ध करती हैं।

३. कहा जाता है कि दुर्जनसिंह के साथ हुए धोखे के इस युद्ध में भी उसे अपने ८० साथी खोने पड़े थे।

४. सआदतखाँ, भगवन्तराय एवं उनके पुत्र (वास्तव में वह भतीजा भवानीसिंह था) की खाल निकलवा कर उसमें भूसा भरवाकर तथा उन दोनों के मस्तकों को भाले में टँगवाकर वजीर कमरुद्दीनखाँ को यह भेंट देने के लिए दिल्ली प्रस्थान किया। (सियारुल० १, पृ० २७१; सा० जा० उ० ८, पृ० ३६२

मारे गये। इसके प्रमाणित हो जाने से युद्धभूमि में भगवन्तराय की विजय और तदनन्तर सादतखाँ के साथ हुई सन्धि भी मान्य हो जाती है।

सबसे पहले हम इतिहासकारों के विवरणों में इसका समाधान ढूँढेंगे। फारसी के तीन इतिहास-ग्रंथों में भगवन्तराय की मृत्यु का उल्लेख मिलता है। सियारुल मुताखरीन में उन्हें सम्रादतखाँ तथा दुर्जनसिंह के संयुक्त प्रहारों से, सादत जावेद में दुर्जनसिंह तथा तारीखे हिन्दी में सम्रादतखाँ द्वारा मारा गया बताया गया है। हमें तीनों ही स्रोतों से तीन प्रकार की बातें मिलती है परन्तु दुर्जनसिंह के ही हाथों मारे जाने के पक्ष में प्रमाण अधिक हैं। यह भी यहाँ प्रकट है कि फारसी इतिहास-लेखक अपने नायक सादतखाँ के पक्ष को अधिक उभार कर रखना चाहते है। मराठी पत्रों में भगवन्तराय की मृत्यु और उनके युद्ध का उल्लेखमात्र है। अतः उनसे कोई प्रत्यक्ष सूचना नहीं मिलती। रासा० में दुर्जनसिंह के ही साथ युद्ध करते हुए भगवन्तराय के मारे जाने का संकेत है। परन्तु जंगनामा में यह घटना बहुत ही स्पष्ट रूप से लिखी गई है। अनुश्रुतियों एवं असोथर की सामान्य मान्यताये भी जंगनामा का अनुसरण करती है। अतः जंगनामा की सत्यता सर्वाधिक पुष्ट एवं प्रामाणिक है। इसी उल्लेख के साथ जंगनामा में आये दो महत्वपूर्ण तथ्य यहाँ विचारणीय है—(१) भगवन्तराय और सादतखाँ के युद्ध में सादतखाँ का पक्ष निर्बल प्रमाणित होने के फलस्वरूप सादतखाँ द्वारा संधि-प्रस्ताव एवं (२) दुर्जनसिंह का सादतखाँ के सम्मुख उपस्थित होकर एक महीने के भीतर ही भगवन्तराय को मारने की प्रतिज्ञा।

इस प्रसंग में घटनास्थल की साक्षियो से निष्कर्प निकालने के लिये आधार मिल जाते हैं। सादतखाँ और भगवन्तराय की युद्ध-तिथि १४ अक्टूबर, १७३५ ई० है।[1] नवाब इस विजय के उपलक्ष्य में बधाई लेने के लिए २२ नवम्बर, १७३५ ई० को दिल्ली-दरबार[2] में उपस्थित हुआ। एक महीना चार दिन का समय गाजीपुर से दिल्ली के रास्ते में कैसे लग सकता

१. फ० नवा० के पृ० ४९ मे आशीर्वादीलाल ने नवाब के कोड़ा पहुँचने की तिथि ६ नवम्बर, १७३५ ई० लिखी है परन्तु इसका आधार कुछ भी नहीं लिखा। हमने रासा० की तिथि की गणना कराई है जिसके अनुसार कार्तिक शुक्ल नवमी संवत् १७९२ को १४ अक्टूबर, १७३५ ई० के दिन थी। और उस दिन मंगलवार भी पड़ता है। इस प्रकार रासा० की तिथि न मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता।

२. तुलना कीजिए—फ० नवा०, पृ० ५१

है। यही नवाव सेना के साथ २० मील प्रतिदिन के[1] हिसाव से चल सकता था अतः विना सेना के गाजीपुर से दिल्ली के मार्ग में इतना समय नहीं लग सकता था।

इस संदेह की पुष्टि उत्तर भारत में स्थित (संभवतः बाँदा जो असोथर से केवल ४०-५० मील दूर है) मराठा कर्मचारियों के पत्रों से भी होती है। पेशवा के नाम भेजे गये इन कर्मचारियों के तीन पत्रों में इस घटना का उल्लेख है। पत्रों की तिथि २३, २४ और २८ नवम्बर, १७३५ ई० है।[2] इन पत्रों के लिखे जाने की तिथियों से प्रकट है कि इनके लिखने वालों ने वड़ी तत्परता से पेशवा के निकट यह समाचार पहुँचाने का प्रयत्न किया है। साथ ही यह भी प्रकट है कि इन लोगों की दृष्टि में इस समाचार का अत्यधिक महत्व था। अतएव भगवन्तराय की मृत्यु की घटना यदि १४ अक्टूबर को ही घटित हो गई होती तो पहले पत्र को भेजने में एक माह आठ दिन का समय नहीं लग सकता था। शेष दो पत्रों का क्रम भी प्रकट करता है कि यह सूचना कितनी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण ढंग से भेजी गई है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि २२ नवम्बर के थोड़े ही पहले मराठा कर्मचारियों को यह सूचना मिली होगी। अतः भगवन्तराय को नवम्बर मास के पहले पखवारे की किसी तिथि को ही दिवंगत हुआ मानना ठीक होगा।

इस प्रकार नवाव के दिल्ली पहुँचने की[3] एवं रुस्तमअली के भगवन्तराय के गिर को देखने की तिथि[4] एवं मराठा एजेन्टों के पत्रों की तिथि को एक क्रम एवं एक साथ रखने में यही नहीं कि कोई असंगति नहीं होती वरन् एक-दूसरे की सापेक्ष्य सत्यता अधिक विश्वसनीय हो जाती है, जो यह सिद्ध करने में सहायक होती है कि भगवन्तराय १४ अक्टूबर को न मारे जाकर नवम्बर मास के पहले पखवारे की १०वीं या १२वीं तारीख के निकट कभी मारे गये होंगे। इस प्रकार मुहम्मद कवि द्वारा वताया गया दुर्जनसिंह की मोहलत का एक माह का समय भी संदिग्ध नही रहता।

यहाँ रासा० और विरुदावली० पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा। इनमें से विरुदावली में विना किसी प्रतिद्वन्द्वी का उल्लेख किये भगवन्तराय को युद्ध में दिवंगत हुआ वताया गया है। रासा में दुर्जनसिंह के साथ उनका युद्ध

---

१. तुलना कीजिये ले० मु० भाग० २, पृ० ३४२
२. पेशवा दफ़्तर—१४, पत्र संख्या ४०, ४१, ४२
३. फ० नवाव्स- पृ० ५१
४. ता० हि० इ० ८, पृ० ५२

अंतिम दृश्य के रूप में वर्णित है। विरुदावली के कवि गोपाल जैसे उनके निधन के दारुण चित्रण को यथाशक्ति शीघ्र समाप्त कर देना चाहते हैं। रासा० के कर्ता सदानन्द के लिए भी इस प्रसंग का विशद वर्णन कर सकना अधिक मनोनुकूल नहीं जान पडता। इन दोनों कवियों के इस प्रसंग के अंतिम कथन से संकेत भी मिलता है कि उनके अंतकाल को वे कितना भव्य बनाकर सामने लाना चाहते थे।

कंप्यो लोक अवलोकि सोक भय जँह तँह बज्यो
लखि चरित्र विधि हरि हर हिय अनुराग उपज्ज्यो
प्रेरित गन चलि बेगि समर अवनी महँ आयो
कहि प्रसंग कर जोरि अमिय मय बचन सुनायो
अप्सरि सुचारु चहुँदिसि चमर चारु ढरत आनंद भयो
राजाधिराज भगवंत जू चढ़ि विमान सुरपुर गयो।

—रासा०

तथा

गयो सूर सुर लोक भानुमंडल मझाइकै
मान सहित मघवांन जानि दीन्यो तेहि आसन
सज्जन सकल समेत छिनकु बैठ्यो सिंहासन
यहि भाँति जिय जानिके, कृपा कालिका कंत की
सुज्योति समानी ज्योति में राय भूप भगवंत की।

—विरुदावली०

वास्तव में इन कवियों का अभिप्रेत अपने नायक के उत्कर्ष को काव्यबद्ध करना था। एक बड़े युद्ध में अपने ही जैसे प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष वीरगति पाना अधिक सम्मानजनक एवं गौरवपूर्ण था अपेक्षाकृत इसके कि वे दुर्जनसिंह के सौ-सवासौ आदमियो से घेर कर मारे जाते हुए चित्रित किये जाते।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि रासा० और विरुदावली० के रचनाकारो के समक्ष सुखमूलक कल्पना-प्रवण रचनाओं की पृष्ठभूमि उन्हें दुखद प्रसंगों का यथातथ्य चित्रण कैसे करने देती ? अन्ततः तो उनके संस्कारों का नियमन हिन्दू संस्कृति और साहित्य की अत्यन्त प्राचीन परम्परा ही कर रही थी। इस प्रसंग में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इन शब्दों से पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा "जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओ को नहीं जाने देता जो दुख परक विरोधों को उकसावें, उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। सिद्धान्त-काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता जो

तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करें। दुखोद्रेकजनक विषम परिस्थितियों ट्रेजिक कन्ट्रेडिक्शन्स की सृष्टि करें, परन्तु वास्तव में जीवन में ऐसी बातें आयेंगी ही। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की वृद्धि से अपने को मुक्त रखा है।—हि० सा० आदिकाल०, पृ० ७१

फिर दुर्जनसिंह का कपटपूर्ण आक्रमण भी सादतखाँ के युद्ध के ही क्रम में था। इसके पीछे भी प्रेरणा तथा शक्ति सआदतखाँ की ही थी अतः इन दोनों युद्धों को एक ही साथ सम्बद्ध कर दिया जाना काव्य-शैली की दृष्टि से अस्वाभाविक नहीं क्योंकि इन दोनों रचनाओं में काव्य-रूप और काव्य-सौन्दर्य की ओर भी इनके कवियों की रुचि है जबकि 'जंगनामा' स्वच्छन्द रूप से लिखा गया जान पड़ता है। भगवंतराय और सादतखाँ के बीच हुई संधि-चर्चा का एक संकेत और है। आज से लगभग ३०-४० वर्ष पूर्व असोथर के पुराने कागजों की छानबीन और सफाई करते समय श्री दुलारेसिंह को पुराने कागज पर लिखा हुआ फारसी का मतला मिला था :

"गर सलाह सलहकुन अलहमदल्लाह
गर सलाह जंग बाशद बिस्मिल्लाह"

ये शब्द किसी संधि-चर्चा के संदर्भ में उत्तर-स्वरूप लिखे गये जान पड़ते हैं, जब भगवंतराय युद्ध और संधि के लिए समानरूप से प्रस्तुत थे। यह अंश सादतखाँ की ओर से रखे गये संधि-प्रस्ताव के उत्तर की भी ध्वनि करता है। जंगनामा से स्पष्ट है कि संधि-प्रस्ताव सादतखाँ का ही था अतः इसे उसी प्रस्ताव का उत्तर मानना ठीक प्रतीत होता है। भगवंतराय से संबंधित इस घटना के पूर्व युद्ध और संधि की ऐसी कोई घड़ी आई थी इसका इतिहास में कोई सूत्र नहीं मिलता। फिर मुहम्मद कवि ने भगवंतराय की ओर से जो उत्तर अपने काव्य में निबद्ध किया है उसका और इस मतले का भाव-साम्य भी है :

समझ भगवंत मरजीहक यही मत में विचारा है
× × ×
खुशी और गम न कुछ आना, करेगा क्या हमारा है

इन पंक्तियों को मिलाकर पढ़ने से दोनों में कोई अंतर नहीं प्रतीत होता है। शब्दावली में ही थोड़ा अन्तर है। भगवंतराय का ईश्वर-विश्वास और युद्ध होने पर उसके लिए दृढ़ता प्रकट करते हुए शान्त भाव से संधि को स्वीकार करने के विचारों को अपनी-अपनी शब्दावली में सामने लाया गया है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त अनुश्रुतियाँ भी मुहम्मद के पक्ष में हैं[१] और सबसे प्रकट सत्य तो यह है कि भगवंतराय के वंशज दुर्जनसिंह के वंशज जगनवंशियों के हाथ का पानी तक नहीं पीते। इतना ही नहीं उनके गाँवों के कुओं का भी पानी नहीं ग्रहण करते। इस कटुता की भावना की पृष्ठभूमि अवश्य ही किसी गहरे आघात पर आश्रित मानी जाएगी जो शताब्दियों बाद भी नहीं भूली जा सकी। सामने युद्ध में प्रतिपक्षी के समान रूप से सन्नद्ध होने पर इतने वैमनस्यपूर्ण भावों का जन्म नहीं हो सकता था। कानपुर और फतेहपुर जिले के कई गाँवों के बूढ़े ठाकुरों से मुझे यह घटना और यह कटुतापूर्ण अनुभूति उन्ही शब्दों में सुनने को मिली है। इन लोगों ने बताया कि वे भी जगनवंशियों के साथ तब से अब तक कोई व्यवहार या खानपान नही रखते।[२] फतेहपुर गजेटियर के परिशिष्ट में भी यही लिखा हुआ है। अतः इन सब बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भगवंतराय दुर्जनसिंह जगनवंशी के हाथों छल से ही मारे गए थे।[३]

'रासा भगवंतसिंह का' के ऐतिहासिक तथ्यों की समीक्षा

रासा० के कर्ता कवि सदानंद भी अपने नायक के समकालीन थे। भगवंतराय की मृत्यु के ठीक एक वर्ष के भीतर ही कवि ने इस रचना को लिख डाला था। यह रचना भी भगवंतराय के व्यक्तित्व व उनसे संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रामाणिक रूप से महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। कथानक का पूर्ण विस्तार नायक

१. भगवन्तराय के निधन से सम्बन्धित अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार भगवन्तराय युद्ध जीत कर पूजा कर रहे थे और इसी बीच शत्रु के पुनः आक्रमण करने की उन्हें सूचना मिली, किन्तु उन्होंने पूजा से उठने की इच्छा नहीं प्रकट की और दुश्मन के आने पर सशरीर स्वर्ग चले गये। इस प्रकार यह भी कहा जाता है कि असोथर के कुछ लोग बद्रीनाथ धाम गये थे। वहाँ उन लोगों ने कुछ दिव्य साधुओं के दर्शन किए। साधुओं ने यात्रियों से उनका निवासस्थान असोथर में सुनकर कहा कि क्या वहाँ कोई भगवन्ता रहता है। उससे तुम लोग कहना कि उसकी धूनी बुझ रही है वह आकर उसे प्रज्वलित करे। अनुश्रुति के अनुसार यह सम्वाद मिलने के थोड़े समय बाद ही भगवन्तराय स्वर्गवासी हो गये। इससे प्रकट होता है कि उनका निधन अचानक और अप्रत्याशित रूप से हुआ था। स्मरण रहे कि इस प्रकार की कथायें अक्सर श्रेष्ठ पुरुषों के साथ जोड़ ली जाती है।

२. सॉखा गाँव के मुख्तार दलीपसिंह ने अपने सामने की यह बात बताई थी।

३. इस सम्बन्ध में हमने महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह (सीतामऊ) से पत्रव्यवहार किया है। उनका मत है कि भगवन्तराय युद्धभूमि मे ही दुर्जनसिंह के हाथों मारे गये। बहुत संभव है दुर्जनसिंह ने अचानक और अप्रत्याशित आक्रमण कर दिया हो, जिसका सामना नहीं किया जा सका।

के सआदतखाँ के साथ हुए अन्तिम युद्ध में सीमित है।

विशेषरूप से इस कवि ने भगवंतराय के स्वभाव, राज्य-व्यवस्था मंत्रिमंडल, सेना के संगठन पर प्रकाश डाला है जो अन्यत्र नहीं मिलता। युद्ध की तैयारी, नायक की धार्मिकता, दानशीलता, दाम्पत्य तथा युद्ध का उत्साह इत्यादि तो इस कवि की वाणी में सजीव और साकार हो उठा है। यह सब भी बाह्य प्रमाणों से पुष्ट होता है। हम इस ग्रंथ के ऐतिहासिक तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

सादतखाँ ने नूरमुहम्मदखाँ को रसूलाबाद की मालगुजारी वसूल करने के लिए अन्तर्वेद प्रदेश में भेजा, किन्तु वह बेचारा भगवंतराय द्वारा पराजित हुआ। इस समाचार के मिलते ही नवाब अपने सेनानायक की मृत्यु का बदला चुकाने के लिए भगवंतराय की ओर लौट पड़ा। जाजमऊ[1] के पास उसने गंगा पार की जहाँ दुर्जनसिंह कोड़े का चौधरी उसकी सेवा में आकर उपस्थित हुआ। इस व्यक्ति ने भगवंतराय के विरुद्ध हर प्रकार से सहायता करने का अपना निश्चय निवेदित किया। नवाब और दुर्जनसिंह के बीच हुई बातचीत से प्रकट होता है कि भगवंतराय और दुर्जनसिंह के बीच पहले निकट संबंध थे।[2] नरवल, खजुहा के मार्ग से गाजीपुर के दक्षिण की ओर एक योजन की दूरी पर पहुँचकर नवाब ने अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया।[3] एक दूत को भेजकर नवाब ने भगवंतराय से संधि का प्रस्ताव रखा जिसे भगवंतराय ने मंत्रियों की राय लेकर अमान्य कर दिया।[4] मंत्रियों ने बताया कि यह नवाब विश्वसनीय नहीं है तुम्हें कैद करके मार डालेगा। उसके भूतकाल के व्यवहार के कुछ कपटी उदाहरण "सचेड़ी तथा पट्यो ग्राम की घटनाएँ" उसे बताए गए।[5]

पत्नी ने भगवंतराय को इस अवसर पर युद्ध को टाल देने की राय दी। उन्होंने

---

१. जंगनामा के अनुसार नवाब की सेना ने बिठूर में गंगा पार किया था।

२. सा० जा० इ०-८, पृ० ३४२ में दुर्जनसिंह को भगवन्तराय का निकट सम्बन्धी लिखा है पर वह ब्राह्मण था इसलिए सम्बन्ध की बात शायद मित्रता के कारण इतिहास-लेखक ने कल्पित कर ली होगी। सादतखाँ और दुर्जनसिंह की बातचीत (रासा०) के अनुसार भी दोनों की पूर्व मित्रता का परिचय मिलता है।

३. युद्धभूमि और मुड़चौरा के देखने से रासा० को यह सूचना भी ठीक प्रतीत होती है।

४. सियारुल०, पृ० २७१ में भी एक समझौते की वार्ता का संकेत है।

५. सचेड़ी को नवाब ने छल से चन्देलों से लिया था। फ० नवाब्स० पृ० ४५ सम्भव है पट्योग्राम को भी इसी प्रकार जीता हो।

कहा कि सम्प्रति हमें बुंदेलखंड प्रदेश में जाकर समय काटना चाहिए तथा अनुकूल अवसर आते ही पुनः अपने इस प्रदेश में लौट आना चाहिए।[1] परन्तु भगवंतराय ने युद्ध को ही अपने लिए अधिक श्रेयस्कर बताया।

युद्धभूमि में उनकी सुदृढ़ और नियंत्रित सेना ने प्रस्थान किया। उसे देखते ही शत्रुओं के होश कबूतर से उड़ने लगे। सामने शस्त्रों की मार की दूरी पर पहुँचते ही उन्होंने प्रबल वेग से आक्रमण कर दिया।[2]

सादतखाँ हाथी पर सवार था और हाथियों का व्यूह उसे घेर कर उसकी रक्षा कर रहा था।

> **सादति खाँ कुंभी चढ़ो मुंडा हौदा सोइ**
> **दूजे बारन एलची पीछे कुंजर दोइ**
> **करी चारि की गोल तहँ आगे बान निसान**
> **पुनि पचास पदतीत है, नेजा बीस प्रमान—रासा०**

भगवंतराय का आक्रमण सीधे इसी व्यूह पर हुआ। भीषण आक्रमण के कारण नवाब स्वयं सुरक्षित स्थान को चला गया तथा उसके स्थान पर अबूतुराबखाँ ने सामना किया। तुराबखाँ को स्वर्ग सिधारना पड़ा। वह भगवंतराय के बर्छे का प्रहार न झेल सका। तेजसिंह नामक वीर ने आकर भगवंतराय के वेग को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु उसका भी जीवन-घट भर चुका था।

भगवंतराय के पक्षधर सामन्तों में कवि ने भवानीसिंह, मर्दनसिंह, नौलसिंह, दलसिंह के नाम गिनाए हैं। नवाब के पक्ष में तुराबखाँ, दुर्जनसिंह, तेजसिंह, अलीखाँ, दीनमुहम्मद, नूरमुहम्मद, मीरमुहम्मद, मुहम्मदखाँ तथा शेरअली के।

दुर्जनसिंह से भगवंतराय का युद्ध और उसी के हाथों भगवंतराय का अंत[4] युद्ध

---

१. वजीर कमरुद्दीन के आक्रमण के समय भगवन्तराय का बुन्देलखण्ड में अपनी रक्षा के लिए पलायन करने के प्रमाण के आधार पर यह कथन अत्यन्त स्वाभाविक एवं सत्य प्रतीत होता है।

२. भगवन्तराय की सेना ने नवाब पर बड़े प्रबल वेग से आक्रमण किया इसे सभी स्वीकार करते हैं। जंगनामा के अतिरिक्त किसी अज्ञात कवि की ये पंक्तियाँ दर्शनीय हैं :

> दृगन ते पग आगे, पगन ते मन आगे
> मन, दृग, पगन में होड़ सी है ह्वै रही

३. सियारुल० १, पृ० २७१

४. दुर्जनसिंह के ही हाथों लगभग सभी ने भगवन्तराय का अन्त माना है किन्तु जैसा कि पिछले पृष्ठों में लिखा गया है वे इस युद्ध में या अचानक आक्रमण में उनके द्वारा मारे गये थे।

की तिथि :

सित नौमी संग्राम भो कातिक मंगलवार
(मंगलवार कार्तिक शु० ९, अक्टूबर १४, १७३५ ई०)

'भगवंत विरुदावली' के ऐतिहासिक तथ्यों की समीक्षा

कवि गोपाल की रचना भगवंतराय खीची की विरुदावली नायक भगवंतराय के निधन के निकट बाद ही लिखी गई प्रतीत होती है। रचना की वर्णन-शैली मे नायक के प्रति कवि के कथन आदि पर विचार करने पर यह धारणा पुष्ट हो जाती है। कवि-हृदय से नायक के लिए व्यक्त होने वाली भाव-विह्वलता भी नायक और कवि का अत्यंत निकट का संबंध जताती है। इस कवि ने भी भगवंतराय के अंतिम युद्ध का ही लेखा उपस्थित किया है, फिर भी उनके कुछ पिछले युद्धों की झाँकी प्रस्तावना में दे देता है जिससे अन्यत्र प्राप्त विवरणों को पुष्ट करने में उनसे सहायता मिल जाती है। खासकर रासा और जंगनामा की ऐतिहासिक परीक्षा में इसकी सहायता असंदिग्ध है। रासा और जंगनामा की ऐतिहासिक परीक्षा में यथा-स्थान इनसे सहायता ली भी गई है। परन्तु यह कवि कुछ और पहले की घटनाएँ, सन् १७२२ की होंगी, उनका भी संकेत करता है। यह कथन इस उदाहरण— "जिन सेर अफगन खान को दल हन्यो बरछिन सों भलो"[1] से पुष्ट होता है। इसके अतिरिक्त नायक के प्रति सामान्यतः लोगों की क्या धारणा थी यह तथ्य भी इस कवि द्वारा विशेष रूप से सामने आता है। जैसे :

'जिन सत्तयुग की रीति कीन्ही सकल जम्बूदीप में
× × ×
गुन करन अर्जुन भीम के भगवन्तराय महीप में'

भगवंतराय के प्रति यदि ऐसी धारणा व्यक्त है तो उसे मात्र कवि की उड़ान कहकर नहीं उड़ाया जा सकता है। भूधर[2] इत्यादि कवियों द्वारा उनकी मृत्यु पर लिखी गई शोक-रचनाओं में इसी प्रकार के भाव प्रकट होते हैं। अनुश्रुतियाँ

---

१. अब्दुल नबी की सेना पर रात्रि के समय कुछ सैनिकों ने तीव्र प्रहार किया। शेर अफगन घटनास्थल पर पहुँच कर भारी क्षति उठाकर उनकी रक्षा कर सका।

लेटर मु० भाग -२, पृ० ११

२. 'पारथ समान कीन्हों भारत में आनबान सिर क्ना बान्ध्यौ है सत्र सपूती को'

तथा

'छूटे मान मिजाज के जूझे भगवन्तराय, अरराय टूट्यो कुलखंभ हिन्दुवाने को'

भी उन्हें इसी प्रकार का गौरव प्रदान करती हैं।[१] फिर यह रचना उन्हें तुष्ट करने के लिए नहीं वरन् अपने श्रद्धावनत हृदय के आत्म-निवेदन के रूप में अवतरित हुई है।

सामान्यतः इस कृति द्वारा निम्न ऐतिहासिक सूचनाएँ मिलती है :

राजा हरिकेश के पुत्र भगवंतराय जितने युद्ध-वीर थे, उतने ही धर्म-वीर भी।[२] उन्होंने सत्ययुगी शासन-व्यवस्था[३] करके गौ-ब्राह्मण की रक्षा की तथा अपने जीवन-काल में २२ युद्ध लड़े।[४] इनमें से कुछ प्रमुख युद्धों के प्रतिद्वन्द्वी, शेर अफगनखाँ, जाँनिसारखाँ, वजीर, ख्वाजामीर, आदि थे।[५]

भगवंतराय अपने क्षेत्र के राजपूतों के समर्थ संगठनकर्ता थे। उनके झंडे के नीचे एकत्र होकर उनके अंतिम युद्ध में राजपूतों की तेरह उपजातियों ने साथ दिया था।[६]

सादतखाँ के समक्ष युद्ध में प्रस्थान करते समय भगवंतराय ने प्रतिज्ञा की कि या तो मैं नवाब को जीतूँगा या स्वयं अपने मस्तक को खंडित करूँगा।[७] युद्ध-भूमि में वे लड़े भी अद्भुत विक्रम से। नवाब की सेना विचलित हो गई तथा स्वयं नवाब को भी पीठ दिखानी पड़ी।[८] विरोधी पक्ष के कई सामन्तों को उन्होंने स्वर्ग के दूतों

---

१. इसी अध्याय में जगनामा की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय टिप्पणी में जो अनुश्रुतियाँ दी गई हैं, उनसे प्रकट होता है कि लोक ने उन्हें अवतारी पुरुष के रूप में ग्रहण किया था। स्वयं मुहम्मद के भी वचन हैं—"चमुण्डा जा बयाँ करती, उतर अवतार धारा है।"

२. रासा०

३. रासा०

४. श्री भगीरथ दीक्षित ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ६, अंक ३ में इनको ४८ युद्धों का नायक बताया गया है परन्तु विरुदावली० की एक हस्तलिखित प्रति में पृष्ठ के पार्श्व में टिप्पणी है "बाइस समर भये गोपाल, इतनै भाखत दीनदयाल" लिखा हुआ हमें मिला है।

५. इन सभी नामों की प्रामाणिकता इतिहास से हो जाती है। पिछले पृष्ठों में इनका उल्लेख हो चुका है।

६. जगनामा में आये विरोधी राजपूतों की जातियों के सापेक्ष्य में इनकी विश्वसनीयता प्रमाणित है।

७. युद्ध में विजय का दृढ़ संकल्प और साहस की अटिगता इसमें प्रकट होती है। रासा० में भी इसकी ध्वनि मिल जाती है।

८. सरम दिल्ली की न कीन्ही, समर सन्मुख पीठ दीन्ही...विरुदावली तथा हाथी हाथा हाथी से सहादत उतरिगो—अज्ञात

को सौंप दिया। कवि के अनुसार उनके नाम, तुराबखाँ, बावन हजारी[1] मुहम्मद खाँ तथा खानअहमद हैं।

भगवन्तराय के पक्ष में उनके भतीजे भवानीसिंह की वीरता की इस कवि ने भी अन्य कवियों की भाँति सबसे अधिक प्रशंसा की है। इस कवि द्वारा उनका वीर रूप बड़ी ही समर्थ रेखाओं व रंगों में उभार कर ऊपर लाया गया है। कवि ने युद्ध के बीच थोड़े से बचे हुए साथी राजपूतों के साथ भगवन्तराय को दिवंगत हुआ बताया है।

शंभुनाथ मिश्र तथा अन्य स्फुट रचनाकारों की रचनाओं के कुछ ऐतिहासिक तथ्य

कवि शंभुनाथ मिश्र की भगवन्तराय से सम्बन्धित रचनाएँ यद्यपि प्रकीर्ण रूप से ही प्राप्त है, फिर भी उनका महत्व बहुत अधिक है। वर्णनात्मक शैली में लिखी गई कविताओं के लगभग समकक्ष ही इनका भी ऐतिहासिक महत्व सिद्ध होता है। इन रचनाओं से स्पष्ट होता है कि "भगवन्तराय यश वर्णन" नामक इनकी रचना भी अन्य वर्णनात्मक रचनाओं के समान रही होगी। यह भी संभव है कि इस समय प्राप्त इनके फुटकर छंद अधिकांश में उसी कृति के कलेवर से निकले हों। इतिहास से समन्वय स्थापित करने पर इन फुटकर छंदों की ऐतिहासिकता निर्भ्रान्त हो जाती है। इतना अवश्य है कि इतिहास की उक्ति में इन्होंने काव्यात्मकता भी उभारी है। तात्पर्य यह कि इतिहास की सीधी-सादी शब्दावली के स्थान पर इन्होंने व्यंजनात्मक शब्दावली एवं वाक्यावली का प्रयोग किया है।

"भय के अजीरन ते जीरन उजीर भए"[2]

तथा

"स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के"[3]

---

१. बावन हजारी के गिरने का उल्लेख शंभुनाथ ने भी किया है :

"बावन हजारी ने अजागी मे महमि गिरे
धौंसा की धमक धूंग परी मुँहमाही है"

२. बिरुदावली में भी लिखा है "जिन बम्बदे सन्मुख समर मे हटक दियो उजीर को" परन्तु मराठा पत्रों और फ़ारसी इतिहासकारों के अनुसार बरसात मे इतनी विशाल सेना के साथ बुंदेलखंड में इनका पीछा कर सकना वजीर के लिए सम्भव न था। अतः वजीर को लौटना पडा।

३. 'स्याही लाई' मुहावरा है। कलंकित करना, कालिख पोतना। भगवन्तराय के उत्कर्ष से इतिहासकारों के अनुसार भी दिल्ली के सिंहासन में कालिख लग गयी थी। बाद

(क्रमशः)

इसी प्रकार :

दतिया को राउ रामचन्द्र जब खेत आयो
दिल्ली वाले दलन को दिया सो बुझाइगो"[1]

तथा

भगवंत नाहर के पंजा से निकसि शंभु
सहमे सहादत चले न छल छंद है"
बोलत न डोलत न खोलत पलक जैसे
सिंह के ससेटे दबि रहत गयंद है"[2]

अन्तर्वेद मे फैले हुए भगवन्तराय के विरोधी दल में जिन जातियों के लोग थे, उनकी भी कवि ने चर्चा की है।

"मुगल पठानन चन्देलन बुन्देलन को
फैल्यो दल मानो प्रलैको वारापार है।"[3]

इसी प्रकार जितने भी स्फुट छंद प्राप्त है उनके लोकप्रिय होने तथा अविस्मृत होने का एक प्रमुख कारण उनमें निहित ऐतिहासिकता है जिनमे से अधिकांश का उपयोग हमने यथावसर अन्यत्र प्राप्त विवरण की पुष्टि के लिए किया है। अतः बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से वे स्वयं भी ऐतिहासिक सत्य के सवहन करने के लिए प्रमाणित हो गई है, इसे हमने अध्याय के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। इतना हम अवश्य कहना चाहते है कि इन प्रकीर्ण रचनाओं मे कुछ तो भगवन्तराय के इतिहास के जिज्ञासु पाठक के लिए अन्यतम है। जैसे भूधर ने अपने केवल दो कवित्तों में ही भगवन्तराय के व्यक्तित्व को समेट कर खड़ा कर दिया है।

●

बादशाह मुहम्मदशाह का दक्षिण से वजीर को भगवन्तराय के दमन के लिए यह लिख कर बुलाया 'इस समय पानी हराम हो गया है एवं शराब जायज है'—ले० मु० भाग २ पृ० २७७ तथा सा० जा० ३०-८, पृ० २४१ में वजीर का सादतखाँ के लिए लिखा गया पत्र इसको प्रमाणित करता है।

१. मीरातुल० पृ० १७१ अ

२. रासात, विरुदावली०, जगनामा तथा सियारुल पृ० २७०

३. तुलना कीजिये सा० जा० ३०—८ पृ,०२४२, पेशवा दफ्तर० भाग १४, पत्र-संख्या ६ तथा जंगनामा से यह जाति-परिगणना ठीक ठहरती है।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

भगवंतराय खीची ने राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। यद्यपि वे अत्यन्त निर्धन परिवार में जन्मे थे पर उन्होंने आस-पास की शक्तियों का संगठन कर उनमें स्वतन्त्रता की भावना का बीजारोपण किया और देश के तत्कालीन अनीतिपूर्ण मुस्लिम शासन के विरोध में उन्हें अपने नेतृत्व में नियोजित किया। उन्होंने जनता के बीच से आये अपने सहयोगियों में आत्म-विश्वास जगाने के लिए अपने प्रदेश की गौरवशाली परम्परा का उन्हें बोध कराया। 'मध्य देशीयता' की भावना का संचार सम्भवतः इसीलिए उनके समय में व्यापक रूप से हुआ।

अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण इन्हें जनता की सहज आस्था भी सरलता से मिल गई। इनके कार्य-क्षेत्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अत्यन्त सम्पन्न थी ही नायकत्व के उपयुक्त गुणों से परिपूर्ण होने तथा विधर्मी शासन से मुक्ति दिलाने के लिए संघर्षशील रहने से इन्हें सहयोगियों की पूर्ण निष्ठा और उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ।

देश में वह युग राजनीतिक जागृति का था और अन्तर्वेद की भूमि में उस जागृति को पल्लवित तथा उसकी जड़ें मजबूत करने में इनका सर्वप्रमुख हाथ रहा। इनके अनुयायियों की इन पर अटूट श्रद्धा थी। तभी उस कट्टर युग में भी मुसलमान स्त्रियों का हिन्दुओं द्वारा पाणिग्रहण इनके अनुमोदन के कारण हिन्दू समाज में समादृत हुआ।

शासन से प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो इन्होंने कोड़ा जहानाबाद के फौजदार जाँनिसारखाँ के हरम की बेगमों और लड़कियों की शादियाँ अपने कुटुम्बियों व अपने सम्बन्धियों से कराई। दूसरी ओर दिल्ली की शक्ति को तोड़ने के लिए निरन्तर संघर्ष मोल लेते रहे।

वे एक कुशल सेनानायक थे। अपने राज्य में किसी बड़े दुर्ग के न होते हुए भी अन्तर्वेद की समतल भूमि में अपनी सैनिक योग्यता के कारण ही दुर्दमनीय बने रहे। समतल मैदान और मुकाबले की लड़ाई में मुगलों को सेनाओं पर अपेक्षाकृत

अल्पसंख्यक सेनाओं से जैसा आतंक इन्होंने जमाया था वह इतिहास का एक असाधारण प्रसंग है।

हिन्दू राज्य की भावना से प्रेरित होकर मुगलों से विरोध करने के कारण उनका स्थान मध्यकाल के इतिहास में राणा सांगा, महाराणा प्रताप, शिवाजी और छत्रसाल की परम्परा में आता है।

भगवंतराय खीची की काव्य-प्रतिभा उच्चकोटि की थी। उनके काव्य का मुख्य विषय भक्ति और शृंगार है। भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही शैलियों में मिलती हैं। तुलसी की ही भाँति वे सभी देवताओं को मस्तक झुकाते थे तथा उनके भी इष्टदेव भगवान राम थे। राम और कृष्ण दोनों ही के प्रति आत्म-निवेदन होने से 'वैधी' और 'रागानुगा' दोनों ही प्रकार की भक्ति में इनके हृदय की आत्माभिव्यक्ति हुई है। इनकी भक्ति का प्रमुख संचारी-भाव उत्साह होने से भक्ति वीर रस का विषय बन गयी है। स्तोत्र, नख-शिख तथा विरुद आदि प्रचलित शैलियों को इन्होंने अपने भक्त हृदय की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम बनाया है।

मूलप्रकृति वीर होने के कारण इनके शृंगार की सबसे बड़ी विशेषता भूषण की भाँति वीर-बिम्ब-विधानों को प्रस्तुत करने में है। रीतिकाल की शृंगारी परम्परा को अपनाकर भी इन्होंने मर्यादा का पालन बड़े कौशल से किया है।

भाषा में स्थानीय प्रयोगों से इनकी भाषा मिश्रित हो गई है। मिश्रित भाषा की परम्परा हिन्दी में बहुत पुरानी है। कुछ शब्दों के रूप भी व्याकरण की दृष्टि से नियंत्रित नहीं हैं पर यह उनकी संगीतज्ञता के कारण है। शब्दालंकारों की योजना में उनकी भाषा अत्यधिक कर्णप्रिय और संगीत-मधुर हो गई है।

महाकवि तुलसीदास का प्रभाव भगवंतराय के मानसिक गठन पर सबसे अधिक था। सेनापति के भी वे निकट हैं। उन्होंने विभिन्न शैलियों की रचनाएँ लिखकर काव्य-क्षेत्र की विशिष्ट प्रतिभाओं से होड़-सी की है। उनकी तुलना भूषण और सेनापति से की जा सकती है।

भगवंतराय का व्यक्तित्व अत्यन्त उदार था। अपने समय के अनेक महाकवियों को उन्होंने संरक्षण प्रदान किया। ये सारे कवि हृदय से अपने संरक्षक के प्रति श्रद्धावनत थे। इसी के फलस्वरूप उनके निधन के पश्चात् शोकोद्‌गार के रूप में जितना साहित्य उनके नाम पर लिखा गया, उतना हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में किसी अन्य ऐतिहासिक व्यक्ति के लिए इतने स्वाभाविक उद्रेक में लिखा हुआ नहीं मिलता।

जंगनामा, रासा, विरुदावली, यश-वर्णन और मुक्तक आदि हिन्दी और फारसी की प्रायः सभी शैलियों में उनका चरित्र गाया गया है। इससे उनकी

साहित्यिक उदाराशयता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। उन्होंने कवियों को कभी अपने प्रशस्तिगान के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। उनके सम्बन्ध में लिखा गया अधिकांश साहित्य शोकोद्गार रूप या उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने की भावना से ही प्रणीत हुआ है। मुँह देखी प्रशस्तियाँ कम हैं।

जनता के हृदय में उनके इस व्यक्तित्व के प्रति अगाध श्रद्धा थी जो आज भी उनके नाम पर चली आती अनुश्रुतियों के माध्यम से जानी जा सकती है। वास्तव में यह गौरव उन्हें अपने लोक-संग्रही व्यक्तित्व के कारण ही मिला है। वे एक कुशल राजनीतिक—सामाजिक नेता, योद्धा, कवि, संगीतज्ञ और साहित्य-संरक्षक के रूप में अपनी कीर्ति छोड़ गये हैं।

(७)

काश्यप कुल और इटावा नगर में महाकवि देव का जन्म हुआ था। वे संवत् १७३९ तक इटावा में ही रहते रहे। उनके देश-भ्रमण और उनके अनुभव के फलस्वरूप जातिविलास का नायिका-भेद लिखने की बात प्रमाणित नहीं होती। भगवंतराय और देव के सम्बन्ध घनिष्ठ थे। उनके यहाँ रहते समय उन्होंने काव्य-साधना के अतिरिक्त संगीत-साधना भी की और आश्रयदाता की आस्था से प्रभावित होकर राम-भक्ति की ओर भी अपनी प्रवृत्ति मोड़ी। सम्भवतः भगवन्तराय के यहाँ से वे आपसी मन-मुटाव के कारण हटे थे। "जयसिंह विनोद" नामक रचना उन्होंने इन्हीं के आश्रय में रहकर लिखी थी।

सुखदेव नाम के कई कवियों से सम्बन्धित जानकारी उलझी हुई और विवादपूर्ण है। इस नाम के वास्तव में तीन कवि हो गये हैं। एक कंपिला के निवासी सुखदेव थे जिन्होंने राजसिंह गौर द्वारा दी गयी 'कविराज' उपाधि का बहुत व्यवहार किया है। 'वृत्त विचार' और 'फाजिलअली प्रकाश' दो रचनाएँ इन्हीं की हैं। इन रचनाओं का समय संवत् १७२८ से १७३५ के आस-पास था। दूसरे सुखदेव कोई पंडित साधु प्रतीत होते हैं, जिनकी 'अध्यात्म प्रकाश' और 'ज्ञान-प्रकाश' नामक रचनाएँ मिलती हैं। उनका रचना-काल संवत् १७५५ के आस-पास था।

भगवंतराय के सम्पर्क में आने वाले सुखदेव उपर्युक्त दोनों सुखदेवों से भिन्न थे। उनके वंशज दौलतपुर जिला रायबरेली में अब भी रहते हैं। उन्होंने डौंड़िया खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहकर 'मर्दन रसार्णव' तथा 'रस-दीपक' नामक ग्रन्थों की रचना की। अमेठी के हिम्मतसिंह के यहाँ लिखा गया पिंगल-ग्रन्थ भी उन्हीं का है। उनका व्यक्तित्व बड़ा समादृत था। कई प्रसिद्ध कवि उनके शिष्य हुए हैं तथा उनके विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं।

'भूधर' नाम के भी एक ही समय में तीन कवि हो गये है। एक भूधर जो आगरा के निवासी थे, जैन थे। दूसरे भूधर जौनपुर जिले के शाहगंज कस्बे के निवासी और संयोग से यह भी जैन थे। भगवंतराय के यहाँ रहने वाले भूधर इन दोनों से अधिक प्रतिभा-सम्पन्न थे। इनका एक छोटा सा ग्रन्थ 'ध्यान बत्तीसी' अभी हाल में मिला है। नेवाज नाम के चार कवियों का उल्लेख मिलता है। इनमें एक आजमशाह के साथ रहे दूसरे छत्रसाल के यहाँ तीसरे भगवंतराय के यहाँ और चौथे ने 'अखरावती' की रचना की। सम्भवतः भगवंतराय और छत्रसाल के सम्पर्क मे आये नेवाज एक ही व्यक्ति थे। यदि उन्होंने ही साधु होकर बाद में अखरावती भी लिख डाली हो तो कोई आश्चर्य नही।

सदानन्द नाम के दो समकालीन कवि हुए है। एक का असली नाम हुसेनअली था जिन्होने सदानन्द उपनाम से 'पुहपावती', 'प्रेमाख्यानक' काव्य की रचना की है। भगवंतराय के यहाँ रहने वाले सदानन्द इनसे भिन्न थे। ये भगवंतराय के यहाँ से उनके न रहने पर गोण्डा चले गये थे जहाँ जैमिनी पुराण की रचना की।

'शंभु और नाथ' नाम के यद्यपि कई कवि हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है पर भगवंतराय के यहाँ रहने वाले शभुनाथ मिश्र उन सबसे पृथक है। ये सुखदेव मिश्र के शिष्य थे।

भगवंतराय के यहाँ रहने वाले श्यामलाल कवि की रचनाएँ नहीं मिलती पर उनके भगवतराय के सम्पर्क में आने के कई वहि:साक्ष्य है।

उदयनाथ, गोपाल, मुहम्मद, चतुरेश, मल्ल, कंठ, हेम, सारंग आदि कवि भी भगवंतराय के सम्पर्क में रहे। इन कवियों की उपलब्ध रचनाएँ ही इसका प्रमाण है।

भगवंतराय के सम्पर्क में आने वाले कवियों की काव्य-चेतना अत्यन्त जागरूक थी। उन कवियो की पिंगल, रस, नायिका-भेद, अलंकार आदि प्रचलित विपयों की रचनाएँ इस तथ्य को प्रकट करती है। इन्हीं प्रतिभा-सम्पन्न लोगों ने भगवंतराय का धवल-यश गाया है। वीर रसपूर्ण इन कवियों की रचनाओं में नायक के उत्कर्प-मय अन्तिम कुछ वर्पो का वृत्तान्त है। इन सभी में शैली और विपय-चित्रण की विलक्षणता वर्ण्यचित्र मे पूर्णता लाने में सहायक होती है।

हिन्दी मे विनोद कोई काव्य रूप की दृष्टि से नही लिखे गये। विनोद शीर्षक ग्रन्थ शुद्ध शृंगारी अर्थ के नैकट्य मे ही प्रचलित हुए है। अपने ग्रन्थों के नामकरण मे विनोद शब्द का प्रयोग करते समय कवियों ने विशेप रूप से इस शब्द के व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ की ओर ही ध्यान दिया है। देव का भी आशय इससे भिन्न नही है। प्रौढ़ावरण की रचना होने के कारण उसका भाव-पक्ष अत्यन्त समृद्ध है। देव

प्रतिभा का इसमें पूर्ण विकास और समर्थ प्रतिनिधित्व है।

जंगनामा युद्ध-वर्णन-प्रधान काव्य-ग्रन्थ है। इसका स्वरूप बड़ा ही घुला-मिला है। प्रधानतया उर्दू की मर्सिया गीति-शैली, यत्किंचित चरित-काव्यों की वर्णनात्मकता को हिन्दी छन्द और लोक-काव्य की चेतना लेकर इसका कलेवर विकसित हुआ है। सम्पूर्ण रूप से यह भाव-प्रधान श्रेष्ठ वीर गीति हैं। तत्कालीन ग्रामीण मुस्लिम समाज में हिन्दुओं के घुले-मिले संस्कारों का इस रचना की पृष्ठभूमि में बड़ा ही स्पष्ट संकेत मिलता है। इस रचना की काव्यात्मकता भी भी लोक-काव्यों की स्वाभाविकता और उर्दू की सजीवता से सम्बन्धित है। छंद और भाषा की न्यूनतायें होते हुए भी इसका भावपक्ष अत्यन्त सबल और सुगठित है।

विरुदावली एक वीर गीति-रचना है। इसका रूप वैष्णवाचार्यो के विरुद्ध लक्षणों के अनुरूप न होकर प्रचलित परम्परा से ही गृहीत हुआ है। पद्माकर की हिम्मतबहादुर विरुदावली की अपेक्षा यह अधिक स्पष्ट और स्वाभाविक शैली में है। इसका काव्य सरल और अकृत्रिम है।

रासा एक परिमार्जित रचना है। कवि की सुरुचि और उसके प्रबन्ध-कौशल से यह एक सुन्दर खण्ड-काव्य बन गया है। विस्तार को बचाकर थोड़े में ही कह गुजरने की कला के कारण इसकी अन्य रासा ग्रन्थों से विशेषता है। इसका कवित्व संतुलित और कौशलपूर्ण है।

प्रकीर्ण मुक्तक रचनायें स्वाभाविक उद्रेक के कारण अत्यन्त उच्चकोटि की और प्रभावशाली बन पड़ी हैं। तत्कालीन समाज की वीर-पूजा-भावना और उसकी विचारधारा का इनके माध्यम से प्रकाशन होता है।

जयसिंह विनोद रीतिकाल के एक प्रतिनिधि कवि की प्रतिनिधि रचना है इस-लिए उसमें रीतिकालीन काव्य-वैभव का बड़ा ही समर्थ प्रतिनिधित्व मिल जाता है। परन्तु आलोच्य वीररस की रचनायें अपनी प्रकृत-प्रेरणा के फलस्वरूप अपने युग के ऐसे ही साहित्य से जहाँ अधिक मार्मिक और भावप्रवण बन सकी है वहीं उनकी इतिहास की दृष्टि से फारसी के तथाकथित इतिहासकारों की सामग्री की सत्यता पर आलोच्य वीररस की रचनाओं के कारण प्रश्न-चिह्न लग जाता है। इतना ही नहीं स्वयं उन्हीं को एक साथ रखने तथा परीक्षा करने पर उनके अंत-विरोधों को स्पष्ट देखा जा सकता है। अतः इतिहास की दृष्टि से जब इनकी परीक्षा अन्य उपलब्ध साक्ष्यों से की जाती है तब इनका पक्षपात स्पष्ट हो जाता है। इस

दृष्टि से कवियो का काव्य अधिक इतिहासपरक मिलता है। अतएव भगवन्तराय के मण्डल की रचनायें तत्कालीन इतिहास को समझने मे बहुत अधिक सहायक सिद्ध होती हैं। फारसी इतिहासकारो की अपेक्षा इतिहास के सत्य का निर्वाह इन कवियों ने अधिक ईमानदारी से किया है।

परिशिष्ट—१

खोज-रिपोर्ट सन् १९२३-२५ में भगवन्तराय की रचनायें

१

सुवरन गिरि सो, सरीर प्रभा सोनित सो
तामें झलझलै रंग बाल दिवाकर को (सरोज०)
दनुज सघन वन दहन कृसानु महा
ओज सो विराजमान अवतार हर को
भनै भगवन्त पिंगलोचन ललित सोहै
कृपा कोर हेर्‌यो विरुदैत उचै कर को
पवन को पूत, कवि-कुल पुरहूत सदा
समर सपूत वंदौं दूत रघुबर को

नैन बरनन

२

सील भरे सुखद सनेह भरे सोभियत
जगत उज्यारे प्यारे जानकी के कंता के
कृपा भरे त्रपा भरे, निकट निकाई भरे
रक्षा भरे सांत रस मंडली के रंता के
भनै भगवन्त रीझ खीझ भरे, भारे
रन रोस तेज भरे खरे रथ अंता के
लक्ष-लक्ष विघन जे तच्छन विडारिबे को
वंदौ पिंगलोचन जे रक्ष अक्ष अंता के

३

कृपा की कटाक्ष ही ते कामतरु कामना को,
बढ़त विभूति विधि, विविधि विधान के
क्रुद्ध के कटाक्ष ही ते दुष्ट जरि छार होत,
लंका में अतंक होत दिग्गज दिसान के
भनै भगवन्त टंका जिनको लंगूर दीह
प्रभु सो सदाई प्रेम पूरन प्रमान के

ज्योति के विरोचन, दुसह दुख मोचन ते
बंदौं पिंगलोचन हठीले हनुमान के

४

सुजन समाज को प्रगट प्रफुल्लित कै
भूमित मरुत चारु केसरी सुतत है
तारापति परम प्रसन्न रहै जासों सदा
कुमुद सुखेन हरि रिच्छ हिमवन्त है
भनै भगवन्त सीता रामहि भजत नीके
समर सहाई उग्र ओजस अनन्त है
मानगढ भंजिबे को महा बालबी को बाल
आयो हनुमान जैसे आवत बसंत है।

५

बज्रतन बज्रधर हू को सो सहायक है,
बज्रधर जेता को जितैया मजबूत है
सुमन सुमित्रा को जियायो त्यागो गिरि गीह
सीता को मिटायो सोक अद्भुत दूत है
भनै भगवन्त भीति भंजन विभीषन की
कपिकुल राज राज रंजन सपूत है
अज्ञा करि प्रभु को, अवज्ञा करि बैरिन को
जनकी प्रतिज्ञा को, पलैया पौन पूत है

६

उदधि उलंघन को लंका को जरैया राज
रावन सो लरिगे, लरैया महारन को
भनै भगवन्त कपि केसरी कुमार तू
उदार ऐंड़दार सरदार कपिगन को
कैसी भई तोहि तो हठीले हनुमान वीर,
पन को पलैया तैं जनैया जन-मन को
त्राता हरिदासन को, त्राता सरनागत को,
प्रभु-गुन-ज्ञाता प्राण-दाता लछिमन को

७

राम दल बादल को इन्द्रधनु राजैं कैंधौं
फहरैं फतूह यों निसान बड़े सान के
कै अपार पारावार, नापिवे को दंड कैंधौं
कै अखंड कालदंड घो घमसान को
× × ×
जनन पैं अनुकूल सुखन को मूल, भव
सूल हर ललित लंगूर हनुमान को

८

लहरति ललित वोंकलान सों कलित
निंदरत सोभा स्वच्छ सुवरन सूत को
चूम्यो पुनमान पुरचन पायन सों प्यार करि
देखे द्रुम मालिका सिहात पुरहूत को।
× × ×
भनैं भगवन्त कहा ओज को जुगति जोति
भान मान कैंसो प्रभु पदनेह सूत को

हनुमत पचासा का विषय

छंद १—३ : हनुमान के शरीर का वर्णन, नेत्रों का वर्णन और उनका प्रभाव, तेज आदि का कथन।

छंद ४—७ : नजर, जीभ, दाँत और ठोड़ी का वर्णन।

छंद ८—१२ : छाती, बाहु, पंजा और नख का वर्णन।

छंद १३—१६ : कंधा, लांगूल का प्रभाव व तीक्ष्णता, बंदी और विरद वर्णन, पैज व दीनरक्षण कथन।

छंद १७—२४ : सिंधु, लंघन के छंद, सिंधु में भेंट, लंकिनी से भेंट, व मुष्टिका मारना।

छन्द २५-३१ : लंकपुर प्रवेश. दशकंठ के महल मे जाना, विभीषण से भेंट व सीता का पता लगाना, सीता से भेंट का विचार का वर्णन, अंगुली की अँगूठी देना।

छन्द ३२-४१ : सीता की आज्ञा से फल फूल खाना, राक्षसों का रोकना व युद्ध का होना, राक्षसों का मारना, क्रोध वर्णन। हनुमान का पकड़ा

लखनऊ के कवि द्विज विमलेशजी के संग्रह में प्राप्त

सुन्दरकाण्ड

(लंकादहन) भगवन्त कवि

११

झूलने झूलत झडूले छोड़ि भागि चलीं
गोदन के डारि दीन्हे गरभ ससंक में
कढ़ परद्वारे रोवती हैं पिछवारे
अग्निदाह की मुपीर जाय पर नीर पंक में
भनै भगवंत हनुमन्त कोपवंत भागी
भयतन माह ढकी रावन के पक में
मचौ खलबल्ला आग लागी है दहल्ला
एकै वचो है विभीषण महल्ला एक लंक में

१२

जरी जातुधानी राजधानी जोरा जोम जरी
जरी जगजीत की पताका जो प्रवन्ध की
जरी जर जरी साज जरत जलूसन की
जरत जराय जरी लंक दसकंधा की
जरी बलरास बुद्धि रास छल रास जरी
वीर उन्मत्तता दसानन मदंध की
पौन के सपूत ही की नेक ना जरी है पूंछ
लंक के जरे ते जरी मूंछ दसकंध की

१३

प्यारो रामचन्द जू को दूत अनियारो वीर
जासौ बल वाजी लागी प्रभु के प्रमान की
भनै भगवंत लागी रावनै उदासी लागी,
देवन सुवासी होत हाँक हनुमान की
वढ़ि के अकास लागी, पूँछ में न आँच लागी
आगि लागी देख भागी भीर जातुधान की
मय सुतै संक लागी दौरि पति अंक लागी
लंक लागी जरन, जुड़ान लागी जानकी

१४

मेरु लागे हलन सुमेरु नखसिख हलो
महि लागी डुलन थको है रथ भान को
फरकी कमठ-पीठ करकी बराह डाढ़ै
सेस के सहस फन, अकह कहान को
डिगे दिगपाल, वसु लोक लोक लोकन के
भनै भगवंत बल टूटो असुरन को
संकौ कुंभकरन, उढंको हियो रावन को
लंक हहलानी डंका सुने हनुमान को

१५

येही पौनपूत मजबूत रजपूत येही
अक्ष को निहता कै निहंता जातुधान को
भनै भगवंत याहि समर जितैगो कौन
गारो है गरव इन्द्रजीत से महान को
भागो भागो भागो मनुजाद कहै आयो आयो
आयो कपि वीर रामचन्द्र से महान को
मचौ खलमल्ला हली लंक ज्यों बहल्ला,
होत रावण महल्ला पर हल्ला हनुमान को

१६

समर सपूत मजबूत अंजनी के पूत
सदा रजपूत पुरहूत के समान को
वीरवर बंका निरशंका है तमंका मांझ
लंका मान शंका गयो गरब दिसान को
भनै भगवंत सब राक्षस कहै हे अब,
आयो है निहंता कपि अक्ष से दिमान को
महि से उछल्ला वीर सब दल मल्ला
आज रावण मुहल्ला पर हल्ला हनुमान को

भगवंतराय की प्रकीर्ण रचनाएँ

गजेन्द्र-मोक्ष

१

ग्राह गहे गैवर पुकारिवो बिचार्‌यो जब,
जान्यो दीनबंधु कहूँ दीन कोऊ दलिगो
जैसे हुते तैसे उठि धाए करुना के सिंधु
अस्त्र शस्त्र वाहन बिसारि कै निकलिगो
कहै भगवंत पीछे-पीछे पच्छिराज धाए
आगे प्रति पच्छि छोड़ि आतुरै उछलिगो
जौलौं चक्रपानि चक्र चाह्यो है चलाइबे को
तौलों ग्राह ग्रीव पै अगाउ चक्र चलिगो
(शिवसिंह सरोज)

सूर्य की स्तुति
(ध्रुपद पड़ा छन्द)

२

जयति जय बलि सूर सूरज, जय तिजय दिवाकर तेज महिमा करन
तेज महिमा अमित अमित नछत्र दल बल सकल बैरि तम हटक,
फट पल सकल
सरन है राय भगवंत बलवंत तूँ, राज विद्या महाशक्ति गौरव भरन ॥
(भगतजी व्यास से प्राप्त)[1]

३

चलु री सयानी तू सिगारी सकलाज आज
मानी बात तेरी नेक गाति मद मान दे
नूपुर उतारि छोरि किंकिनी धरन दीजै
नैन मैं नींद नारि नर के समान दे
तू तौ कर धीर गौनों नै तो मनौं चोर
जौलौं नारी भगवंत जू को चित ललचान दे
छपा को छपाय छवि जान दे छपाकर को
आऊँगी कन्हैया पै जुन्हैया नेक जान दे
(शिवसिंह सरोज)

---

१. इनके पास कुछ और छन्द हैं पर उन्होंने उन्हें लिखने से इन्कार किया।

४

बदरान होंहि दल आए मैन भूपति के
बुँदिया न होंहि एरी वान झरलाई है
दादुर न होंहि ए नकीव चहुँ ओर बोलैं
भोर ए न होंहि हाँक सूरन सुनाई है
बकुला न होंहि सेत धुजा भगवंत सिह
चपला न होंहि समसेरैं चमकाई हैं
बालम विदेस याते विरहिन मारिवे कौ
जुगुनू न होंहि काम अगिनि जगाई है।
(अलंकार रत्नाकर तथा दिग्विजय भूषण)

५

रैन की उनींदी राधे सोवति सवारो भए,
झीनो पट तानि रही पायनते मुखतें
सीसते उलटि बेनी भाल ह्वै कै उर ह्वै कै
जानु ह्वै कै छविन सों लागी सूधै रुखतें
सुरति समर रति यौवन के महा जोर,
जीति भगवंत अरसाय रही सुखतें
हरि को हराय मानो मैन मधुकरन की
धरी है उतारि जेह चंपे के धनुप तें
(शृंगार-संग्रह एवं अलंकार-दीपक)

६

पीक ही की लीक उरलीक सी लगी है यह
लाल लीक मेरी तुम और रस पागे हौ
आरसी लै देखो नेक, आरसी भयो है कहा
आरसी लगत मुकुरत मेरे आगे हौ
कपटी महाउर, महाउर ते जानियत
पाँय परसत जाउ जाके पाँय लागे हौ
भोर होत आये भगवंत मोंहि भोरवन
कौन पतिनी के पति नीके संग जागे हौ।
(दिग्विजय भूषण तथा शृंगार संग्रह)

७

नीति का सवैया

कट्टरो ताजिनो वीनना वाजिनो,
भिक्षु के लाजिनो भाजिनो देवा
पूस के मास में फूस को तापनो,
भूत को- जापनो झाँझरी खेवा
हैं भगवंत इते नहिं काम के,
राम के नाम को होहि न लेवा
साधु को लूटनो, धर्म को छूटनो
घूम को घूटनो, सूम की सेवा।

(दिग्विजय शृङ्गार संग्रह एवं सरोज०)

परिशिष्ट—२

भगवंतराय के प्रति की गई मंडल के कवियों की प्रकीर्ण रचनायें

इंद्र कवि

(१)

चढि बाजि जही भगवन्त वली रन हेतु कराल कृपान बढ
उत ते करि रेले महा बलसो, मन कोपि सहादत खान बढ
करखा रव भरहि ओर दोऊ, कवि 'इन्द्र' सु बंदिन वृंद पढा
धरि बाग उछालि दिये तबही, निज पाय तुरंग मतंग चढ़ा

(२)

आतुर चढत भये ऊपर गिरीन 'इन्द्र'
शृंग दौरि कै दरीन कुंज पेलिगो
ग्राम पुर छाँह छाँह सहर मझाइ सब
नदी नद तीर कै नदीस पार हेलिगो
ठेलिगो पताल अरु रेलिगो अकास बहु

× × ×

दान औ कृपान जस भूप भगवंत कर
आस दस भाँति यहि, आँसु महि फैलिगो
(असोथर में प्राप्त)

कंठ कवि

(३)

वाकी ज्यों प्रदच्छिन दौ, कटक सजाय याको
काट काढ्यो फलक में, फते वंर हद की
वामे कर जोर यासो करन दो जोर
खीची करन मो वढ़ी रजपूती हद मद की

महाबली भगवन्त 'कंठ' कवि कहै याते
तोही पै रही है आज लाज हिंदु पद की
दिल मों भगति रामचन्द्र की करन
अरु तेग मों भगति करी राव रामचन्द्र की
(असोथर में प्राप्त)

उदयनाथ कवीन्द्र

(४)

धुक्कत अचल अरि लुक्कत उलूकन लौं
मुक्कत किलेन के हुँकार नद वेस के
भनत 'कवीन्द्र' तहाँ कै सकें सवासे कौन
कंपत अवासे अलिकेस के लकेस के
जीति कै जहूर साज फौजन के अग्रवाजे
भारे भगवंत के सवारे बल देस के
दरजे दिल्ली के उमरावन के उर पारे
गरजे नगारे गाजीपुर के नरेस के
(शृंगार संग्रह)

चतुरेश

(५)

आठ कोस असनी भिटौरा है नवें कोस
पाँच कोस किसनपुर एक डला के पास है
तीस कोस कानपुर फतूहाबाद बारा कोस
बीस कोस चित्रकूट, जहाँ राम दास है
तीस कोस प्रागराज कासी है साठ कोस
डेढ़ कोस सूर्यसुता करन पाप नास है
खीची भगवंत भूप मेरो चतुरेस नाम
गाजीपुर परगना असोथर में बास है ।

(६)

जहाँ छूटत जमुरके जात क्रूर जन सुर के
मारे धूम धुवाँ धुरके लागे नगनि छितान

जहाँ लै लै करवालैं, एक एकन पै घालैं
चलै बरछी साँग भाले, युद्ध भयो वे प्रमान
जहाँ लागे गिरैं मुंड, अति रुण्डन पै रुण्ड
चतुरेशजी वितुंड विना शुंड बितरान
जहाँ तेज के निधान भिरे भीम के समान
खैंचि म्यान ते कृपान, पिले गाजीपुरी ज्वान

(७)

जहाँ कायर भगाने उद्भट लपटाने
वीर वीर सरसाने लाज राखी हिन्दुस्थान
जहाँ पसरे मरद् पिलैं सन्मुख द्विरद्
मूंदे तरनि गरद् लागे धौंसा घहरान
तहाँ तीर गोली बरसत, देखि हर हरसत
परे फर फरकत मुगल पठान
जहाँ खीची कुलचन्द हरिकेश फरचन्द
जोर भूप भगवन्त, वीर वाहि किरवान

(८)

जहाँ जोगिनी समूह गान करत अमूह
जुरैं वीरन के जूह, जेहि समर डेरान
जहाँ मारे बरछानन के गोली तीर बानन के
और फरसानन के भयो घमसान
जहाँ राजत द्विरद् मद झरत विहद्
चतुरेश जू गरद् उड़ि लागी आसमान
तहाँ तेज के निधान भिरे भीम के समान
खैंचि म्यान ते कृपान पिले गाजीपुरी ज्वान

(९)

जहाँ तजि के कपट जब चलत झपट्ट
देत दुवन दवट्ट भयो धुवाँ घमसान
जहाँ कूदत भुशुंडी आय नाचे पंच मुण्डी
अरि भागत वितुण्डी मारु माची बुगदान
जहाँ तेग की चमक्क बछिन को धमक्क
चतुरेश जू गमक ढाढ़ी गावैं करखान

तहाँ तेज के निधान गिरे भीम के समान
खैंचि म्यान तें कृपान, पिले गाजीपुरी ज्वान।

(१०)

जहाँ आए दल बद्दल बिहद्द मुगलद्द
तुरुरिगे तुरद्द दुहूँ दलनि अमान
जहाँ बोलत बिरद्द वीर रंग में गरद्द
उठी भूमि ते गरद्द फैलि रही आसमान
जहाँ फहरे निसान चमू छाई बरछान
महा मेघ से मतंग मेघ लागै बरसान
तहाँ तेज के निधान हनुमान के समान
खैंचि म्यान ते कृपान पिले गाजीपुरी ज्वान।

(११)

जहाँ तेज की चमक बरछीन की झपक
तोप तुपक धमक चलैं तीखे तीरवान
परी लुत्थन पै लुत्थ जहाँ सूरन के जुत्थ
रहे गुत्थ मुत्थ मार मार करै गान
गिरैं गिरि से बितुंड फरकत सुंड दंड
भूमि छाई रुंड मुंड करैं कौतुक मसान
तहाँ तेज के निधान हनुमान के समान
खैंचि म्यान ते कृपान पिले गाजीपुरी ज्वान।
(असोथर में शिवनारायणसिंह के संग्रह से)

नेवाज

(१२)

जाके तेज भर से पतंग से अमीर होत
लोहे की लपट तोहि लागत हुलासी है
जवन दयंतन के जोन को मिलाइवे को
निरखी 'निवाज' तोपैं काँध की कला-सी है
मदन के मुकुत को भूप भगवंत, तेही
तीरथ सो गंगा यमुना को बीच वासी है

तेरो तीर मानो मथुरा को यमुना को तीर
मारिवे को वैरिन कृपान मानो कासी है।
(शृंगार सग्रह)

(१३)

(शिवसिह सरोज मे नेवाज का निम्न कवित्त दिया गया है जो शृंगार संग्रह मे हेम कवि के नाम मे है)

पारथ समान कीन्हो भारत मे आनिवान,
बाँधि सिर बाना ठान्यो समर सपूती को
कोरि-कोरि कटि गयो हटि कै न पग पाछे
दयो, लीन्ह्यो रणजीति कै कि सान करतूती को
भनत नेवाज दिल्लीपति सो सहादतखाँ,
करत वखान ऐसी मान मजबूती को
कतल मरद्द नद्द शोणित सो भरि गयो
करि गयो हद्द भगवन्त रजपूती को।

पाठान्तर की दृष्टि मे शृंगार संग्रह का कवित्त इस प्रकार है :

पारथ समान कीनो भारत मही मे आनि
बाँधि सिर बाना ठान्यो समर सपूती को
कोरि-कोरि कटि गयो हटि के न पगु दीनो
लीनो रण जीति किरपान करतूती को
'हेम' कवि कहे दिल्लीपति सो सहादतखाँ
करत वखान एती मान मजबूती को
कतरि मरद्दि नद्द भरि शोणित सो
हद करि गयो भगवन्त रजपूती को ।

अमेथर के शिवानारायण सिह के सग्रह मे यही कवित्त 'क्षेम' नाम के कवि का लिखा है। हो सकता है हेम को लिपिक ने क्षेम लिख डाला हो।

(१४)

पारथ समान कीन्हो भारत मही मे आनि
बाँधि मुरबाना ठान्यो समर सपूती को
कोरि-कोरि कटि गयो हटि कै न पाँव दीनो
कीन्हो सफे जग किरवान करतूती को
कहै 'क्षेम' कवि दिल्लीपति सो सहादतिखाँ
करत वखान ऐसे मान मजबूती को

कतरि मरट्ट करि, नट्ट भरि शोणित सों
हट्ट करि दियो भगवन्त रजपूती को ।

(१५)

(असोथर में नेवाज कवि के नाम से लोग इस छंद को याद किया करते हैं :)

दिल्ली-दरबार सों भाखैं नेवाज अनाहक कीन्हों जंजाल जिया को
नाहर सों गरजे रन में लखि वाको बुन्देल बड़ी पतिया को
मारि बरच्छन पंचम को छलनी भगवन्त कियो छतिया को
मारो कुमार दलपतराय को दीन्हों बुताय दिया दतिया को

भूधर

(१६)

उठि गयो आलम सों रुजुक सिपाहिन को
उठि गए बँधैया सबै बीरता के बाने को
भूधर भनत उठि गयो है धरासों धर्म
उठिगो सिंगार सबै राजा राव राने को
उठिगो सुकवि शील, उठिगो मजीलो डील
फैल्यो मध्यदेस मे समूह तुरकाने को
फूटे भाल भिक्षुक के, जूझे भगवन्तराय
अरराय टूट्यो कुल खंभ हिन्दुवाने को
(भूषण—विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित)

(१७)

म्यानहिं कढ़त भूत अफरे अहार पाय, हार पाय हरपि महेश आय नचिगे
गाइ-गाइ वरन वराङ्गना वरन लागी, चहलैं सकल श्वान चरबी के मचिगे
भूधर भनत मारे मुगल पठान सेख, सय्यद अमीर भूप धीर केते पचिगे
राय भगवन्त जू के खग्ग मुख खेत आयि, खपते महादन से खेम ओट बचिगे ।

(१८)

दान गयो दुनी से गुमान पुरखानिन को
गुनिन के गाँठिन सों मानिक छूटिगो।
जूझे भगवंत जू के, धरम धरा सों गयो
सूर्य के सिंगारन से, सेन ऐसो फूटिगो।

भूधर भनत याही हूक होत हिए माँहि
कवि कविताई करिबे ते मन टूटिगो
जाचक की मंगा को पूर अब कौन करै
जो तो हतो भू मैं कलपद्रुम सो टूटिगो।
(अनोधर)

मल्ल

(१९)

नागर पराने गुनि चतुर पुराने
रस गज्जर कराने बिन जोर छोरि थाने के
कुमति संकाने छैलि छल के पयाने, अरि
सगरि भुलाने नर काँपे हरखाने के
मल्ल कवि हत जाने, बीर रस सरसाने
कीन्ही कुल भानु कोटि हिम्मत बखाने के
कंतन पुकारे सुकुमारी सुन सोर जब
दुंदुभी धुकारे भगवंत मरदाने के।

(२०)

आजु महाजनन को लुटिगो ख्या को सिन्धु
आजु ही गरीबन को सब नथ छुटिगो
आजु द्विजराजन को सकल अकाज भयो
आजु महाराजन को धीरज हू छुटिगो
'मल्ल' कहै आजु सब संगत अनाथ भये
आजु ही अनाथन को करम सब फूटिगो
सूर भगवन्त सुरलोक को पयान कियो
आजु कवि गनन को कलपतरु टूटिगो।

संभुनाथ

(२१)

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही
धौंसा की धुकार धूरि परी मुँह माही के
भय के अजीरन ते जीरन उजीर भये
सूल उठी उर मैं अमीर जाही ताही के

बीर खेत बीच बरछी लै बिरझानो जबै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के
भूप भगवंत बीर, ग्वाही कै कलक नव,
स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के।
(मिश्रबंधु विनोद)

(२२)

शृंगार संग्रह में इस कविता का पाठान्तर इस प्रकार है :
बावन हजारी ते अजारी से महिम गिर्यो
धौंसा को धमक धूरि परी मुह माही के
भय के अजीरन ते जीरन उजीरे भये
पीर उठी उर में अमीर जाही ताही के
बीर खेत बीच बिरझानि बरछी लै बीर
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के
भूप भगवंतराय ग्वाही कै ग्वलक नव
स्याही लाई बदन तमाम बादशाही के

(२३)

सुनि गल बल मुगलन के दलन को,
हरषि उठि दौर्यो बीर हरिबंस नंद है
माते-माते हाथिन के हौदा खंड-खंड कीन्हें
मारे बरछीन सो बिचारे बैरी वृन्द है।
भगवंत नाहर के पंजा ते निकसि 'संभु'
महलें महावत चले न छल छंद है
बोलत न डोलत न खोलत पलक जैसे,
सिंह के सनेटे दबि रहत गयंद है।

(२४)

सोहति है सुर श्री सरिता उत काटिबे को अघ पुंज निसैनी
राजति है रवि सों अति ही जमुना इत सूरज लोक निसैनी
दै कविराजन की मति संभु सरस्वति फैलि रही सुख देनी
श्री भगवंत लहे तेहि कंत भई सब अन्तरवेद त्रिवेनी।

(२५)

मुगल पठानन चन्देलन बुन्देलन को
फैल्यो दल मानो प्रलै को वारापार है
कीबे को दवाऊ हूलि आयो दतिया को राउ
साहन की सरम को जाके सिर भार है
भूप हरिकेश के कुमार के मुकाबिले में
जूझ्यो रामचन्द दलपति को कुमार है
राउ के डोलाए तें न डोल्यो भगवन्त जैसे
वायु के डोलाए से, न डोलत पहार है

(२६)

कैयक हजार असवार दावादार भिरे
भार बेसुमार सेसनागऊ दवाइगो
गोलन की धड़ा-धड़ी तेगन की तड़ा-तड़ी,
भालन की भड़ा-भड़ी सबद मुछाइगो
तेग को चढ़ाय रन-बीर भगवन्तराय
मारे उमराव सब लोह से अघाइगो
दतिया को राउ रामचन्द्र जब खेत आयो
दिल्ली वाले दलनि को दिया सो बुझाइगो
(असोथर में प्राप्त)

मतिराम या नाथ

(२७)

दिल्ली के अमीर दिल्लीपति सो कहत वीर
दक्षिण की फौज लैके सिहल दवाय हौं
जड़ाती जमेसन की जेर कै सुमेर हूलौं
संपत्ति कुबेर के खजाने ते कढ़ाइ हौं
कहै मतिराम लंकापति हू के धाम
जाइ, जंग जुरे यम हू को लोह सो बनाय हौं
आगि में जरैंगे कूदि कूप मे परैंगे
एक, भूप भगवंत की मुहीम पै न जाय हौं

शृंगार संग्रह में मतिराम के नाम से उद्धृत यह कवित असोथर में 'नाथ'

नाम के कवि का बताया जाता है। असोथर में इसका पाठ शुद्ध है, जिसमें तीसरी पंक्ति इस प्रकार है :

"कहै कवि नाथ लंकापति हू के धाम जाइ
जंग जुरे यम हू को लोह सों मनाइ हौं

(२८)

एक दूसरे स्थान पर यही कवित्त 'क्षेम' नाम के कवि की छाप से लिखा है :—

दिल्ली को वजीर दिल्लीपति सों कहत बीरे
दक्षिण को जाह कहूँ निहल दबाइहौं
जलाती जलेसर सौ जोर कै सुमेर हू ते
सम्पति कुबेर के खजाने ते कढ़ाइहौं
कहे 'क्षेम' कवि लंकापति हू के धाम जाय
जंग जुरि जमहू सों लोह को चबाइहौं
आगि में गिरेगे कूदि कूप में परैगे एक
भूप भगवंत के मुहीम पै न जाइहौं।

सारंग

(२९)

शुण्डन समेत काटि विहत मतंगन को
रुधिर सों रंग रणमण्डल में भरिगो
भूधर भनत तहाँ भूप भगवंतराय
पारथ समान महाभारत सो करिगो
मारे देखि मुगल तुराबखान ताही समै
काहू अस न जानी मानी नट सो उतरिगो
बाजीगर कैसी दगाबाजी करि बाजी चढि
हाथी हाथा हाथी ते महावत उतरिगो

अज्ञात

(३०)

(शृंगार संग्रह में कुछ अज्ञात कवियों के छंद भगवंतराय के लिए लिखे मिलते हैं—)

तोपैं लागी तरपैं चमाक चमकन लागे
धूम धार धुंधरिते यमुना किनारे मे

मारे वरछीन के विदारे समसेरन के
डूबि गयो रेत लोहू वहत पनारे मे
कूटि डारे कटक जवन की न जात वाँची
रोवति उजीर की जमाति यमद्वारे मे
खोजा की न खोज पाई, वीर की न कला पाई
खीची भगवंतराय खेल तनवारे मे

(३१)

वेगम विहाल भई जाँनिसारखाँ नवाब जू की
सोई हाल कीनो रामचन्द्र की बुंदेली को
मारि मुगलन को मिटायो मद-गंध फैल्यो
चहुँधा सुगंध जाकी जीति की चमेली को
ह्वै गयो फकीर कमरुद्दीखान सो उजीर
गरे डारि डोरा अपकीरति की सेल्ही को
थाह लै लै थकिगो मलाह लौ दिल्ली को कंत
पावत न अन्त भगवंत की दलेली को।

(३२)

सेना सोर सुने अनखान्यो खीची सरदार
दौरि अलगार उठि बारन कछू लई
सुनत नगारे हाँक दीनी तुरकन, धाव
दे वै को नृपति तत्रै गैल उत की लई
सिह लो झपटि नर सिह भगवंतराय
ऐसे ही सहादत पै पौच्यो जाय येवई
दृगनि ते पग आगे, पगनिते मन आगे,
मन, दृग, पगनि मे होड सी है ह्वै गई

(३३)

पावसेर लोहे ते हलाई सारी वादसाही
कठिन करारी काहू आछे कारीगर की
उचकि उचकि वाके दई, वाके दई
कडकि कटकि कडी तोडी वख्तर की
कितने सिपाहियो के घाव वोले भक भक
कितने सिपाहियो ने राह लई घर की
राजन के राजा महाराज भगवतसिह
हाथ की सफाई या सफाई जमधर की

अज्ञात

(३४)

राउ बुंदेल हरोल दिल्ली को, भयो है कहा यों भई मति याके
मामुहें हाँक दियो हथिया करि साहस वीर बड़ी छति याके
लै बरछी भगवंत नरेश पिल्यो अभिलाप फतूह थिया के
खेत तज्यो न अचेत भयो लगि दाँतन भूमि गही दतिया के

(३५)

जाको देश देशनि संदेसनि चलत जु, सुदेस हू
विदेश जाके भिक्षुक नरेश से
राख्यो नहिं लेश अरि कुल को कलेस दै दै
धरे नख केश दरवेश दर वेस से
खीची संभरेस महाराज हरिकेस जू के
चाकर दिनेश से मुसाहब है सेस से
साधक धनेश से सभागुरु गणेस से
सपूत है महेस से मुनाती अमरेस से
(यह 'देव' का लिखा हुआ है जो 'जयसिंह विनोद' में भी है।)

(३६)

समुद मुखान्यो आज सन्त जन मानिन के दीनन को देव दरखत उखरिगो
पुण्य प्रताप को प्रकाश ससि छीन भयो तरनीतम बीरेन सों भरिगो
कीन्हो विश्वनाथ विराम धाम आज कीरत को भाँडो भूरि भूतल से टरिगो
हरिगो गुनिन के गुनन को गुमान हाय, गुनिन को गाहक जहान से उचटिगो

(३७)

सिंह के सरिस सभासिंह के भवानीसिंह
साँगले सन्मुख नवाव के सिधारो है
छूटी तेग तोपें धमाके वीर बच्चों के
साचे राचे न हिला हजारों हनि डारे है
काहू साहू हाड़ा नाहिं ऐसी शक्ति कछवाहे मे
जैसी सवाई कौन धौमल चिकारो है
मारो है सहादतखाँ जानि के तुरावखाँ को
कुंवर भवानीसिंह आज लौ न हारो है

(३८)

गीधन के घर मंगलचार श्रोनित खाय के जोगिन नाची
भूप नवाब को लेत दवाय और गरीबन कोऊ बाँची
भागिबो होय तो भागि बचै नहि, भोर होत महाभारत माची
बेगम कहैं चलि भागि नवाब नहि भूप भगवंत से कोऊ न बाँची

परिशिष्ट—३

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रंथ

उत्तररामचरित	भवभूति
ऐतरेय ब्राह्मण	
काव्यादर्श	दण्डी
काव्य-मीमांसा	राजशेखर
तैत्तिरीय उपनिषद्	
नाट्यशास्त्र	भरतमुनि
नैषधीय चरित	श्री हर्ष
पृथ्वीराज विजय	जयानक
वराहोपनिषद	
बाल रामायण	राजशेखर
(श्रीमद्) भागवत	
भाव प्रकाशन	शारदातनय
भामिनी विलास	पंडितराज जगन्नाथ
महाभारत	
मेघदूत	कालिदास
याज्ञवल्क्य स्मृति	
रघुवंश	कालिदास
वाल्मीकीय रामायण	वाल्मीकि
विष्णु पुराण	
साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ
सामान्य विरुद लक्षणम्	रूप गोस्वामी
हर्षचरितम्	बाणभट्ट

हिन्दी ग्रंथ

ग्रंथ	संस्करण	लेखक
अशोक के फूल	द्वितीय संस्करण	हजारीप्रसाद द्विवेदी
अलबेरूनी का भारत (२)	द्वितीय संस्करण	अलबेरूनी (सन्तराम बी०ए० द्वारा अनूदित)
आल्ह खण्ड		नवल किशोर प्रेस लखनऊ द्वारा मुद्रित
औरंगजेब (१)	प्रथम संस्करण	सर जे० एन० सरकार (महाराज कुमार डा० रघुवीरसिंह द्वारा अनूदित)
उर्दू साहित्य का इतिहास (१)	प्रथम संस्करण	एजाजहुसेन
कवित्त रत्नाकर	चतुर्थ संस्करण	सेनापति (उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित)
कविवर बिहारी	प्रथम संस्करण	जगन्नाथदास रत्नाकर
काव्य-निर्णय	प्रथम संस्करण	भिखारीदास (जवाहरलाल चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित)
काव्य रसायन (२)	द्वितीय संस्करण	देव (जानकीनाथ सिंह मनोज द्वारा सम्पादित)
केशवदास	प्रथम संस्करण	चन्द्रबली पांडेय
घनानन्द	प्रथम संस्करण	घनानन्द (विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित)
चिन्तामणि	प्रकाशन तिथि १९५८	रामचन्द्र शुक्ल
चौहान कुल कल्पद्रुम	द्वितीय संस्करण (लुवाना मित्र स्टीम प्रिंटिंग प्रेस, बड़ौदा से प्रकाशित)	न्यायरत्न देसाई लल्लूभाई भीमभाई
छत्रप्रकाश	प्रथम संस्करण (ना० प्र० सभा ग्रंथावली में प्रकाशित)	गोरेलाल 'लाल'
दिग्विजय भूषण	प्रथम संस्करण	भगवतीप्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित
देव ग्रन्थावली	प्रथम-संस्करण	देव (कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित)